Ramkrishna Paramhansa Hindi translation by Dhanraj Vidyalankar and Raghuraj Gupta of the life of Swami Ramkrishna Paramhansa as told by Romain Rolland

Price Rs. 20 00

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

●

मूल लेखक : रोमां रोलां

●

अनुवादक
धनराज विद्यालंकार
सम्पादक
रघुराज गुप्त

●

तृतीय संस्करण : १९७८
आवरण-शिल्पी : शिवगोविन्द

●

लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

मूल्य : २०.००

आत्मा की इस तीर्थयात्रा मे मेरी विश्वस्त संगिनी,
जिसके विना इस दीर्घ यात्रा को समाप्त करना
मेरे लिए सभव न था, उस स्नेहमयी भगिनी
मैदालिन के चरणो मे अर्पित

रो० रो०, जनवरी १९२९

"महापुरुषो के उन जीवित जलाशयो पर, जिनमे शाश्वत शक्ति का निवास है, मनुष्य को विश्राम करना ही होगा, साँस लेनी होगी, एव स्नान करके व उनका पवित्र जलपान करके तरोताजा होना होगा। यदि मनुष्य-जाति की आदि जन्मभूमि मे, उन पर्वत-शिखरो पर, जिनके एक पार्श्व मे गगा व सिन्धु की जलधाराएँ प्रवाहित हो रही हैं और दूसरी तरफ मुरवुनी के सदृश ईरान की जलधाराएँ वह रही हैं—उन जलाशयो का पता न लग सके तो और कहाँ लग सकता है ? पश्चिम अत्यन्त सकीर्ण है। ग्रीस क्षुद्र है, वहाँ मेरा दम घुटने लगता है। इजराइल शुष्क प्रदेश है, वहाँ मैं हाँफने लगता हूँ। इसलिए मैं कुछ देर के लिए एशिया व महाप्राच्य की तरफ देखना चाहता हूँ। भारत महासागर के समान विशाल है। वही मेरा काव्य निहित है। उस महाकाव्य मे छन्दोभग नही है, स्वर की विषमता नही है, उसमे स्वरसगीत का स्वर्गीय माधुर्य है। वह सूर्य की सुनहरी किरणो की छटा से उज्ज्वल है, देवताओ के आशीर्वाद से विभूषित है। वहाँ निर्मल शान्ति का राज्य है, और सव विरोधो व सघर्षों के ऊपर एक अनन्त माधुर्य तथा असीम भ्रातृभाव विराजमान है, जो सभी जीवित प्राणियो तक फैला हुआ है। यह प्रेम, दया व करुणा का एक अगाध व असीम समुद्र है। मैं इतने दिनो से जिस वस्तु की तलाश मे था—आज वह मुझे प्राप्त हो गई है। यह करुणा की वाइविल है।"

मिशलेट . 'मानवता की बाइविल', १८६४

अनुक्रम

• • •

लेखक की भूमिका

इन दोनो ग्रन्थो[1] की रचना मे मैं निरन्तर रामकृष्ण मिशन से परामर्श लेता रहा हूँ। उन्होंने कृपा करके सब आवश्यक पुस्तको व अन्य लेख सामग्री के उपयोग का सुअवसर देकर मुझे अनुगृहीत किया है। विशेष रूप से मैं निम्नलिखित महानुभावो का ऋणी हूँ जिनसे मुझे अत्यन्त सहायता प्राप्त हुई है :—

सर्वप्रथम, वेलूर मठ के वर्तमान[2] श्रद्धास्पद प्रधान स्वामी शिवानन्द। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत स्मृति के आधार पर 'ठाकुर' के सम्बन्ध मे मुझे अनेक वहुमूल्य तथ्यो से अवगत किया है। दूसरे, ठाकुर के अन्तरग शिष्य तथा धर्मप्राण महेन्द्रनाथ गुप्त, इन्होने विनयवश अपना सम्पूर्ण नाम प्रकाशित न करके अपने नाम के 'म' इस आदि अक्षर से ही अपना परिचय दिया है। तीसरे, धर्मप्राण, ज्ञानवृद्ध तरुण श्रीमान् वशीसेन, जो कि सर जगदीशचन्द्र वसु के छात्र हैं और विवेकानन्द के भक्त हैं। आपने भगिनी क्रिस्टिनरचित अप्रकाशित स्मृति कथा को, उनकी अनुमति लेकर मुझे दिखाया था। वहिन क्रिस्टिन, वहिन निवेदिता के समान स्वामी विवेकानन्द के अनेक पाश्चात्य शिष्य व शिष्याओ में सर्वापेक्षा अन्तरग शिष्य थी। चौथी, मिस जोसेफिन मैकलियड, जो कि महान् स्वामीजी की कर्मशील और विश्वस्त वन्धु और अनुरक्त मित्र थी। पाँचवे, और सवसे अधिक, 'प्रवुद्ध भारत' पत्रिका के सम्पादक स्वामी अशोकानन्द,

१. रोलाँ ने रामकृष्ण एव विवेकानन्द इन दोनो महापुरुषो की जीवनी लिखी है।—अनु०

२ इस स्थल पर तथा इस पुस्तक के अन्य स्थलो पर भी 'वर्तमान' शब्द से सन् १९२८ ईस्वी का वोध करना चाहिए, क्योकि इसी सन् मे यह पुस्तक लिखी गई है।—अनु०

जिन्होंने मेरे अनेक अथक प्रश्नो का उत्तर देने मे कभी क्लान्ति का अनुभव नही किया, और प्रत्येक प्रश्न का उत्तर पूर्ण पाण्डित्य के साथ दिया। उनके द्वारा ही मुझे रामकृष्ण मिशन के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण तथ्यो का सग्रह करने का मौका मिला है।

श्रीयुत वनगोपाल मुखोपाध्याय और मेरे विश्वस्त मित्र डॉक्टर कालिदास का भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। श्रीयुत मुखोपाध्याय ने ही मुझे पहले-पहल श्री रामकृष्ण के अस्तित्व के बारे मे अवगत किया था और डॉक्टर नाग ने इस बारे मे मुझे अनेक बार अनेक परामर्श व उपदेश दिये हैं।

यदि मैं अपने इन निपुण पथदर्शको की सहायता को, अपने चिर आदरणीय भारतवर्ष तथा मानवता की सेवा मे उपयुक्त रूप से व्यवहार मे ला सकूँ तो मैं अपने आपको धन्य समझूंगा।

—रोमा रोलां

दिसम्बर, १६२८।

अपने प्राच्य पाठको से

'ज्ञानी के चरणो मे मेरा प्रणाम है, भक्त के चरणो में प्रणाम है, साकार-वादी भक्त व निराकारवादी भक्त, दोनो के चरणो मे प्रणाम है, पुरातन ब्रह्म-ज्ञानियो के चरणो मे प्रणाम है, इदानीतन सत्यज्ञानियो के चरणो मे प्रणाम है।'

(रामकृष्ण, २८ अक्टूबर १८८२)

यदि मुझसे प्रमादवश कोई भूल हो गई हो, तो भारतीय पाठकगण से मेरा हार्दिक अनुरोध है कि वे उसकी उपेक्षा करेंगे। इस गुरु दायित्व को वहन करने के लिए मैंने अकुठित भाव से कठोर परिश्रम किया है। परन्तु ऐसा होने पर भी भारतवर्ष की अनेक सहस्र वर्ष प्राचीन विचारधारा की सर्वथा सही अर्थों मे व्याख्या कर सकना एक योरोपवासी के लिए समव नही है। कारण, इस प्रकार की व्याख्या, प्राय. भ्रमात्मक हो सकती है। तथापि एक बात मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ, कि जीवन की विभिन्न प्रकार की समस्याओ के बीच प्रवेश करने के लिए मैंने विशुद्ध व विनयावनत चित्त के साथ जो प्रयास किया है, उसमे किसी प्रकार के कपट व कृत्रिमता का लेश नही है।

इसके साथ ही मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पश्चिमी देशवासी होने के कारण, जिस स्वतन्त्र विचार-बुद्धि का मेरे अन्दर जन्म हुआ है, उसका भी मैंने कणमात्र परित्याग नही किया है। सभी के विश्वासो के प्रति मैं श्रद्धा रखता हूँ, और प्रायः मैं उनको प्यार भी करता हूँ। किन्तु, मैं कभी भी उन्हे अपना मत नही कह सकता। श्रीरामकृष्ण को अपना अन्तरग अनुभव करता हूँ। इसका कारण यह नही है कि उनके शिष्यो के समान मैं भी उन्हे भगवान् का अवतार समझता हूँ। उसका कारण यह है कि मैं उनके अन्दर मनुष्य का दर्शन करता हूँ। वेदान्तियो के समान, आत्मा मे भगवान् वास करते हैं, और आत्मा सर्वत्र

विद्यमान है, इसलिए आत्मा ही ब्रह्म है, इस बात को स्वीकार करने के आग्रह मे मैं किसी भाग्यवान् पुरुष मे भगवान् को सीमाबद्ध करने का कोई प्रयोजन नही देखता। कारण, अज्ञात रूप मे ही सही, परन्तु यह आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का ही एक रूप है, इसलिए मैं इसे स्वीकार नही कर सकता। जो कुछ भी मौजूद है, मैं उसमे ही भगवान् को प्रत्यक्ष करता हूँ। अखण्ड विश्व के मध्य जिस प्रकार मैं पूर्ण भाव से उसका दर्शन करता हूँ, उसी प्रकार क्षुद्रतम खड के बीच भी मैं उसको देखता हूँ। मूल सत्ता के मध्य कोई भेद नही है और समस्त विश्व मे ही यह शक्ति अनन्त व सीमाहीन है। सामान्यतम परमाणु के बीच जो शक्ति गुप्त रूप से विद्यमान है, उसे यदि हम केवल एक मात्र जान सके, तो उसके द्वारा ही समस्त विश्व को उडाकर ध्वस कर सकना समव है। भेद केवल यही है कि यही शक्ति अल्पाधिक रूप मे मनुष्य के विवेक मे, अहम् मे, शक्ति की इकाई मे निहित है। श्रेष्ठतम मनुष्य भी उस सूर्यालोक के ही स्वच्छतर व स्पष्टतर प्रतिबिम्ब मात्र हैं, जो प्रत्येक ओस के कण मे झिलमिल करता है।

इसलिए ही मैं आध्यात्मिक महापुरुषो के और उनके पूर्ववर्ती व समसामयिक हजार-हजार अज्ञातनामा सहयात्रियो के बीच किसी प्रकार का कोई भेद-भाव नही देख पाता हूँ। भक्त लोग अवश्य इस प्रकार के पवित्र भेद को मानकर चलना पसन्द करते हैं। आत्मा की जो विपुलवाहिनी युग-युग से अभियान करती चली आ रही है, उससे मैं जिस प्रकार बुद्ध व ईसा का तिल मात्र पृथक् करके नही देखता हूँ, उसी प्रकार रामकृष्ण व विवेकानन्द को भी अलग नही देख पाता। गत शताब्दी के नवजागृत भारत मे जिन समस्त प्रतिभावान् व्यक्तियो ने जन्मलाभ करके, अपने देश की प्राचीन शक्ति को पुनर्जीवित किया है, देश मे सर्वत्र विचार के वसन्त की बहार लाये हैं, इस पुस्तक मे मैं उन्हे यथायोग्य स्थान देने का प्रयत्न करूँगा। उनमे से प्रत्येक का ही कार्य निर्माणशील था। और उसमे से प्रत्येक को कुछ विश्वासी मनुष्यो के दल ने घेर लिया था,—जिन्होंने अपना अलग-अलग एक-एक सम्प्रदाय खडा कर लिया और अज्ञात रूप मे यह सोचने लगे कि यह सम्प्रदाय ही वह मन्दिर है, जो एकमात्र श्रेष्ठतम देवता की अधिष्ठान-भूमि है।

इस दूर प्रदेश मे मैं उनके उस पार्थक्य व अनैक्य के सग्राम की धूलराशि को प्रत्यक्ष नही करना चाहता। इस दूर देश मे उनकी वह काँटेदार बाडे मुझे दृष्टिगोचर नही होती। दिखलाई देता है, केवल एक अनवरुद्ध, विशाल व विस्तृत मैदान। दिखलाई देती है, निरवच्छिन्न निरवधि एक नदी, पास्कल के शब्दो मे

"गतिशील पथ (chemin qui marche)"—जिस ईश्वररूपी महानदी मे सब नालो व नदियो का महासगम होता है, उसकी श्रीरामकृष्ण ने औरो की अपेक्षा अपने मन मे पूर्णतर रूप से कल्पना ही नही की है, उसने अपने अन्दर उसकी साक्षात् अनुभूति की है। यही कारण है कि मैं उसे प्रेम करता हूँ, और इसीलिए मैंने उसके अन्दर से कुछ विशुद्ध जल, पृथ्वी की महातृष्णा को दूर करने के लिए आहृत किया है।

किन्तु मैं इस नदी के किनारे पर ही घुटने टेककर न बैठा रहूँगा। मैं इस नदी की धारा के साथ-साथ सीधा समुद्र को लक्ष्य करके अविराम यात्रा करूँगा। इस नदी के प्रत्येक मोड पर, जहाँ पर कि मृत्यु ने हमारे अन्यतम पथ-प्रदर्शक नेता को आह्वान करके वही पर रुकने का आदेश किया था, मैं अपने सहयात्रियो की श्रद्धालु मण्डली को पीछे छोडकर आगे बढता चला जाऊँगा, मैं धारा के प्रवाह के साथ-साथ चलूंगा और उसके निर्गम-स्रोत से लेकर सगम तक उसे अर्घ्य प्रदान करूँगा। नदी का निर्गम स्थान पवित्र है, इसका प्रवाह पवित्र है, इसका सगम-स्थल भी पवित्र है। और हम इस नदी मे, इससे मिलने वाले छोट-बडे नालो मे, और इस महासमुद्र मे भी—जीवित भगवान् की गतिमान् मूर्ति का आलिगन करेगे।

विलेन्यू, क्रिस्मस, १९२८। —रो० रो०

पाश्चात्य पाठको के प्रति

मैंने अपना समस्त जीवन मानव जाति मे मेल साधन के लिए समर्पित कर दिया है। योरोप की विभिन्न जातियो मे विशेषतः योरोप की दो श्रेष्ठ जातियो मे, जो कि भाई-भाई होते हुए भी परस्पर शत्रु हैं, मेल कराने के लिए मैंने भरसक चेष्टा की है। इसी प्रकार गत दस वर्ष से मैंने पूर्व और पश्चिम मे समझौते के लिए भी पूरी कोशिश की है। भूल से पूर्व व पश्चिम के जिन दो विरोधी आदर्शों का—तर्क व विश्वास का—परन्तु जो वास्तव मे विरोधी न होकर दो विभिन्न आदर्श हैं—अनुयायी समझा जाता है, मैं उनमे भी मेल स्थापित करने की इच्छा रखता हूँ, कारण पूर्व और पश्चिम दोनो देशो मे ही विश्वास और तर्क इन दोनो विभिन्न आदर्शों को समान रूप से ही ग्रहण किया जाता है, यद्यपि कुछ व्यक्ति इस बारे मे सन्देहशील हैं।

हमारे युग मे आत्मा के इन दो अर्वांशो के बीच एक विचित्र वाहियात भेद खडा कर दिया गया है, और यह मान लिया गया है कि इनमें मेल असभव है। इसका कारण केवल हमारी दृष्टि की सकीर्णता है, जो कि उन दोनो पक्षो मे, जो इन आदर्शों के प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं, समान रूप से विद्यमान हैं।

एक तरफ वे लोग, जो अपने को धार्मिक कहते हैं, अपने-आपको अपने धर्म-मन्दिर की चारदीवारी के अन्दर कैद किए रहते हैं, और न केवल उससे बाहर आने से ही इकार करते हैं (ऐसा करने का उनका अधिकार है), अपितु यदि उसका वश चले तो वे उस चारदीवारी से बाहर रहनेवालो को जीवित रहने के अधिकार से ही वचित कर दे। दूसरी तरफ, तर्कवादी स्वतन्त्र विचारक लोग, जिनके अन्दर किसी प्रकार की धार्मिक भावना का एक प्रकार से

सर्वथा अभाव है, (जिसका कि उन्हे अधिकार है) धार्मिक आत्माओ के विरुद्ध लड़ना ही अपने जीवन का एक मुख्य व पवित्र लक्ष्य समझते हैं और उन्हे जीवित नही रहने देना चाहते। इसका परिणाम मनुष्य के पक्ष मे धर्म को बाकायदा नष्ट करने का निरर्थक तमाशा होता है। वे यह नही देख पाते कि वे उस वस्तु पर आक्रमण कर रहे हैं, जिसे कि वे समझ नही पाते। उन ऐतिहासिक व तथाकथित ऐतिहासिक पुस्तको के आधार पर जो कि बहुत काल गुजर जाने के कारण सर्वथा निर्वीर्य हो चुकी हैं, और जिनके ऊपर काल की काई जम चुकी है, धर्म की आलोचना करना उसी प्रकार निरर्थक है, जिस प्रकार कि उन शारीरिक अवयवो के छेदन से, जिनके द्वारा मानसिक क्रियाएं प्रवाहित होती हैं, आन्तरिक मानसिक तथ्यो की व्याख्या असभव है। मेरा ख्याल है कि जिस प्रकार प्राचीन समय मे प्रायः सभी धर्मों ने जादू-शक्ति तथा उसको अभिव्यक्त करने वाले शब्द, अक्षर व वर्णों को एक समझकर एक प्रकार की भूल की है, उसी प्रकार आजकल के युक्तिवादियो ने विचार-शक्ति तथा उनकी अभिव्यक्ति मे भेद न करके एक भ्रम को जन्म दिया है।

किसी धर्म को जानने, समझने व उसके बारे मे निर्णय करने अथवा यदि आवश्यकता हो तो उसको दोषी ठहराने के लिए सबसे पहली शर्त धार्मिक चेतना के सम्बन्ध मे व्यक्तिगत रूप से परीक्षण करना है। और तो क्या, जिन्होंने धर्म को पेशे के रूप मे ग्रहण किया है, उनमे से भी सबको धर्म के बारे मे सम्मति देने का अधिकार नहीं है। कारण, यदि वे वस्तुतः निष्कपट व सच्चे हैं, तो वे यह स्वीकार करेंगे कि धर्म का पेशा और धर्म-चेतना यह दो पृथक् वस्तु हैं। बहुत से ऐसे श्रद्धेय पादरी व धर्मयाजक हैं, जो कि केवल परम्परावश या किसी स्वार्थ-वश या सिर्फ आलस्यवश ही धर्म मे विश्वास रखते हैं, उन्होने धार्मिक अनुभूति की या तो कभी आवश्यकता ही अनुभव नही की और या पर्याप्त चरित्र-बल न होने के कारण वे उसे पाने से कतराते है। इसके विपरीत बहुत से वे व्यक्ति हैं, जो सब धार्मिक विश्वासो से रहित हैं, अथवा अपने-आपको उनसे रहित समझते हैं, किन्तु वास्तव मे वे एक अति-तार्किक चेतना मे निमग्न रहते हैं, और उस चेतना को वे समाजवाद, कम्यूनिज्म, मानव-हितवाद, राष्ट्रीयतावाद और यहां तक कि बुद्धिवाद की सज्ञा देते हैं। जिस वस्तु के बारे मे विचार किया जा रहा है, उस वस्तु से नही, अपितु किस प्रकार विचार किया जाता है, इसके द्वारा ही विचार के मूल का निर्धारण होता है और इसके द्वारा ही हम यह जान सकते हैं कि कौन-सा विचार धर्ममूलक है। यदि कोई विचार किसी

प्रकार की भी क्षति की परवाह किये बिना, निर्भीक रूप मे एकान्त एकाग्रता के के साथ स्वार्थरहित होकर सत्य की खोज मे अग्रसर होता है तो उस विचार को ही मैं धर्ममूलक कहता हूँ। कारण, यह मानवीय प्रयत्न के एक ऐसे लक्ष्य मे विश्वास की पूर्व कल्पना करता है, जो कि व्यक्ति के जीवन से ऊँचा है, अनेक समय प्रचलित समाज के जीवन से भी ऊँचा है, और यहाँ तक कि समग्र मानवता के जीवन से भी अधिक ऊँचा है। और तो क्या, सशयवाद भी जब किसी शक्तिशाली मानव के अन्तस्तल से निर्गत होता है, जब वह दुर्बलता का सूचक न होकर शक्ति का द्योतक होता है, तो वह भी धार्मिक आत्माओ की महती सेना के अभियान मे सम्मिलित हो जाता है।

दूसरी तरफ गिरजाघरो मे हजारो भीरु विश्वासी व्यक्ति एकत्रित होते हैं, वे चाहे धर्मयाजक पादरी हो या साधारणजन हो, परन्तु वे धार्मिक कहलाने के योग्य नही होते। वे इसलिए विश्वास नही करते, क्योकि उन्होंने अपनी स्वतन्त्र इच्छानुसार विश्वास करना पसन्द किया है, अपितु इसलिए विश्वास करते हैं, क्योंकि वे उस घुडसाल में बँधे हुए है, जहाँ पर कि अनायास लब्ध विश्वास के दाने व चारे से भरी हुई नाँद जन्म से ही उनके सम्मुख रहती है, और उन्हें उसकी जुगाली के सिवाय और कुछ कार्य नही है।

ईसा के सम्बन्ध मे यह करुण कथा प्रचलित है कि 'वह ससार के अन्त तक वेदना का भार वहन करेगा।' किसी वेदना को वहन करने वाले परमात्मा मे विश्वास करना तो दूर की बात है, परन्तु मैं तो किसी देहधारी परमात्मा मे ही विश्वास नहीं करता। परन्तु मेरा विश्वास है कि सुख दु.ख सहित प्रत्येक वस्तु, जिसका कि अस्तित्व है, उसमे और प्रत्येक प्रकार के जीवधारियो, मनुष्य जाति और मनुष्यो मे, और समस्त विश्व मे केवल वही परमात्मा है, जो निरन्तर जन्मशील है। क्षण-क्षण मे नई सृष्टि का निर्माण हो रहा है। धर्म कभी पूर्ण नही होता। यह अविराम कर्म है, अविराम संघर्ष की कामना है—एक जलप्रपात की निरन्तर प्रवहमान धारा है, एक बद्ध जलाशय नही है।

नदियो के देश मे मेरा जन्म हुआ है। मैं उन्हे जीवित प्राणियो के समान ही प्यार करता हूँ, और मेरे पूर्वज इन नदियो को सुरा व दुग्ध की अजलि क्यो प्रदान करते थे, इसे मैं अच्छी तरह समझता हूँ। और सब नदियो मे पवित्रतम नदी वह है, जो कि आत्मा के अन्तरतम प्रदेश से, आत्मा की चट्टानो, बालू व हिमशैलो मे अनन्तकाल से प्रवाहित हो रही है। उसी मे वह आदिमतम शक्ति निहित है, और उसे ही मैं धर्म कहता हूँ। सब पदार्थ इसी आत्मा की स्रोत-

स्वनी के अन्तर्गत हैं। यह आत्मा की स्रोतस्विनी हमारी सत्ता के गम्भीर अगाध रस-भण्डार से निःसृत होकर, अनिवार्य ढलानो को पार करती हुई उसी चिन्मय, अनुभूत नियन्त्रित व समाधिमय महासत्ता के समुद्र मे विलीन हो जाती है। और जिस प्रकार नदियो के शून्य जल-भण्डार को पूर्ण करने के लिए समुद्र का जल घनीभूत होकर वाष्प बनकर मेघो के रूप मे आकाश मे एकत्र हो जाता है, सृष्टि का यह अविराम चक्र भी ठीक इसी प्रकार घूमता रहता हैं। मूल स्रोत से महासागर तक, और महासागर से मूल स्रोत तक यह सब एक ही शक्ति है, एक ही सत्ता है—जो अनादि और अनन्त है। इस सत्ता को भगवान् (और कौन-सा भगवान् ?) कहे या शक्ति (और कौन-सी शक्ति ?) कहे, इससे मुझे कोई प्रयोजन नही है। इस सत्ता को प्रकृति भी कह सकते हैं, (परन्तु यह किस प्रकार की प्रकृति है, जब कि इसमे आत्मा की शक्तियाँ भी विद्यमान हैं ?) शब्द ! शब्द ! शब्दो के सिवाय यह और कुछ नही है। एकता, अमूर्त एकता नही, अपितु प्राण-मय जीवित एकता, यही इस सबका सार है। इस एकता का ही मैं पुजारी हूँ, और यही वह एकता है जिसकी सब धार्मिक विश्वासी, और वे सब सशयवादी भी, जो ज्ञात या अज्ञात रूप मे अपने अन्दर इसे वहन किये हुए हैं, समान रूप से पूजा करते हैं।

वह अदृश्य, सर्वव्यापिनी महादेवी—जिसने अपने सुवर्ण बाहुपाश मे बहुरूप-मय, बहुवर्णमय, बहुस्वरमय सगीत को आहृत किया है—उस एकता रूपी महादेवी के चरणो मे मैं इस नूतन ग्रन्थ को समर्पित करता हूँ।

नव जागृत भारत मे लगभग एक शताब्दी से समस्त लक्ष्यवेधियो का यह एकता ही लक्ष्य-बिन्दु रहा है। इस समस्त शताब्दी मे भारत की पुण्यभूमि से बहुत से अग्निगर्भ तेजस्वी महापुरुषो का जन्म हुआ है—अजस्र मानवता व विचार की जाह्नवी धारा का अभ्युदय हुआ है। उनमे और चाहे जो भी विभि-न्नता व मतभेद रहे हो, परन्तु उनका लक्ष्य एक ही रहा है—और वह भगवान् के द्वारा मानवता का मिलन है। और इस एकता के साधको मे जितना ही परिवर्तन हुआ है, उतना ही इस एकता का विस्तार हुआ है और वह अधिक स्पष्टतर हो गयी है।

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक यह विराट् आन्दोलन प्रतीच्य और प्राच्य, युक्ति और विश्वास के ऊपर पूर्णतया समान रूप से आश्रय करके सहयोग के रूप मे ही सगठित हुआ है और यह विश्वास अवश्य ही वह विचारशून्य अन्ध स्वीकृति मात्र नही है, जिसका कि गुलामी के युग मे पददलित निर्वीर्य जातियो के बीच विचारहीन अन्ध स्वीकृति की भावना से जन्म हुआ है—अपितु यह विश्वास एक

जीवित व ज्ञानमय अन्त· अनुभूति है, यह साइक्लप्स[1] के तृतीय नेत्र के समान है, जो अन्य दोनो नेत्रो को अर्थशून्य नही बनाता, अपितु उन्हे पूर्णता प्रदान करता है।

इन आध्यात्मिक महापुरुषो[2] के शानदार जुलूस मे से (जिनके बारे मे मैं आगे चलकर आलोचना करूँगा) मैंने केवल दो महापुरुषो को चुना है, जिन्होंने अतुलनीय शक्ति व सौन्दर्य के द्वारा विश्वात्मा की इस अनुपम स्वर-संगति को उपलब्ध किया है, और इसी लिए जिनके प्रति मेरा हृदय विशेष रूप से श्रद्धान्वित है। उन्हे इस स्वर-सगति के मोज़ार्त[3] व बियोवन[4] कहा जा सकता है—वे देवाधिदेव[5] और वज्रधारी देवराज—रामकृष्ण और विवेकानन्द हैं।

इस पुस्तक[6] के आलोच्य विषय तीन हैं, अथवा एक भी कहा जा सकता है। हमारे युग मे हमारे समक्ष उद्घाटित दो असामान्य जीवनो की कहानी इसमे वर्णित है। उस कहानी का अर्ध अंश दन्तकथाप्रधान है, और अर्धांश एक महाकाव्य के रूप मे है। और उसके साथ उस महामहिमान्वित विचारधारा का वर्णन है, जो कि जहाँ एक तरफ धार्मिक व दार्शनिक है, वहाँ दूसरी तरफ

---

१ दन्तकथाओ मे वर्णित राक्षसो की एक जाति का नाम है। यह सिसिली द्वीप के निकट रहती थी, और यह कथा प्रचलित है कि इनके ललाट के बीच एक नेत्र होता था।

२ इस खण्ड का छठा अध्याय 'एकता के निर्माता' देखिए—(राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द)। और इसके साथ 'रिव्यू योरोप' पत्रिका के १५ दिसम्बर, १९२८ के अक मे 'अग्रगामी भारत' शीर्षक प्रबन्ध से तुलना कीजिए, जिसमे मैंने अपने सम-सामयिक महापुरुष श्री अरविन्द की भी आलोचना की है।

३ मोज़ार्त—वुल्फगँग ऐमेडियस मोजार्त यह विख्यात आस्ट्रियन सगीतज्ञ है। सन् १७५६ की २७ जनवरी को इनका जन्म हुआ एव सन् १७९१ को ५ दिसम्बर को इनकी मृत्यु हुई थी।—अनु०

४ बियोवन—लुडविग वान बियोवन यह उन्नीसवी शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ स्वर सगीतज्ञ हैं। बियोवन जर्मन थे। सन् १७७० के १७ दिसम्बर को इनका जन्म हुआ और सन् १८२७ की २६ मार्च को इनका देहावसान हुआ।

५ मूल पुस्तक मे 'Patci Scraphicus' यह पाठ है, जिसका अर्थ 'देवताओ का पिता' है।

६ दोनो खण्ड।

नैतिक व सामाजिक है। यह अतीत भारत के गर्भ से वर्तमान मानवता के लिए सन्देश वहन करके लाई है।

यद्यपि इन दोनो जीवनो की दर्दनाक कहानी का अपरूप काव्यमय सौदर्य तथा होमरिक[1] गाम्भीर्य ही यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है (जैसा कि आप स्वय लक्ष्य करेंगे) कि मैंने आप लोगो को दिखाने के लिए, इन दो जीवनो के गतिपथ के अन्वेषण, व सन्धान मे अपने दो वर्ष क्यो व्यतीत किए हैं, तथापि मैं यह कहना उचित समझता हूँ कि केवल एक साहसी अन्वेषक के कौतूहलवश मैं इस यात्रा मे प्रवृत्त नही हुआ हूँ।

मैं एक उपन्यास लेखक नही हूँ, जो कि क्लान्त व थके हुए पाठको को आत्मविस्मृत करने के लिए लिखता हूँ। मैं इसलिए लिखता हूँ कि जिससे मेरे पाठक अपने आपको खोज सके, मिथ्या के आवरण से मुक्त अपनी सत्ता को, अपने स्वरूप को पहचान सके। मेरे जीवित या मृत सभी सहयात्री इसी लक्ष्य को लेकर अग्रसर हुए हैं, और मेरे निकट शताब्दियो व जातियो की सीमाओ का कोई अर्थ नही है। आवरणमुक्त आत्मा के लिए प्राच्य व प्रतीच्य का कोई बन्धन नही है, ये वस्तुएँ उसके वाह्य आवरण मात्र हैं। समस्त विश्व ही आत्मा का निवासस्थान है। और हममे से प्रत्येक मे ही जब आत्मा का निवास है, तब हम सभी उसके समान अधिकारी हैं।

जिस आन्तरिक विचार ने मुझे इस ग्रन्थ की रचना के लिए प्रेरित किया है, उसका मूल स्रोत कहाँ है, इसकी व्याख्या करन के लिए यदि मैं अपने-आपको कुछ क्षण के लिए रगमच पर लाता हूँ, तो आशा है, पाठकगण मुझे क्षमा करेंगे। केवल दृष्टान्त के लिए ही मैं ऐसा कर रहा हूँ, क्योकि वास्तव मे मैं कोई असाधारण पुरुष नही हूँ। मैं एक अत्यन्त साधारण फ्रासीसी हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं उन हजारो पश्चिम देशवासियो का, जिनके पास अपने को प्रकट करने के न साधन हैं, और न समय ही है, एक प्रतिनिधि मात्र हूँ। जब हममे से कोई व्यक्ति अपने आपको मुक्त करने के लिए अपने हृदय के गभीरतम अन्त.प्रदेश से कुछ कहता है, तो उसका वह शब्द उन हजारो मूक कण्ठस्वरो को ही मुक्त करता है। इसलिए आप मेरी आवाज को नही, अपितु उन्ही के कण्ठो की प्रतिध्वनि को सुने।

मध्य फ्रास के जिस अचल मे मेरा जन्म हुआ है, और जहाँ मैंने अपने वच-

---

१ ग्रीक महाकवि होमर के काव्य मे जो महान् गाम्भीर्य देखा जाता है, उसके समान।

पन के चौदह वर्ष व्यतीत किये हैं, मेरे पूर्वपुरुष शताब्दियो से वही रहते चले आये हैं। मेरा वश विशुद्ध फ्रान्सीसी तथा विशुद्ध कैथोलिक है। उसमे किसी प्रकार का कोई विदेशी मिश्रण नही हुआ। सन् १८८० मे मेरे पेरिस आने से पूर्व तक मेरे जीवन का प्रभात समय निवर्नायस जिले की सीमाओ मे ही आवद्ध था। और इस जादूपूर्ण प्रदेश मे वाह्य ससार के प्रभावो का प्रवेश सर्वथा निपिद्ध था।

सुतरा इस फ्रासभूमि के धूसर नील आकाश के नीचे, और उसकी नदियो की रेखाओ की सीमाओ से घिरे हुए इस मृण्मय पात्र मे वन्दी होकर मैंने अपने शैशवकाल मे विश्व के नाना वर्णों का आविष्कार किया है। जब मैंने अपनी युवावस्था मे दण्डपाणि होकर विचार-पथ पर यात्रा प्रारम्भ की, तो मैंने किसी भी देश मे कोई अजनवी या अज्ञात वस्तु नही पायी। मन के जो विभिन्न प्रकार मैंने पाये, व अनुभव किये, वे मूलत॰ मेरे मन के ही अनुरूप थे। वाह्य की अभिज्ञता ने मुझे केवल अपने मन को ही समझना सिखाया, मैं अपने मन की उन विभिन्न अवस्थाओ को समझने लगा—जिन्हें मैं इससे पूर्व भी लक्ष्य करता था, परन्तु समझ न पाता था। शेक्सपीयर, विथोवन, टाल्स्टाय व रोम आदि सव शिक्षको ने—जिनकी रसधारा द्वारा मेरा जीवन अनुप्राणित हुआ है, मुझे अपने अन्तर के इस गुप्त नगर के—इस लावा-स्रोत के नीचे प्रसुप्त भूमिनिमग्न हरक्यूलिनियम[1] के अवरुद्ध द्वार मे प्रवेश की विधि के अतिरिक्त और कुछ नही सिखाया है। और मेरा दृढ विश्वास है कि मेरे अनेक पडोसियो के अन्तर मे भी यह इसी प्रकार प्रसुप्त है। वे केवल इसके अस्तित्व से अभिज्ञ नही है, जैसा कि एक दिन मैं भी अनभिज्ञ था। इस सुगुप्त नगर के उद्घाटन मे, साधारण व्यवहार-बुद्धि ने उन्हे उनके दैनिक प्रयोजन के लिए जितना आवश्यक वतला दिया है, उस प्राथमिक प्रयत्न से अधिक साहसिक प्रयत्न भी उनसे से शायद ही किसी ने किया है। और वे उन व्यक्तियो के समान, जिन्होंने कि पहले राजकीय और वाद मे जैकोविन[2] (विप्लवी) फ्रान्स का ऐक्य-विधान किया है, अत्यन्त मिता-

---

१ हरक्यूलिनियम—रोम राज्य का एक प्राचीन नगर। सन् ७९ ईस्वी मे विसुवियस ज्वालामुखी के विस्फोट के कारण पम्पेइ शहर के साथ यह नगर भी पृथ्वी के गर्भ मे समा गया था।—अनु०

२ जैकोविन = विप्लवी। पैरिस नगर के जैकोविन क्लव के सदस्यो ने ही फ्रासीसी विप्लव का पथ-प्रदर्शन किया था। इसलिए जैकोविन से विप्लवी का ही वोध होने लगा।

चारी है। ऐसे निर्माण का मैं प्रशसक हूँ। एक पेशेवर ऐतिहासिक होने के कारण, मैं इसमे भी आत्मा के प्रकाश से प्रेरित मानव-प्रयत्न की एक श्रेष्ठतम रचना को देखता हूँ। "Aere perrenius" "काल की अपेक्षा भी अधिक शाश्वत और सनातन"[1]—परन्तु इस प्राचीन किम्वदन्ती के अनुसार कि किसी श्रेष्ठ रचना को चिरस्थायी बनाने के लिए दीवार के अन्दर जीवित शरीर को निमग्न करना चाहिए, हमारे यह निपुण कारीगर भी अपनी रचनाओ को चिरस्थायी बनाने के लिए अपनी कीर्ति की दीवार मे हजार-हजार जीवित मानवात्माओ को चुन गये है। सगमरमरी सतह पर आज उनका कोई चिह्न दिखाई नही देता, परन्तु तो भी मुझे उनका कण्ठस्वर सुनाई देता है। और मेरे समान जो कोई और भी उन्हे सुनना चाहता है, वह विचार के पुण्य इतिहास मे कान लगाकर उन्हे सुन सकता है। गिर्जा की उच्च वेदी पर जो उपासना अनुष्ठित होती है, उसमे उनका स्थान नही है, किन्तु जो शान्त, भीरु व अनवहित विश्वासी जन-समुदाय पादरियो के सकेत पर नीचे झुकता व ऊपर उठता है, वह अपने स्वप्नो मे सेण्ट जौन[2] की सर्वथा भिन्न प्रकार की सब्जियो का चर्वित-चर्वण करता है। फ्रान्स देश आत्माओ से समृद्ध है। परन्तु वह उन्हे इस प्रकार गुप्त रखता है, जैसे कोई कृषक पत्नी अपने धन को छुपाकर रखती है।

इन निर्वासित आत्माओ मे से कुछ तक पहुँचने की सीढियो की खोयी हुई चावियो को मैंने हाल ही मे पुन. खोज निकाला है। अहम् के भूतल गर्भ से उठ-कर प्राचीर के गात्र पर सर्प के समान कुण्डलाकार होती हुई यह सोपान-श्रेणी, नक्षत्र मुकुटित प्रासादो के शिखर पर पहुँचती है। परन्तु वहाँ पहुँचकर मुझे जिस देश के दर्शन हुए हैं, वह मेरे लिए अपरिचित नही है। मैंने उसे पहले भी देखा है, और मैं इसे अच्छी तरह जानता हूँ, परन्तु मुझे यह याद नही कि मैंने उसे पहले कहाँ देखा था। मैंने 'विचार' का जो पाठ कभी पहले सीखा था, उसे यद्यपि पूर्णरूप से नही तो भी अपनी स्मरणशक्ति से कई बार दोहराया है। (परतु किससे यह पाठ मैंने सीखा था ? अपनी किसी अति प्राचीन आत्मा से)। अब मैं पुन वही पाठ रामकृष्ण की निरक्षर प्रतिभा द्वारा, जिसे यह सब कण्ठस्थ था, मुझे दी हुई जीवन की पुस्तक मे पढ रहा हूँ, और उसका प्रत्येक शब्द मेरे सम्मुख स्पष्ट व पूर्ण हो उठा है।

---

१. 'Aere Perrenius'—काल की अपेक्षा भी शाश्वत व सनातन।—होरेस
२. सेण्ट जौन के पर्व के दिन मेले मे तथाकथित जादू-शक्ति-सम्पन्न सब प्रकार की शाक-सब्जी बिकती है।

और आज मैं उसे आप लोगो के सम्मुख एक नयी पुस्तक के रूप मे नही, अपितु एक अत्यन्त प्राचीन पुस्तक के रूप मे रखता हूँ, जिस ग्रन्थ को आप सबने ही पढने की भरसक चेष्टा की है, (यद्यपि बहुतो ने वर्ण परिचय तक ही पढकर छोड दिया है) तथापि यह वही एक ग्रन्थ है, यद्यपि लेख मे अन्तर है। मनुष्य की दृष्टि साधारणतया ऊपर के आवरण पर ही जाकर रुक जाती है, छिलके के अन्दर छिपी हुई सार वस्तु तक नही घुस पाती।

यह सर्वदा वही ग्रन्थ है। यह सर्वदा वही मनुष्य है—यही शाश्वत, सनातन, 'मानव पुत्र' हमारा पुत्र, हमारा पुनर्जात भगवान् है। और प्रत्येक पुनर्जन्म मे वह अपने-आपको पहले की अपेक्षा अधिक पूर्णतर रूप मे और विश्व की सम्पत्ति से समृद्ध रूप मे प्रकट करता है।

देश व काल के पार्थक्य को दृष्टि से ओझल करके देखने पर रामकृष्ण ईसा के ही कनिष्ठ भ्राता हैं।

आजकल के स्वतन्त्र विचारक जिस प्रकार यह दिखाने की चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार इच्छा करने पर हम भी यह दिखा सकते है कि ईसा द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण सिद्धान्त, उससे पहले भी पूर्वदेशीय लोगो मे प्रचलित थे। और इन सिद्धान्तो को कैलडिया, मिस्र, एथेन्स और आयोनिया के विचारशील व्यक्तियो ने जन्म दिया था। परन्तु हम मानव इतिहास मे ईसा के व्यक्तित्व को—चाहे वह वास्तविक हो या काल्पनिक ही क्यो न हो—(वास्तविक तथा काल्पनिक व्यक्तित्व एक ही सत्ता के दो रूप होते है)[1] एक प्लेटो के व्यक्तित्व से अधिक

---

१ काल्पनिक किंवदन्तियो के प्रति धर्मभीरु भारतवासियो का रुख विश्वास के अनुसार एक कौतूहल व समालोचना का रुख है। यह अत्यन्त लक्षणीय है कि जिन सब व्यक्तियो की भारतवासी देवता समझकर पूजा करते हैं, उन सबके ऐतिहासिक अस्तित्व के बारे मे वे एक प्रकार से उदासीन रहते हैं—उनके लिए यह एक सर्वथा गौण वस्तु है। जहाँ तक वे आध्यात्मिक रूप से सत्य हैं, वहाँ तक उनकी बाह्य वास्तविकता कोई महत्त्व नही रखती। सर्वश्रेष्ठ विश्वासी रामकृष्ण ने कहा है, "जो अपने अन्दर ऐसे विचारो की कल्पना कर सकते हैं, वे अपने-आपको उन्ही विचारो मे परिणत भी कर सकते हैं।" और विवेकानन्द जो कि कृष्ण तथा ईसा के बाह्य अस्तित्व मे सन्देह करते थे, (ईसा की अपेक्षा भी कृष्ण के दैहिक अस्तित्व मे अधिक सशयालु थे) उन्होंने इस प्रकार कहा है—"परन्तु आज कृष्ण सब अवतारो मे पूर्णतम अवतार हैं।"

प्रभावशाली होने से कभी नही रोक सकते। और इसमे कोई न्याय-रहित बात भी नही है। यह मानवात्मा की एक अतुलनीय व आवश्यक सृष्टि है। यह मानवात्मा की शरद् का एक सुन्दरतम फल है। प्रकृति के एक ही नियम के अनुसार एक ही वृक्ष मे जीवन व किम्वदन्ती का जन्म हुआ है। एक ही जीवित देह की दृष्टि, नि:श्वास और शैत्य व सजलता से दोनो की उत्पत्ति हुई है।

मैं योरोप के सम्मुख रामकृष्ण नामधारी शरद् ऋतु के एक नये फल, आत्मा के एक नवीन सन्देश, भारत के एक महासगीत को ला रहा हूँ। यह दिखाया जा सकता है, (और मैं इसे दिखाना भूलूंगा भी नही) कि हमारी प्राचीन सगीत प्रतिभाओ के जन्म के समान, यह महासगीत भी अतीत से सगृहीत अनेक प्रकार के विभिन्न स्वरो के समावेश से ही बना है। इस सृष्टि के पीछे बहुत सी पीढियो का अक्लान्त श्रम विद्यमान है। किन्तु यह सब होने पर भी जो सार्वभौम व्यक्तित्व विभिन्न स्वरो के साजबाज को अपने मे सगृहीत करके, उन्हे एक राजसिक स्वर-सगति का रूप देता है, उसका ही नाम उस सृष्टि के ऊपर आरोपित होता है, और उसके गौरवमय नाम के द्वारा ही एक नवयुग का निर्देश होता है।

जिस मनुष्य की मूर्ति की मैं यहाँ स्थापना करना चाहता हूँ, वह तीस करोड नर-नारियो के दो सहस्र वर्षव्यापी आध्यात्मिक जीवन का परिपूर्ण रूप है। यद्यपि चालीस वर्ष हुए उसका देहावसान[1] हो चुका है, तथापि उसकी आत्मा

और वह उसकी पूजा करते थे। (भगिनी निवेदिता के 'स्वामी विवेकानन्द के साथ परिभ्रमण' सम्बन्धी नोट्स, मे देखिए)।

सच्चे धर्मप्राण व्यक्ति जिस प्रकार अवतार की वास्तविकता मे भगवान् को प्रत्यक्ष करते हैं, ठीक उसी प्रकार विचारशील व्यक्तियो के अन्दर भी जीवित भगवान् को प्रत्यक्ष देखते है। एक श्रेष्ठ विश्वासी की दृष्टि मे यह दोनो चीजे ही समान रूप से वास्तविक है। कारण, उसके निकट जो भी वास्तव है, वही भगवान् है। इसके अतिरिक्त वह यह भी निर्णय नही कर पाता कि इन दोनो चीजो मे किसका महत्त्व अधिक है—जिसे एक जाति ने जन्म दिया है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है अथवा जिसे एक युग ने जन्म दिया है, वह अधिक महत्त्व रखता है ?

१ सन् १८८६ में। उस समय वह ५० वर्ष के थे। उनके महान् शिष्य विवेकानन्द की सन् १९०२ मे ३९ वर्ष की अवस्था मे मृत्यु हुई थी। यह नही भूलना चाहिए कि उनका जीवन हमारे कितना निकटवर्ती है। एक ही सूर्य के हमने दर्शन किये हैं, और एक ही काल की नौका पर हम सवार है।

आधुनिक भारत को प्राणदान कर रही है। वह गाधी के समान कर्मवीर नही था, कला या विचार मे गेटे[1] व टैगोर के समान प्रतिभाशाली नही था। वह वगाल के एक छोटे से गाँव का रहनेवाला ब्राह्मण था, जिसका बाह्य जीवन सकीर्ण रूढियो की सीमा मे आवद्ध था। उसमे उल्लेख योग्य कोई विशेप घटना न थी, और तात्कालिक सामाजिक व राजनैतिक हलचल से वह सर्वथा पृथक् था,[2] परन्तु उसके आन्तरिक जीवन मे नाना देवताओ और मानवो का एक विचित्र समावेश था। उसका अभ्यन्तरीय जीवन उस सकल शक्ति की मूलाधार स्वरूपिणी दैवी 'शक्ति' का अशमात्र था—जिस दैवी शक्ति की मिथिला के प्राचीन कवि विद्यापति[3] और वगाल के कवि रामप्रसाद ने वन्दना की है।

कदाचित् विरले ही मूलस्रोत तक पहुँचने का यत्न करते है। वगाल के इस क्षुद्र ग्राम्यवासी ने अपने हृदय की वाणी को सुना था, और उसे सुनकर वह अन्तर्वर्ती समुद्र के पथ का अनुसन्धान करने के लिए वढा था। वही समुद्र के साथ उसका मिलन हुआ और उपनिपद् की यह वाणी सत्य सिद्ध हुई :—

---

१ गेटे—जर्मनी का सर्वश्रेष्ठ कवि।

२. विवेकानन्द का जीवन उनके जीवन से सर्वथा भिन्न था। कारण उसने नव व पुरातन दोनो ससार का परिभ्रमण किया था।

३. "हे निविड कुन्तला महादेवी! तुम अपने स्वरूप को प्रकट करो। तुम्ही एक हो, तुम्ही अनेक हो, तुम्हारे अन्दर ही सहस्र निहित है, तुम्ही सग्राम काल मे रणभूमि को शत्रुओ से पूर्ण करती हो।" (शक्ति देवी का स्तुति गान) यहाँ पर रोला ने विद्यापति की जिस कविता के वारे मे कहा है, वह नगेन्द्र गुप्त द्वारा सकलित 'विद्यापति की पदावली' के ४६६ पृष्ठ पर पाय जाती है। जो इस प्रकार है :—

विदिता देवी, विदिता हो, अविरल केस सोहन्ती।
अनेकानेक सहस को धारिणि, जरिमंगा पुनरन्ति॥

—अनुवादक

५ तैत्तिरीय उपनिषद्।

वेदान्त के अनुसार जव परमब्रह्म सगुण हो जाता है, और प्राणमय विश्व का उद्वर्तन आरम्भ कर देता है, तो पहले वह स्वय ही उद्वर्तित होता है, वही सर्वप्रथम उत्पन्न सत्ता है, जो कि समस्त दृश्य व अदृश्य पदार्थों का सार है। जो इस प्रकार कहते हैं, वही परब्रह्म के साथ एकान्वित होते हैं —ऐसा कहा जाता है।

"मैं ज्योतिर्मय देवताओ की अपेक्षा भी प्राचीन हूँ। मैं सत्ता की प्रथम सन्तान हूँ। मैं अमरत्व-शोणितवाही धमनी हूँ।"[1]

इसलिए मैं ज्वरविकार से लुप्तनिद्र योरोप के कानो मे इसी धमनी के स्पन्दन की ध्वनि को प्रविष्ट करना चाहता हूँ, और उसके शुष्क अधरोष्ठो को अमरता की शोणित धारा से सिक्त करना चाहता हूँ।

सन् १९२८।

रो० रो०

---

१ इस स्थान पर सम्भवत: रोला तैत्तिरीय उपनिषद् के दशम अनुवाक मे वर्णित श्लोक की बात कहते हैं :—

'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य।
पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना भायि॥'—अनुवादक

रामकृष्ण

प्राक्कथन

एक काल्पनिक नीति-कथा के समान मैं अपनी कहानी प्रारभ करता हूँ। किन्तु यह एक असाधारण बात है कि यह नीति-कथा आपातत' पौराणिक-जगत् के अन्तर्गत प्रतीत होने पर भी, वास्तव मे ऐसे मनुष्यो की कहानी है, जो कल तक जीवित थे, जो हमारी "शताब्दी", के ही पडोसी है, और जिन्हें आज के बहुत से जीवित मनुष्यो ने स्वय प्रत्यक्ष देखा है।[1] उनके पास से मैंने बहुत से ज्वलन्त प्रमाण सग्रह किये हैं। उनमे से कइयो के साथ मैंने स्वय वार्तालाप भी किया है। वे सभी इस रहस्यमयी सत्ता के—इस मानव-देवता के सहचर थे। रामकृष्ण के प्रति उनकी प्रीति एव विश्वस्तता के सम्बन्ध मे मुझे तिल भर भी सन्देह नही है। इसके अलावा, ये सब प्रत्यक्षदर्शी, ईसा की जीवन की कहानी के साक्षी मछुआरो के समान अशिक्षित न थे। उनमे से कुछ व्यक्ति तो अत्यन्त मेधावी, विचारवान्, योरोपीय शिक्षा मे दीक्षित तथा योरोपीय विचारधारा से सुपरिचित थे। तथापि वे इस प्रकार बात करते हैं कि मानो वे तीन सहस्र वर्ष पहले के मनुष्य हैं।

---

१ यह पुस्तक सन् १९२८ के शरत् काल मे लिखी गयी है। उस समय रामकृष्ण के कई शिष्य जीवित थे। उनके नाम इस प्रकार हैं :—

कलकत्ता के समीपवर्ती बेलूर केन्द्रीय मठ के अध्यक्ष, एव रामकृष्ण मठ तथा मिशन के सभापति स्वामी शिवानन्द। स्वामी अभेदानन्द। स्वामी अखण्डानन्द। स्वामी निर्मलानन्द। स्वामी विज्ञानानन्द। 'रामकृष्ण कथामृत' शीर्षक से प्रकाशित प्रभु के साथ आलापो के सम्पादक श्री महेन्द्रनाथ गुप्त। रामकृष्ण के भतीजे रामलाल चट्टोपाध्याय। इसके अतिरिक्त रामकृष्ण के अनेक अन्य साधारण शिष्य, जिनका सन्धान व नामोल्लेख यहाँ संभव नही है।

प्राचीन काल मे ग्रीक युग मे देवता व देवीगण नश्वर मनुष्यो के साथ एक शय्या व आहार का अश ग्रहण करते थे। इसी प्रकार गैलीली के युग में निदाघ के धूसर आकाश मे पक्षसचारी देवदूत प्रकट होते थे, और वे नीचे उतरकर विनय व आदरपूर्वक माता मेरी के चरणो मे स्वर्ग के उपहारो की भेट चढाते थे। एक ही मस्तिष्क मे बीसवी शती के वैज्ञानिक बुद्धिवाद मे और पुरातन काल की दार्शनिक कल्पनाओ का एक साथ निवास सभव है, इसको आज के बुद्धिमान् मनुष्य कल्पना भी नही कर सकते। अब वे इतने पागल नहीं हैं, जो ऐसी कपोल कल्पनाओ मे विश्वास करे। किन्तु इसमे ही वह सचमुच का आश्चर्यमय चमत्कार है—विश्व की अनन्त सम्पद है—जिसे कि वे भोग करना नहीं जानते। विचारशील योरोपीय व्यक्तियो मे अधिकाश विचारक अपने आपको मानव-जाति रूप घर की अपनी-अपनी विशेष मजिल तक सीमाबद्ध रखते है। अतीत काल मे इस घर की और मजिलो मे कौन रहते थे, उसका इतिहास सभवतः उनकी अपनी मजिल के पुस्तकालय मे ही विद्यमान हो, किन्तु तथापि उन्हें इस घर की बाकी सब मजिले निर्जन व वीरान ही मालूम पडती हैं। अपनी मजिल से ऊपर व नीचे की मजिलो मे रहनेवाले अपने पडोसियो की पदध्वनि कभी नही सुन पाते। विश्व-स्वरसगति को पैदा करनेवाला वाद्यसगीत अतीत व वर्तमान की शताब्दियो के मिश्रण से बनता है। उस सगीत मे अतीत व वर्तमान सब शताब्दियो की झकार एक ही साथ बजती है—यद्यपि प्रत्येक वादक की दृष्टि अपनी-अपनी स्थिति तथा निर्देशक के दण्ड पर रहती है, और प्रत्येक वादक अपने यन्त्र के सिवाय और किसी की ध्वनि नही सुनता है।

परन्तु आओ, हम सब वर्तमान की उस अपूर्व स्वरसगति को सुनें, जिसमे सब जातियो और सब युगो के अतीत के स्वप्न तथा भविष्यत् की आकाक्षाएँ और आशाएँ सम्मिलित हैं। जिनके कान सुनने मे समर्थ हैं, उनके लिए आदिम जन्म से लेकर अन्तिम मृत्यु पर्यन्त प्रतिक्षण मानवता का एक अखण्ड सगीत बज रहा है, और कालचक्र के गोल आवर्त मे वह सगीत चमेली के पुष्पो की तरह खिल रहा है। मनुष्य की विचारधारा किस मार्ग द्वारा अग्रसर हुई है, इसे जानने के लिए भोजपत्र के अस्पष्ट लेखो का अर्थ ढूँढने की आवश्यकता नही है। हजारो वर्षो के विचार हमारे चारो ओर निरन्तर व्याप्त हैं। उनमे से कुछ भी विलुप्त या नष्ट नही हुआ है। सुनो। अपने कानो से सुनो। ग्रन्थो को मौन रहने दो। वे अत्यन्त मुखर हैं

मनुष्य ने जब से अपने अस्तित्व का स्वप्न देखा है। उस आदिमतम काल

से लेकर आज तक मनुष्य ने जितने भी स्वप्न देखे हैं, उन सब स्वप्नो को यदि पृथ्वी के किसी एक स्थान पर आश्रय मिला है, तो वह भारतवर्ष है। वार्थ[1] ने अत्यन्त स्पष्टरूप से यह प्रमाणित कर दिखाया है कि भारतवर्ष को एक ज्येष्ठ सहोदर का सुयोग व सम्मान प्राप्त है। भारतवर्ष का आध्यात्मिक विकास उस पुष्प के समान हुआ है—जो पुष्प अपने आप ही मेथूसला[2] के समान अविरत व अव्याहृत रूप से सुदीर्घ जीवन मे प्रस्फुटित है। यह उष्ण भारत-भूमि देवताओ के गर्भाशय के समान है; जिसकी उष्ण मृत्तिका मे से तीन सहस्र वर्ष से भी अधिक समय से दिव्यदृष्टि का विशाल महातरु उत्थित हुआ है, और हजारो शाखाओ, व कोटिश प्रशाखाओ के रूप मे उसने अपना विस्तार किया है। उसमे जरा व मृत्यु का कोई लक्षण नही है। वह नित्य नये-नये रूप मे अपने-आपको प्रकट करता है। उसकी विभिन्न शाखाओ मे एक ही समय मे अनेक प्रकार के फल पकते हैं, बर्बरतम देवता से लेकर—नामहीन, सीमाहीन, निराकार ब्रह्म, परम पुरुष, ईश्वर तक सबका ही इस महातरु पर साक्षात्कार मिल सकता है। परन्तु यह सर्वदा वही एक ही महातरु है।

और यह सब जटिल शाखा-प्रशाखाएँ, जिनके अन्दर एक ही प्राणरस प्रवाहित हो रहा है, उनका सारतत्त्व तथा विचार परस्पर इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, कि इस महातरु की निम्नतम जड से लेकर उर्ध्वतम किसलय-गुच्छो तक पृथ्वीरूपी महापोत के मस्तूल की तरह एक ही प्राण के आवेग से कम्पित होते हैं, और यह मानव-जाति के हजारो स्वरो व हजारो विश्वासो के सम्मिश्रण से बने हुए एक महासगीत का गान करता है। उसका बहु विचित्र-ध्वनि-समन्वय, अनभ्यस्त कानो को शुरू मे बेसुरा मालूम होता है, परन्तु अभ्यस्त व शिक्षित कानो के लिए यह स्वर की सुगुप्त सीढियो व विशालरूप को प्रकट करता है। इसके अतिरिक्त जिन्होंने एक बार इस सगीत को सुन लिया है, वे पाश्चात्यो के परस्पर विरोधी तर्क, विश्वास, व विश्वासावलि के बल पर आशा व आश्रयरहित मनुष्य के ऊपर आरोपित रूढ़ कृत्रिम व्यवस्था को लेकर सन्तुष्ट नही हो सकते। कारण, पाश्चात्य तर्क तथा विश्वास, समान रूप से ही परस्परविरोधी तथा परस्पर असहिष्णु है। जिस पृथ्वी के अधिकाश निवासी

---

१ वार्थ, The Religions of India १८७९।

२ मेथूसला—बाइबिल मे सबसे अधिक आयुष्मान् व्यक्ति के रूप मे इसका वर्णन है। 'जेनेसिस' या उत्पत्तिकाल मे यह ९६७ तक जीवित रहा था।

गुलाम हैं, अध पतित तथा विध्वस्त हैं, उस पर साम्राज्य स्थापित करने से मनुष्य को क्या लाभ है ? इसकी अपेक्षा एकमात्र परिपूर्ण, प्रतिष्ठित एव समग्र-सहत जीवन के ऊपर अधिकार करना कही अधिक श्रेयस्कर है। कारण, ऐसा करने से अवश्य ही मनुष्य को स्वतः विरोधी शक्तियो के बीच सामजस्य स्थापित करना सीखना पडेगा।

यही वह परम ज्ञान है, जिसे हम विश्वात्माओ के पास से सीख सकते हैं, और इस प्रकार की विश्वात्माओ के कुछ सुन्दर दृष्टान्त मैं इस पुस्तक मे चित्रित करना चाहता हूँ। उन विश्वात्माओ की प्रतिष्ठा तथा सौम्य गभीरता का गूढ रहस्य इसमे नहीं है कि 'मैदान मे कमल खिले हुए हैं, जो किसी तरह का परि-श्रम नही करते, सूत भी नही कातते, परन्तु उनकी महिमा का कोई अन्त नही है।' वे वस्त्रहीनो के लिए वस्त्र बुनते हैं, और हम लोगो को भूल-भुलैया का जटिल पथ दिखाने के लिए एरियाड्न[1] का सूत कातते हैं। हम लोगो को सही मार्ग पर चलने के लिए उनके काते हुए सूत का एक सिरा ही केवल अपने हाथ मे लेने की आवश्यकता है और हमारा यह मार्ग उस सुदूरवर्ती पकिल दलदल भूमि से जिस दलदल भूमि मे आज भी आदिमयुग के अनेक देवी-देवता मजबूती के साथ चिपटे हुए हैं, प्रारभ होकर उस शिखरवर्ती प्रदेश मे जाकर समाप्त होता है, जहाँ पर विपुल-पक्ष-विस्तारी स्वर्गभूमि—(Titan Ether)[2] महाव्योम—विराजमान है—जहाँ पर स्पर्शातीत आत्मा का निवास है।

---

१ एरियाड्न—यह ग्रीक पुराण मे वर्णित क्रीट के राजा मिनस की कन्या और सूर्य-देवता हेलिअस की दोहती हैं। जब मिनस का वध करने के लिए थेसि-अस क्रीट द्वीप मे आया, तो एरियाड्न उसके प्रेमपाश मे फँस गयी और मिनस की हत्या मे उसने उसकी सहायता की। एक दुर्गम भूल-भुलैया मे, जिससे थेसियस मार्ग न भूल जाय और इच्छित स्थान पर पहुँच सके, इसके लिए एरियाड्न ने थेसिअस को एक सुदीर्घ सूत दिया; इस सूत के एक सिरे को पकडकर थेसिअस मार्ग की खोज कर सका। —अनु०

२. एम्पिडक्लिस 'Titan Ether' महाव्योम। एम्पीडक्लिस · ग्रीक दार्शनिक एव राजनीतिज्ञ, यह सिसिली द्वीप का निवासी था। उसका जन्म ईसा पूर्व ४९० हुआ था, और ईसा पूर्व ४३० मे उसकी मृत्यु हुई।—अनु०

और मानव-देवता रामकृष्ण की जीवनी मे मैं जैकोब की उस सीढी का वर्णन करूँगा, जिस सीढी के द्वारा मनुष्य के अन्दर, स्वर्ग से मर्त्य तथा मर्त्य से स्वर्ग, दोनो तरफ ले जाने वाला एक दिव्य मार्ग निरन्तर उतरता व चढता रहता है।



१ | शैशवलीला

तमालतरु, तालाब तथा धानो के खेतो से घिरा हुआ 'कामारपुकुर' नामक बगाल प्रान्त का एक छोटा सा ग्राम है। वहाँ एक वृद्ध ब्राह्मण दम्पति रहते थे,

१ अपने पाश्चात्य पाठको को मैं पहले ही सावधान कर देना चाहता हूँ कि इस शैशवलीला का वर्णन करते समय मैं अपनी आलोचनात्मक शक्ति का उपयोग न करूँगा। (यद्यपि मेरी समालोचना-दृष्टि अवश्य ही हर समय जागृत रहती है।) कृष्ण के हाथ की वाँसुरी के समान मैं केवल प्रचलित किम्वदन्ती को ही शब्द रूप दूँगा। यहाँ पर इसकी वास्तविक सत्यता के सम्बन्ध मे व्यस्त होने की आवश्यकता नही है, अपितु जीवित मनोभावो की मानसगत सत्यता ही पर्याप्त है। वेनेलोप के जाल[1] को उधेडना यहाँ सर्वथा निरर्थक है। एक दक्ष कलाकार ने अपने चतुर हाथो से जो स्वप्नरचना की है, उससे ही मैं अपने-आपको सम्बद्ध रखूँगा। इस वारे मे महान् मनीषी मैक्समूलर ने एक दृष्टान्त स्थापित किया है। मैक्समूलर जहाँ समालोचनात्मक पाश्चात्य विचारशैली के कट्टर व विश्वस्त अनुयायी थे, वहाँ दूसरे प्रकार के विचारो के प्रति भी वैसा ही आदर प्रदर्शित करते थे। उन्होने श्रीरामकृष्ण के जीवन के वारे मे विवेकानन्द के मुख से जो कुछ भी सुना था, हूवहू वही अपनी कीमती पुस्तक[2] मे लिपिवद्ध कर दिया है। उनका यह विश्वास था कि उनके समकालीन व्यक्तियो ने जो सव घटनाएँ प्रत्यक्ष की हैं व अपने जीवन मे अनुभव की हैं, इतिहास की रचना मे वे सव घटनाएँ अपरिहार्य हैं। इस प्रणाली को उन्होने डायालौजिक व डायालैक्टिक (समाषणात्मक) नाम दिया है। और इस प्रणाली मे विश्वास योग्य जीवित व्यक्तियो की साक्षी के द्वारा वास्तविकता का एक प्रकार से निवर्तन (inversion) होता है। वास्तविकता का समस्त ज्ञान मन व इन्द्रियो द्वारा अनुष्ठित एक प्रकार का निवर्तन (inversion) मात्र है। इसलिए अकपट भाव से अनुष्ठित समस्त निवर्तन ही वास्तव है। वाद मे अवश्य समालोचनात्मक युक्ति द्वारा इस दृष्टि के कोण तथा दूरत्व का माप करना होगा, और मन के विकृत दर्पण में विम्वित प्रतिविम्व के वारे मे सचेत रहना होगा।

---

१ वेनेलोप का जाल—ग्रीक वीर इयुलिसेस की स्त्री का नाम वेनेलोप था। इयुलिसेस के वहुत दिनो तक युद्ध मे व्यस्त रहने के कारण अनेक लोगो की यह धारणा हो गयी कि उसकी मृत्यु हो गयी है। इसलिए वेनेलोप के अनेक पाणिग्रहणार्थी पैदा हो गये। वेनेलोप ने अपने उन सव पाणिग्रहणार्थियो को, अटकाये रखने के लिए उनसे कहा कि वह एक जाल की वुनाई खत्म होने पर विवाह करेगी। इसलिए वह दिन मे जितना जाल वुनती थी, रात्रि मे उसे ही उधेड देती थी।—अनु०

२ मैक्समूलर—रामकृष्ण की जीवनी व वाणी, १८९८।

जिन्हे चट्टोपाध्याय कहते थे। वे अत्यन्त दरिद्र तथा धर्मभीरु थे, और मर्यादा पुरुषोत्तम राम के उपासक थे। श्रीरामकृष्ण के पिता पुराने जमाने के मनुष्यो के समान ही सीधे-सच्चे थे। एक पडोसी जमीदार के पक्ष मे झूठी साक्षी न देने के कारण वह अपना सर्वस्व खो चुके थे। एक दिन उन्हें स्वप्न मे भगवान् के दर्शन हुए। उस समय यद्यपि उनकी आयु ६० वर्ष की थी तथापि वह तीर्थयात्रा के लिए गयाजी गये। गयाजी मे भगवान् विष्णु[1] का पदचिह्न अकित है। रात्रि के समय भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हुए और कहा 'मैं विश्व की मुक्ति के लिए शीघ्र ही पुनः जन्म धारण करूँगा।'

उसी समय कामारपुकुर मे उनकी पत्नी चन्द्रमणि ने भी स्वप्न देखा कि एक देवता ने उसके अन्दर प्रवेश किया है। उसकी कुटिया के सम्मुख मन्दिर मे शिव की मूर्ति एक क्षण मे सजीव हो गयी। उसके बाद एक आलोक-रश्मि आकर चन्द्रमणि के देह मे प्रविष्ट हुई। इस आलोडन से अभिभूत होकर चन्द्रमणि मूर्छित हो गयी। इसके बाद जब उसे संज्ञालाभ हुआ तब वह गर्भवती[2] थी! स्वामी ने तीर्थयात्रा से लौटकर देखा कि चन्द्रमणि मे बहुत परिवर्तन हो गया है। चन्द्रमणि को प्राय. ही यह देववाणी सुनाई देने लगी कि उसके गर्भ मे भगवान् हैं।

रामकृष्ण नाम से विश्व मे विख्यात बालक का जन्म १८ फरवरी, सन् १८३६ में हुआ। परन्तु बचपन मे उसका प्यार का नाम गदाधर था। बाल्यावस्था मे रामकृष्ण जितने ही चचल व हँसमुख थे, उतने ही नटखट व सुन्दर थे। और उनके अन्दर एक नारीसुलभ माधुर्य था, जो अन्त समय तक अक्षुण्ण बना रहा। इस हँसमुख बालक के छोटे से देह मे जो असीम विस्तार एव अनन्त गभीरता छिपी हुई थी, उसे वह बालक तो क्या ही जानता था, अन्य किसी ने भी उस समय उसकी कल्पना न की थी। जब उसकी आयु केवल छ. वर्ष की थी, तब पहली बार उसे उसका बोध हुआ। सन् १८४२ के जून व जुलाई मास मे एक दिन बालक रामकृष्ण अपने कुर्ते के पल्ले मे कुछ चिवडे लेकर इधर-उधर खेतो मे घूम रहा था, उस समय यह घटना घटी :—

---

१. बहुत से आदमी भगवान् बुद्ध को विष्णु के अनेक अवतारो मे से एक अवतार मानते हैं।

२ भारतीय पौराणिक गाथाओ मे अनेक अमैथुन निष्कलक गर्भों का वर्णन है।

'एक दिन प्रात.काल के समय मैं पल्ले मे कुछ चिवडे लेकर खाता हुआ धानो के खेतों की पगडडो पर से गुजर रहा था। मैंने आकाश की तरफ नजर उठायी, एक तरफ से जल से भरी श्यामल मेघ-घटा ऊपर उठ रही थी, मैं उसकी तरफ देखता जाता था और चिवडे खाता जाता था—देखते ही देखते सारा आकाश मेघाच्छन्न हो गया, ऐसे समय दुग्ध के समान एक सफेद सारस-पंक्ति वादलो से छूती हुई मेरे ऊपर से गुजरी। वह दृश्य ऐसा लुभावना था कि मैं अपनी सुधबुध खो वैठा और सज्ञाहीन होकर पृथ्वी पर गिर पडा। चिवडे इधर-उधर विखर गये। किसी मुसाफिर ने मुझे इस अवस्था मे पडा देखकर गोदी मे उठाकर मेरे घर पहुँचा दिया। एक आनन्द व भावातिरेक ने मुझे विवश कर दिया । यही सवसे प्रथम अवसर था जव मैं इस प्रकार भावाविष्ट हुआ।'

इसी प्रकार उसका लगभग आधा जीवन व्यतीत होनेवाला था।

इस प्रथम भावावेश मे वालक की आत्मा के ऊपर सचमुच का एक दिव्य प्रभाव लक्षित होता था। कलात्मक अनुभूति द्वारा, सौन्दर्य के लिए आन्तरिक सहज प्रेरणा के मार्ग द्वारा ही श्री रामकृष्ण का भगवान् के साथ प्रथम मिलन हुआ। भगवान् के साथ मिलने के भक्ति, ज्ञान, आत्मसयम, निष्काम कर्म, दया व ध्यान समाधि आदि और भी अनेक मार्ग हैं, जैसा कि हम आगे देखेंगे। इन सव मार्गों को भी रामकृष्ण जानते थे। किन्तु भगवान् का सौन्दर्यरूप देखकर आनन्दविह्वल हो जाने का मार्ग उनके निकट सर्वापेक्षा स्वाभाविक व सरल था। समस्त पदार्थों मे ही रामकृष्ण भगवान् के सुन्दर रूप को देखते थे। वे जन्मसिद्ध कलाकार थे। इस वारे मे भारत की एक अन्य महान् विभूति महात्मा गांधी से, जिनका कि मैं योरोप मे पहले ही प्रचारक रह चुका हूँ—उनका कितना अधिक अन्तर है। गाधी एक कलारहित और स्वप्नरहित मनुष्य हैं। वे उनकी कामना भी नही करते, अपितु उन्हे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वे युक्तिमय कर्म के द्वारा भगवान् तक पहुँचना चाहते हैं। किसी जाति का नेतृत्व करने के लिए यह गुण अपरिहार्य है। किन्तु रामकृष्ण का मार्ग कही अधिक भयानक है, तथापि यह सुदूरव्यापी है। यह सत्य है कि यह मार्ग एक ऊँचे पहाड की फिसलनेवाली देह पर होकर आगे वढता है, किन्तु यही मार्ग अन्तत नि सीम क्षितिज पर जाकर उत्तीर्ण होता है। यह प्रेम का मार्ग है।

वगाली जाति एक कलाकारो व प्रेम-कवियो की जाति है, इसलिए वगदेश-वासियो ने इस पथ को ही विशेषरूप से अपनाया है। कृष्णप्रेम मे पागल, भावो-

न्मत्त श्री चैतन्य[1] ने इस पथ का नेतृत्व व प्रदर्शन किया है। चण्डीदास[2] और विद्यापति[3] ने—अपने मधुमिश्रित गानो मे इस पथ की सगीत रचना की है। वे

---

१ एक बगाली ब्राह्मण परिवार मे श्री चैतन्य का (१४८५-१५३३) जन्म हुआ था। धर्मशास्त्र एव संस्कृति मे अपने पाण्डित्य के लिए अत्यन्त ख्याति प्राप्त करने के बाद उन्होंने रूढि-अनुष्ठान के भार से विकृत व निष्प्राण प्राचीन हिन्दू धर्म का परिष्कार किया। उन्होंने भगवान् के इन्द्रियातीत मिलन पर आश्रित प्रेम के एक नवीन सन्देश का प्रचार किया। समस्त धर्म और समस्त जातियो के नर-नारियो के लिए इस प्रेम-सन्देश की वाणी का द्वार खुला हुआ था, वे सब भाई के समान थे, यहाँ तक कि जिन लोगो की कोई जाति न थी उनके लिए भी यह वाणी अव्याहत थी। हिन्दू, मुसलमान, अस्पृश्य, भिक्षुक, तस्कर, गणिका सब एक साथ ही उनकी यह दिव्य वाणी सुनने के लिए आते थे, और सभी उससे शुद्ध व शक्तिशाली होकर जाते थे।

२. एक शताब्दी तक असामान्य प्रतिभा-सम्पन्न कवियो के एक दल ने एक असाधारण जागृति का शखनाद बजाया। उनमे सर्वश्रेष्ठ चण्डीदास थे। वे एक भग्न देवमन्दिर के दरिद्र पुरोहित थे। वे एक ग्राम्य तरुणी के प्रति आसक्त थे। उन्होंने अपनी कुछ अमर कविताओ मे रहस्यमय रूप से इस नारी का स्तुतिगान किया है। हमारे योरोपीय गीतिकाव्य के भण्डार मे ऐसी कोई वस्तु नही है, जो इन स्तुतिगानो के मर्मस्पर्शी स्वर्गीय सौन्दर्य की तुलना कर सके।

चैतन्य के शिष्य समस्त बगाल मे फैले हुए थे। वे गांव-गाँव घूम-घूमकर नाचते और गाते हुए कीर्तन करते थे। वे मानवात्मारूपी भटकती हुई वधू थे जो स्वर्गीय प्रियतम की खोज मे दर-व-दर फिरते थे। इस जाग्रत-सुषुप्त के स्वप्न को किसान व माँझी सभी ग्रहण करते थे। रवीन्द्रनाथ की अतुलनीय कला मे, विशेषतः उनके गार्डनर तथा गीताजलि काव्य मे भी इसी की प्रतिध्वनि गूंज रही है। इसी कीर्तन के प्रत्येक ताल पर वालक रामकृष्ण के पदयुगल नाचने लगते थे। उन्होने इसी वैष्णव सगीत का स्तन्यपान किया था और यह कहना असगत न होगा, कि वे स्वय भी इसी सगीत की एक सुन्दरतम अभिव्यक्ति थे। उनका जीवन इसी की एक सुन्दरतम कविता था।

३ एक सम्भ्रान्त वश मे विद्यापति का जन्म हुआ था। उनकी कविता को प्रेरणा देनेवाली एक राजमहिषी थी। उसने सुकुमार कला के अभ्यास द्वारा

देवताओ के अश थे, वगाल की भूमि के सुवासित पुष्प थे—उनकी सुगन्ध वगभूमि को अनेक शताब्दियो से सुवासित व मस्त करती चली आ रही है। रामकृष्ण की आत्मा भी उसी तत्त्व से वनी हुई थी, उन्हीं के रक्त-मास से उन्होंने भी अपना रक्तमास आहरण किया था। इसीलिए उन्हे चैतन्यतरु[1] की एक कुसुमित शाखा कहकर पुकारा जाता है।

यह दिव्य सौन्दर्य का प्रेमी, कलात्मक प्रतिभा, अभी तक अपने वारे मे अनभिज्ञ होने पर भी, कुछ दिन वाद पुनः भावाविष्ट हो गया। उस समय उसकी अवस्था आठ वर्ष की थी। शिशुकाल से ही रामकृष्ण संगीत और काव्य के प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे, वे अत्यन्त निपुणता के साथ मूर्ति का निर्माण करते थे, और अपने समवयस्क वालको का नेतृत्व करते थे। एक वार वे शिवरात्रि के अवसर पर शिव की पवित्र भूमिका अभिनीत कर रहे थे, अकस्मात् शिव ने उनके अन्दर प्रवेश किया, उनके दोनो कपोलो से हर्षाश्रुओ की अविरल धारा वहने लगी और देवमहिमा मे रामकृष्ण ने अपनी सज्ञा खो दी। जिस प्रकार वज्रवाही 'ईगल'

चण्डीदास के काव्य की स्वाभाविक सहज पूर्णता को प्राप्त किया था। किन्तु उसके संगीत का मूल स्वर आनन्द था। (मेरी यह एकान्त अभिलाषा है कि कोई सच्चा पश्चिमीय कवि हमारे काव्योद्यान मे इन कविताओ का रोपण करे। यहाँ वे प्रेमिक युगल के अन्तस्तल मे पुन· नये-नये रूप मे प्रस्फुटित होंगे।)

१ रामकृष्ण के मेधावी शिष्य और रामकृष्ण जीवनी के रचयिता महेन्द्रनाथ गुप्त के एक पत्र से इस प्रश्न की कई गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं :—

रामकृष्ण वैष्णव महाकवियो की रचनाओं से परिचित थे, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह परिचय अधिकतर यात्रा के अभिनयो मे लोकप्रिय गानो द्वारा ही हुआ था। रामकृष्ण बचपन मे ही यात्रा-गान मे शिव का पार्ट खेला करते थे। सन् १८५८ के वाद वे विशेष रूप से चैतन्य महाप्रभु से प्रभावित हुए थे, और अन्त मे वे अपने-आपको चैतन्य से अभिन्न ही समझने लगे थे। युवक नरेन्द्र (विवेकानन्द) के साथ अपनी प्रथम मुलाकातो मे से एक मुलाकात में उन्होंने कहा था कि पूर्वजन्म मे वे चैतन्य के रूप मे अवतरित हुए थे। यह सुनकर युवक विवेकानन्द मोहग्रस्त हो गया। रामकृष्ण ने चैतन्य की रहस्यमय वाणी को पुनरुज्जीवित करने के लिए भरसक प्रयत्न किया, जिसे कि वगवासी भूल गये थे।

गेनीमिड[1] को वहन करने लाया था, उसी प्रकार वे भी न मालूम कहाँ ले जाये जाने लगे। सभी सोचने लगे कि रामकृष्ण की मृत्यु हो गयी है।

इसके बाद से रामकृष्ण और भी जल्दी-जल्दी भावाविष्ट होने लगे। यदि वह योरोप मे होते तो उनकी बडी दुर्दशा होती। वहाँ इस बालक को निश्चय ही मानसिक चिकित्सा के कठोर कानून के अनुसार किसी पागलखाने मे भेज दिया जाता। और इस प्रकार जानबूझकर कुछ ही दिनो मे धीरे-धीरे यह अग्निशिखा शान्त कर दी जाती। जादू का दीपक बुझ जाता। "चिराग गुल है।"[2] और कभी-कभी तो बालक की मौत हो जाना भी सभव था। और तो क्या, भारत-वर्ष मे भी जहाँ पर कि जादू-प्रदीप (मैजिक लैण्टर्न) के ऐसे नाना चमत्कार अनेक शताब्दियो से बराबर दृष्टिगोचर होते चले आ रहे हैं, उस बालक के माता-पिता मन मे चिन्तित व उद्विग्न हो उठे। स्वप्नादेश के बारे मे अपनी अभि-ज्ञता होने पर भी वे बालक के इस भावावेश को देखकर भयभीत हो गये। परन्तु इन सामयिक सकटो के अवसरो को छोडकर रामकृष्ण का स्वास्थ्य सर्वथा हृष्ट-पुष्ट था। उनमे अनेक अप्राकृतिक गुणो का निवास होने पर भी कोई अस्वाभा-विकता न थी। वे अपने निपुण हाथो से देवताओ की मूर्ति बनाते थे, पौराणिक कहानियाँ उनके मन मे प्रस्फुटित होती रहती थी, श्रीकृष्ण के धेनु चराने के गीत बडी मधुरता के साथ गाते हुए वे इधर-उधर फिरते थे। और कभी-कभी वे अपनी अकाल परिपक्व बुद्धि का आश्रय लेकर बडे-बडे पण्डितो के साथ शास्त्रार्थ मे जुट जाते थे और उन्हे अपने पाण्डित्य से विस्मित कर देते थे। ईसा भी ठीक इसी तरह किया करते थे। इसी प्रकार वे भी यहूदी पण्डितो को आश्चर्यचकित कर देते थे। बालक रामकृष्ण की देह का वर्ण गौर था, ललाट पर कुचित केश-पाश शोभित थे, होठो पर मधुर हास्य खेलता था, कण्ठस्वर मधुर था, और उसका मनोभाव अत्यन्त स्वच्छन्द व विशाल था। वे पाठशाला से भगोडे लडको की तरह भाग आते थे और वायु के समान स्वतन्त्र थे। वे अपने जीवन के अन्त समय तक बालक मोजार्त के समान बालक ही बने रहे। तेरह वर्ष की अवस्था तक वे स्त्रियो व बालिकाओ के अत्यन्त आदर के पात्र थे। वे उसमे एक प्रकार

---

१ तरुण बालक गेनीमिट जिउस का सारथी था। जिउस का वाहन ईगल गेनीमिड को आकाश-मार्ग से लाया था। जिउस ने हिवि के स्थान मे गेनीमिड को अपना करकवाहक नियुक्त किया था।—अनु०

२ प्रसिद्ध फ्रासीसी लोकगीत "Au Clair de la lune" मे यह कथा सुपरि-चित है।

की नारीत्व के दर्शन करती थी। कृष्ण व गोपियो की कहानियो व दन्तकथाओ मे बचपन से ही लालित होने के कारण उनके बचपन का यह भी एक स्वप्न था कि वे बाल-विधवा के रूप मे जन्मग्रहण करे और उनके घर मे कृष्ण भगवान् प्रेमी के रूप मे दर्शन दे। इसी प्रकार वह न जाने अपने कितने ही जन्मो की कल्पना किया करते थे। उनकी आत्मा प्रोटियस[1] के समान थी। वह जिस सत्ता की भी कल्पना करते या जिसका स्वप्न देखते थे, वह स्वय ही उनके अन्दर प्रकट हो जाती थी। इस प्रकार रूपग्रहण की शक्ति कमोवेश सभी के अन्दर पायी जाती है। इसका निम्नतर प्रकाश उन नक्काल व अभिनेताओ के अन्दर देखा जाता है, जो मुख की भावभगी व मानसिक अभिव्यक्तियो का अनुकरण करते है। और इसका उच्चतम प्रकाश (यदि इस प्रकार कहा जा सके) भगवान् के अन्दर होता है, वह भगवान् जो कि स्वय विश्व-नाटक का अभिनय करते है। रूप-ग्रहण की यह शक्ति कला व प्रेम का चिह्न है। रामकृष्ण के अन्दर सारे विश्व की समस्त सत्ता को अपना कर लेने की जो विस्मयोत्पादक शक्ति बाद मे दिखाई देती है, उसका पूर्वाभास रामकृष्ण के बाल्यजीवन मे ही पाया जाता है।

सात वर्ष की अवस्था मे उनके पिता का देहान्त हो गया। धनाभाव के कारण आगामी कई वर्ष उनके परिवार को बहुत कठिनाइयो का सामना करना पडा। ज्येष्ठ पुत्र रामकुमार[2] कलकत्ता चले गये, और वहाँ जाकर एक पाठ-शाला स्थापित की। सन् १८५२ मे उन्होने रामकृष्ण को भी वही बुला भेजा, परन्तु उन्होने अपनी चंचल व दुर्दान्त प्रकृति तथा आन्तरिक प्रेरणा के वश वहाँ पढने से इनकार कर दिया।

इस समय निम्न जाति की एक सम्पन्न महिला रासमणि ने कलकत्ता से लगभग चार मील दूर गगा के पूर्वीय तट पर दक्षिणेश्वर मे काली महादेवी का एक मन्दिर बनवाया था। वहाँ पुरोहित का कार्य करने के लिए उसे एक ब्राह्मण की अत्यन्त आवश्यकता थी। धर्मभीरु भारत देश मे साधु-सन्यासियो के प्रति जनसाधारण के मन मे प्रचुर श्रद्धा होने पर भी, वेतनभोगी पुरोहित पद के प्रति वहाँ किसी की विशेष श्रद्धा नही है। योरोप की तरह वहाँ मन्दिर देवता के शरीर व हृदय नही है, जहाँ पर उसे प्रतिदिन नवीन बलि दी जाती है। वहाँ पर धनी महाजन पुत्र भगवान् के दरबार मे सुख-सुविधा प्राप्त करने की आशा

---

१ प्रोटियस—यह समुद्र-देवता है। इसके सम्बन्ध मे यह कहानी प्रसिद्ध है कि वह अपने आपको असख्य रूपो व आकृतियो मे प्रकट कर सकता है।

२. पिता की पाँच सन्तानो मे से रामकृष्ण चौथी सन्तान थे।

से देवता के मन्दिर का निर्माण करते है। किन्तु वास्तविक धर्म सर्वथा एक वैयक्तिक वस्तु है, इसका मन्दिर प्रत्येक की व्यक्तिगत आत्मा है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर मन्दिर की प्रतिष्ठात्री एक शूद्राणी थी। इसलिए उस मन्दिर का दायित्व अपने ऊपर लेने मे ब्राह्मण के लिए जातिच्युत होने की सभावना थी। पर सन् १८५५ मे रामकुमार उस पद को ग्रहण करने को राजी हो गया। किन्तु उसका छोटा भाई जो जाति-पाँति के मामले मे अत्यन्त कट्टर था—इसके लिए कठिनाई से तैयार हो सका। परन्तु धीरे-धीरे उसकी जुगुप्सा समाप्त हो गयी। और जब अगले वर्ष उसके बडे भाई की मृत्यु हो गयी, तब रामकृष्ण ने उक्त पद को स्वीकार करने का निश्चय कर लिया।



२ | माँ काली

उस समय माँ काली के पुरोहित की आयु केवल बीस वर्ष थी। वह यह न जानता था कि किस भयानक स्वामिनी की सेवा का भार उसने अपने ऊपर लिया है। वह देवी आनन्द मे गर्जना करती हुई सिंहनी के समान थी—जिसका गर्जन शिकार को मुग्ध कर लेता है। रामकृष्ण के सुदीर्घ दस वर्ष देवी की ज्योतिर्मय मूर्ति के चरणो मे सम्मोहित के समान व्यतीत हो गये। ग्राम करने से पूर्व मानो देवी उनके साथ क्रीडा कर रही थी। मन्दिर मे देवी के साथ रामकृष्ण अकेले ही रहते थे, यद्यपि चारो तरफ झंझावात बहता था। स्वप्नदर्शियो के दल के दल आते थे, और उनके उत्तप्त नि.श्वासो से उत्थित धूल-तरगो का प्रवाह द्वार मार्ग से आकर मन्दिर मे प्रवेश करता था। भगवत्प्रेम मे उन्मत्त[1] सभी तरह के असख्य मनुष्यो के तीर्थयात्रियो के दल, हिन्दू, मुसलमान, साधु, सन्यासी, फकीर, दरवेश व मुसाफिर वहाँ आते थे।

---

१ यह उन्मत्तगण बाइबिल मे वर्णित भगवद्-उन्मतो के समान थे। एकमात्र 'ओम्' का शब्द ही उन्हे नियन्त्रित रखता है। वे कभी नाचते थे, कभी हँसते थे, और कभी महामाया की जय-जयकार करते थे। उनमे अनेक सर्वथा नग्न थे, जो फेंकी हुई जूठन उठाकर खाते थे, राह मे फिरनेवाले कुत्तो के साथ रहते थे, वे वस्तुओ के बीच मे किसी प्रकार का भेद न देखते थे, और सब हालतो मे सर्वथा निर्लिप्त व निर्विकार रहते थे। उनमे अतीन्द्रिय साधक भी आते थे। सुरासेवी तान्त्रिक भी आते थे। रामकृष्ण उन सबको ही सतर्क तथा उद्विग्न चक्षुओ से और घृणा और आकर्षण के एक मिश्रण के साथ देखते थे। बाद मे उन्होने उनका व्यंग व रसिकता मिश्रित वर्णन किया है।

(श्री रामकृष्ण की जीवनी)

पाँच गुम्वदवाला यह एक विशाल मन्दिर था। प्रत्येक गुम्वद के ऊपर एक विशाल चूडाकलश था, गगा के किनारे से लेकर मदिर तक एक प्रशस्त आँगन था, जिसके दोनो तरफ छोटे-छोटे गुम्वदवाले बारह शिव-मन्दिर थे। प्रस्तर-निर्मित चतुष्कोण प्रागण के दूसरी तरफ राधाकृष्ण का एक और विशाल मन्दिर[1] था, जहाँ पर समस्त विश्व को एक साकेतिक मूर्तरूप दिया गया था :—स्वर्ग व मर्त्यलोक की शून्यता को व्याप्त करनेवाली त्रिशक्ति—प्रकृतिमाता (काली), परम पुरुप (शिव), और प्रेम (राधाकृष्ण) को प्रतीकरूप मे अकित किया गया था। तथापि इस स्थान की अधिष्ठात्री देवी काली थी।

मन्दिर के अन्दर काले पत्थर से बनी वह देवी मूर्ति, वहुमूल्य वनारसी साडी पहने हुए विश्वसम्राज्ञी इन्द्राणी के रूप मे निवास करती थी। वह शिव के भूलुण्ठित देह के ऊपर नृत्य कर रही थी, उसके दोनो वाम हस्तो मे से एक मे तलवार, दूसरे मे छिन्न मुण्ड था, और उसके दो दक्षिण करो मे से एक मे प्रसाद और दूसरे से 'मा भै' की वराभय मुद्रा थी। वह महाप्रकृति है—जो सृष्टि-स्वरूपिणी तथा प्रलयकरी दोनों ही है। यही नही, अपितु जिनके कान सुनने मे समर्थ हैं, उनके लिए वह उससे भी कही अधिक है। वह विश्व-जननी है। "वह सर्वशक्तिमयी मेरी जननी है, वह अपनी सन्तानो के सम्मुख विभिन्न रूपो व दिव्य अवतारो के रूप मे आत्मप्रकाश करती है।" वह दृश्यमान देवता है, जो अपने कृपापात्रो को अदृश्य ईश्वर की तरफ पथ-निर्देश करती हुई ले जाती है। "और यदि उसकी वैसी इच्छा हो तो वह समस्त सृष्टिभूतो के अहकार का अन्तिम चिह्न तक भी नष्ट करती है और उन्हे निर्विकार अगम्य ब्रह्म के चैतन्य मे विलीन कर

---

१ मन्दिर अव भी विद्यमान है। रामकृष्ण का निवास-स्थान प्रागण के उत्तर-पश्चिम कोण मे वारह मन्दिरो के ठीक पास मे ही था। उसके आगे एक वृत्ताकार वरामदा था। उसकी छत कई खम्भो पर टिकी हुई थी। पश्चिम दिशा से गगा की तरफ खुला था। एक सुवृहत् नाट्य मन्दिर भी था जिसके आगे प्रशस्त प्रागण था। दोनो तरफ अतिथिशालाएँ व देवताओ व अभ्यागन्तुको के लिए भोग-शालाएँ थी। पश्चिम मे यत्नपूर्वक सुरक्षित सुगन्धित पुष्पो से भरी छाया शीतल एक सुन्दर वाटिका थी, उत्तर और पूर्व मे दो पुष्करिणियाँ थी। उद्यान के एक तरफ पाँच वट के वृक्ष थे, जो कि रामकृष्ण की इच्छानुसार लगाये गये थे। वाद मे यह पाँचो वृक्ष पचवटी के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं। इस स्थान पर ही रामकृष्ण माँ की उपासना व ध्यान मे दिन व्यतीत करते थे। नीचे कलरव करती हुई गंगा वहती थी।

देती है। उसकी कृपा मे सीमाबद्ध अहम् असीम अहम्—आत्मा—ब्रह्म मे विलीन हो जाता है।"[१]

किन्तु अभी तक यह बीस वर्ष का तरुण पुरोहित, जिस स्थान पर सब सत्ताओ का सम्मिश्रण हो जाता है, उस अन्तरतम लोक तक, बुद्धि के वक्र पथ द्वारा भी नही पहुँच पाया था। तब तक वह उस स्थान से बहुत दूर था। उसके सम्मुख एकमात्र वही स्वर्गीय व मानवीय सत्ता अधिगम्य थी, जिसे वह देख, सुन व स्पर्श कर सकता था। इस बारे मे अन्य नर-नारियो से उसका कोई अन्तर नही था। भारतीय विश्वासी जनो को जिस धार्मिक दर्शन की प्राप्ति हुई है, उसकी यथार्थता योरोपीय विश्वासियो को अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होगी, कैथो-लिको की अपेक्षा प्रोटैस्टेण्ट ईसाइयो को वह और भी अधिक विस्मयकर प्रतीत होगी। इसके बहुत दिनो बाद जब विवेकानन्द ने रामकृष्ण से पूछा :

"क्या आपने भगवान् को देखा है?"

उत्तर मे रामकृष्ण ने कहा :

"मैं जिस प्रकार तुम्हे देख रहा हूँ, उसी तरह उसे भी देखता हूँ, पर केवल अधिक तीव्रतर रूप मे।" इसका अर्थ था कि अशरीरधारी व भावमय रूप मे नही। यद्यपि उस रूप मे भी भगवान् को देखने की चेष्टा और अभ्यास उन्होंने किया था।

और यह कुछ प्रेरणा प्राप्त मनुष्यो का ही विशेषाधिकार है, ऐसी बात नही है। प्रत्येक श्रद्धालु हिन्दू भक्त सहज मे ही यह अवस्था प्राप्त कर लेता है, आज भी उनमे सृजनात्मक जीवन का स्रोत पर्याप्त मात्रा में अविरल रूप से बह रहा है। मेरे एक बन्धु नेपाल की एक बुद्धिमती सुन्दरी शिक्षिता व तरुणी राज-कन्या के साथ एक मन्दिर मे गये थे। मन्दिर के बीच मे केवल एक दीपक जल रहा था। उसके निष्प्रभ आलोक मे उस कन्या को धूप व धूनी की गन्ध से मस्त निर्जनता मे उपासना के लिए अकेला छोडकर वे बाहर आ गये। बाद मे बाहर आने पर राजकन्या ने शान्त स्वर मे कहा :

"मैंने राम के दर्शन किये हैं।"

इसलिए कालीमाता को कृष्णत्वक्धारी शरीर के रूप मे देखे बिना रामकृष्ण कैसे रह सकते थे? वह दृश्यमाना थी। प्राकृतिक व ईश्वरीय शक्ति ने एक नारी के रूप मे मूर्तिलाभ किया था, जो इसी तरह मनुष्यो के साथ योग स्थापित करती है, वही काली है। अपने मन्दिर के अन्दर उसने रामकृष्ण को अपनी देह

---

२. रामकृष्ण।

की गन्ध से सम्मुख कर दिया, उसे अपने बाहुपाश मे आवेष्टित कर लिया और अपने जटिल केशजाल मे बन्दी बना लिया। वह अपने हास्यांकित मुख के साथ एक प्राणहीन मूर्तिमात्र न थी। सिर्फ शास्त्रीय प्रार्थनाओ से उसकी क्षुधा न मिट सकती थी। वह जीवित थी, श्वास-प्रश्वास लेती थी, शय्या त्याग कर उठती थी, भोजन करती थी, विहार करती थी और पुनः शयन करती थी। दिन के समय उसकी दिनचर्या के अनुसार मन्दिर मे उसकी सेवा का कार्य नियमित रूप से चलता था। प्रत्येक प्रात काल घंटा बजता था, आरती का दीपक जलता था। नाट्यमन्दिर मे शहनाई बजती थी, करताल और मृदंग बजते थे। माँ विनिद्र होकर उठ जाती थी। माँ के शृंगार के लिए उद्यान से गुलाब, रजनीगन्धा व चम्पक के फूल आते थे। प्रात. नौ बजे बाजे के साथ-साथ पूजा का घंटा बजता था, और माँ आकर उपस्थित हो जाती थी। दोपहर के समय, जब सूर्य प्रखर हो उठता, पुनः घण्टा बजता और माँ अपनी रजतशय्या पर शयन करने के लिए चली जाती।[1] सायंकाल छः बजे फिर घंटा बजता और माँ उपस्थित होती। सन्ध्या की आरती के दीपक के साथ-साथ वाद्यो की ध्वनि फिर बज उठती। शंख बजाये जाते, घण्टियाँ बजती। और रात्रि के नौ बजे इस वाद्य-ध्वनि के साथ ही माँ के शयन की घोषणा होती। माँ सो जाती।

रामकृष्ण सारा दिन माँ के आहार-विहार मे, उसके समस्त कार्यों मे उसके साथ ही साथ रहते। वही उसे वस्त्र पहनाते, उसके वस्त्र उतारते। वही उसे अर्घ्य चढाते, भोग लगाते। शयन-उत्थान सभी समय वह माँ के साथ ही साथ रहते। ऐसी दशा मे रामकृष्ण के हस्त, चक्षु और मन धीरे-धीरे देवी के रक्तमास के साथ घनिष्ठता सम्पादन किये बिना कैसे रह सकते थे? देवी का प्रथम स्पर्श रामकृष्ण के हाथ मे दशन के समान लगा—और उस दशन ने उन्हे हमेशा के लिए माँ से संयुक्त कर दिया।

किन्तु प्रथम दशन के बाद देवी अन्तर्हित हो गयी और रामकृष्ण से दूर-दूर रहने लगी। देवी ने रामकृष्ण को प्रेम का दशन देकर, पाषाण के आवरण मे आत्मगोपन कर लिया। उसे संजीवित करने की रामकृष्ण की सारी चेष्टाएँ बेकार गयी। मूक देवी की कामना दिन-रात उसे जलाने लगी। देवी का स्पर्श पाने के लिए उसके आलिंगन के लिए, एक बार उसकी दृष्टि, उसका निःश्वास, उसका मधुर हास्य, यहाँ तक कि जीवन का कोई भी चिह्न देखने के लिए रामकृष्ण ने अपने जीवन की सारी चेष्टाएँ लगा दी। उन्हे अपने अस्तित्व का यही

---

१ मन्दिर के उत्तर-पश्चिम कोण मे

एकमात्र लक्ष्य प्रतीत होने लगा। उद्यान के वनाकीर्ण भाग मे रामकृष्ण उन्मत्त की भाँति पृथ्वी पर लोटते हुए, ध्यान मे मग्न रहने लगे, प्रार्थना करने लगे और अपनी देह के सब कपडे, यहाँ तक कि यज्ञोपवीत भी जिसे कि ब्राह्मण किसी अवस्था मे भी अपने शरीर से अलग नही करते, उन्होने चिथडे-चिथडे करके फेक दिया। माँ के प्रेम ने ही उन्हे यह शिक्षा दी कि मनुष्य तब तक भगवान् का ध्यान नहीं कर सकता, जब तक कि वह सब पूर्व-सस्कारो से मुक्त नही हो जाता। दिशा भूलकर भटकते हुए बालक के समान माँ को देखने के लिए आतुर रामकृष्ण व्याकुल होकर 'माँ माँ' पुकारने लगे। धीरे-धीरे वह और भी अधिक उन्मत्त हो गये—और अन्त मे अपने ऊपर उनका कोई वश न रहा। हताश होकर वह यात्रियो के सामने भूमि में लोट-लोटकर रोने लगे, और इस प्रकार वे दया, विद्रूप और यहाँ तक कि निन्दा के पात्र भी हो गये। किन्तु रामकृष्ण को इसकी तनिक परवाह न थी। उन्हे केवल एक ही वस्तु की चाहना थी। वे जानते थे कि वे परमानन्द के कूल पर पहुँच चुके हैं, केवल एक सूक्ष्म आवरण ने बीच मे रुकावट खडी की हुई है, परन्तु वह आवरण अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी वे उसे छिन्न-भिन्न न कर पाते थे। भावावेश को किस प्रकार नियन्त्रित करना चाहिए, इसकी रीति वे न जानते थे, यद्यपि भारत के धर्मज्ञानियो ने चिकित्साशास्त्र व धर्मशास्त्र के समान ही उसकी रीतियाँ भी अनेक शताब्दियो से विस्तारपूर्वक लिपि-बद्ध कर रखी थी। और इसीलिए वे उग्र सन्निपात रोगी के समान दिशाज्ञान-शून्य होकर इधर-उधर पथ की खोज मे भटकते फिरते थे। भावोच्छ्वास के सम्पूर्ण-तया अनियन्त्रित हो जाने पर रामकृष्ण की मृत्यु की भी सभावना हो सकती थी। बहुत से अनभिज्ञ योगियो को, जो इस पिच्छल मार्ग द्वारा अग्रसर हुए हैं, मृत्यु का सामना करना पडा है। रामकृष्ण को इस दिग्भ्रान्त उन्मत्त की अवस्था मे जिन्होंने देखा है, उनका कथन है कि रामकृष्ण का मुखमण्डल और वक्ष.स्थल रुधिर से लाल हो उठता था, दोनो नेत्रो से अविरल अश्रुधारा बहती थी, और उनका सर्वाङ्ग कम्पित रहता था। वे सहन-शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गये थे। इस अवस्था मे पहुँच जाने पर मूर्च्छारोग के सर्वव्यापी अन्धकार मे गिर जाने अथवा दिव्य दर्शन का आलोक प्राप्त करने के अतिरिक्त अन्य कोई तीसरा विकल्प नहीं है।

अन्त मे, अकस्मात् ही आवरण खिसक गया और रामकृष्ण को दर्शन हुए। उसकी कहानी मैं उन्ही के शब्दो मे कहूँगा।[1] हमारे योरोप के भगवत्-उन्मत्त

---

१. मैंने इस वर्णन के लिए स्वय रामकृष्ण द्वारा वर्णित तीन पृथक् वर्णनो की

द्रष्टाओ के समान उनका उदात्त कण्ठस्वर भी हमारे कानो मे ध्वनित हो रहा है :

"एक दिन मैं असह्य यन्त्रणा से व्याकुल हो रहा था । मेरा हृदय जैसे गीले वस्त्र को ऐंठा जाता है, उसी प्रकार ऐंठने लगा ।—मैं पीडा से वेचैन हो गया । मेरे मन मे यह भाव उठने के साथ ही कि मैं अब कभी देवी के दर्शन न पा सकूंगा—एक भयानक पागलपन मुझ पर सवार हो गया । सोचने लगा, यदि यही होना है तो जीवन से क्या लाभ है ? देवी के मन्दिर मे तलवार झूल रही थी । वह दिखाई पडी और उसके साथ ही विद्युत् के समान एक विचार मेरे मन मे खेल गया । 'खड्ग ! इस खड्ग से ही मैं अपने जीवन का अन्त कर दूँगा ।' मैंने एकदम दौडकर उन्मत्त के समान तलवार अपने हाथ मे ले ली ।···और आश्चर्य कि एक क्षण मे मेरे आगे दरवाजा, जगला, यहाँ तक कि मन्दिर पर्यन्त समस्त दृश्य विलुप्त हो गया·· ऐसा प्रतीत होने लगा, कि किसी वस्तु का भी अस्तित्व नही रहा है । उसके स्थान मे मुझे केवल एक असीम ज्योतिष्मान् आत्मा का महासमुद्र दिखाई देने लगा । जिधर भी देखता, उधर ही वही ज्योतिर्मयी तरगे उठती दिखाई देती थी । और वह तरगमाला गर्जन करती हुई मुझे ग्रास करने के लिए वढी चली आ रही थी । एक-क्षण मे तरगो ने मुझे चारो तरफ से घेर लिया, मेरे ऊपर थपेडे मारने लगी—और मुझे अपने अन्दर निमग्न कर लिया । मेरा श्वास रुक गया । मैं सज्ञाहीन[1] होकर भूमि पर गिर पडा । ··वह दिन, और उससे अगला दिन मेरा किस तरह कटा यह मैं नही जानता । मेरे चारो तरफ एक अक्षय आनन्द का समुद्र निरन्तर डोलने लगा । अपनी आत्मा के अन्दर मैं यह अनुभव करने लगा कि देवी माँ वहाँ विराजमान हैं ।"

यहाँ यह वात ध्यान देने योग्य है कि इस सुन्दर वर्णन के बीच अन्त के सिवाय देवी माँ का कही उल्लेख नही है, वह महासमुद्र मे ही विलीन थीं । रामकृष्ण के शिष्यो ने वाद मे उनसे पूछा कि क्या उन्होंने सचमुच ही माँ को देखा

सहायता ली है । इन तीनो मे एक ही कहानी वर्णित है । परन्तु प्रत्येक कहानी अपने किसी विशेष विशद् विवरण द्वारा अन्य दोनो को समृद्ध वनाती है ।

१ पुस्तक मे ठीक इस प्रकार है "मेरी प्राकृतिक चेतना विनष्ट हो गयी ।" यह वात महत्त्वपूर्ण है, क्योकि शेष कहानी से यह प्रकट होता है कि दूसरी तरफ आन्तरिक जगत् का एक अन्य उच्चतर चैतन्य अत्यन्त तीव्रता के साथ दृष्टिगोचर हो रहा था ।

था ? उत्तर मे उन्होंने रामकृष्ण के ही शब्दों को उद्धृत कर दिया है। 'उन्होंने कोई उत्तर नही दिया, परन्तु भावावेश से मुक्त होकर प्रकृतिस्थ होने पर उन्होंने अभियोग के स्वर मे केवल इतना ही अस्फुट स्वर मे कहा था 'माँ...माँ' ।[1]

यदि उद्दण्डता को क्षमा करे, तो मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि मेरा अपना व्यक्तिगत विचार यह है कि उन्होंने ऐसा कुछ नहीं देखा था। केवल देवी के सर्वव्यापी अस्तित्व का ही उन्हे बोध हुआ था, और महासमुद्र को ही उन्होंने 'माँ' कहकर पुकारा था। एक छोटे से दृष्टान्त के रूप मे उनके दर्शन को, एक प्रकार का स्वप्न कहा जा सकता है, जिसमे मनुष्य का मन एक सर्वथा विभिन्न प्रकार की वस्तु को भी अपने विचार मे घूमनेवाली किसी सत्ता का नाम दे देता है, और उसमे किसी प्रकार की विषमता या विरोध का अनुभव नहीं करता। हमारी प्रीति का पात्र समस्त पदार्थों मे ही विद्यमान है, आकार की भिन्नता उसके बाह्य आवरणमात्र है। जिस महासमुद्र ने रामकृष्ण को आप्लावित किया था, उसके तट पर मैं एविला की सेण्ट थेरेसा को अवस्थित देखता हूँ। सेण्ट थेरेसा ने भी पहले इसी प्रकार का अनुभव किया था, उसने अपने-आपको चारो तरफ से आक्रान्त हुआ अनुभव किया था। बाद मे अवश्य उसे अपने ईसाई विश्वास और सतर्क पथदर्शको के कठोर तिरस्कार से विवश होकर अपनी अनुभूति व धारणा के विरुद्ध ईश्वर को मानवपुत्र ईसा की मूर्ति तक ही सीमित रखना पडा।[2]

---

१ स्वामी सारदानन्द रचित 'महाप्रभु रामकृष्ण' द्वितीय खण्ड। यह पुस्तक सन् १९२० मे मद्रास के मैलापुर रामकृष्ण मठ से प्रकाशित हुई थी। सारदानन्द श्री रामकृष्ण के अन्तरगो मे से थे। रामकृष्ण के समान ही वे भारतीय धार्मिक व दार्शनिक पुरुषो मे अन्यतम थे। उनकी लिखी हुई रामकृष्ण की जीवनी जिस प्रकार कौतूहलोद्दीपक है, उसी प्रकार विश्वास योग्य भी है। किन्तु दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ पूर्ण नही हो सका है।

२ थेरेसा ने भी जब इस अदृश्य शक्ति का आकस्मिक प्लावन व आक्रमण अनुभव किया था, तब वह अत्यन्त दुर्बल थी। परन्तु बाद में सालसेडो और गास्पर्ड डाजा के कठिन निर्देशो से बाध्य होकर, पर्याप्त कष्ट सहन का मूल्य चुकाने पर उसे असीम ईश्वर को ईसा के शरीर की सीमाओ मे बाँधना पडा।

इसके अतिरिक्त, रामकृष्ण के भावावेश मे जो कुछ घटित हुआ था, वह सब स्वाभाविक रूप से ही हुआ था। इस विषय मे मिस्टर स्टारबाक ने

परन्तु प्रेमी रामकृष्ण को अपनी मानसिक रुचि के विरुद्ध सग्राम नही करना पडा, अपितु इसी मानसिक वृत्ति ने उन्हे निराकार से, अपने प्रेम-पात्र की साकार मूर्ति तक पहुँचा दिया। वे यही चाहते थे, कारण, एक वार उसे देख चुकने व अपने अन्दर धारण कर लेने के वाद, उसे छोडकर एक क्षण भी जीवित रहना उनके लिए सभव न था। उस दिन से लेकर यदि वे इस दिव्य दर्शन को निरन्तर नित्य नूतन रूप मे न देख पाते तो उनकी मृत्यु हो जाती। इसके बिना उनके लिए समस्त विश्व ही निष्प्राण व मृत के समान था, और जीवित मनुष्य निरर्थक परछाइँ या पर्दे पर अकित निस्सार मूर्तियो के समान थे।

परन्तु जिसने भी असीम का दर्शन किया है, उसे उसका दण्ड भी भुगतना पडा है। प्रथम दर्शन का प्रभाव इतना भयकर था कि रामकृष्ण का शरीर कई दिन तक कम्पमान अवस्था मे ही रहा। अपने चारो ओर रहनेवालो को वे अग्नि स्फुलिगो से युक्त द्रवीभूत चाँदी की तरगो के एक उडते हुए कोहरे के पर्दे मे से

The Psychology of Religion (धर्म का मनोविज्ञान) मे जो सब तर्क और युक्ति सग्रहीत किये हैं वह द्रष्टव्य हैं। मिस्टर विलियम जेम्स ने भी उसी सग्रह का व्यवहार किया है। प्रायः प्रत्येक वार यह देखने मे आया है कि जब चेष्टाओ का अन्त हो जाता है, तभी वेदना के बीच से आत्मा की विजय होती है। निराशा ही पुरातन आत्मा को विनष्ट करके नूतन आत्मा का पथ निर्देश करती है।

और यह भी देखने योग्य है कि समस्त दिव्य दर्शन प्रायः आलोक और सामुद्रिक आप्लावन द्वारा ही प्रकट होते हैं। मिस्टर विलियम जेम्स रचित 'Varieties of Religious Experiences' (धार्मिक अनुभूतियो के प्रभेद) मे प्रेजीडैण्ट फेनी के दिव्यदर्शन का वर्णन इस वारे मे पढने योग्य है :

"सचमुच ऐसा प्रतीत होता था कि द्रवीभूत प्रीति के समुद्र की तरगो पर तरगे थपेडे मार रही हैं।...यह तरगमाला एक के वाद एक वार-वार मेरे ऊपर आक्रमण करने लगी, यहाँ तक कि इसने मुझे निमग्न कर लिया और अपना ग्रास वना लिया। अन्त मे किसी तरह साहस करके चिल्लाया 'हे ईश्वर! मैं और सहन नही कर सकता, यदि ये तरगे इसी तरह मेरे ऊपर से गुजरती रहेगी तो मैं वच न सकूँगा' तथापि मुझे मृत्यु का भय न था।"

इसके साथ टामस फ्लोर्नो द्वारा सग्रहीत व वर्णित रहस्यवादी साधको की चमत्कारिक कहानियाँ भी पठनीय हैं।

देखते थे। अपनी आँखो, देह और मन के ऊपर उनका कोई काबू न रहा। कोई अन्य शक्ति ही उन्हे चालित कर रही थी। इस प्रकार एक भयानक हालत मे उनका समय गुजरने लगा। उन्होंने माँ से सहायता की प्रार्थना की।

इसके बाद अचानक ही उनको समझ मे आ गया। माँ ने उनके अन्दर प्रवेश किया है। उन्होंने विरोध समाप्त कर दिया। "Fiat voluntas tua!" (तेरी ही इच्छा पूर्ण हो।) माँ ने उन्हे पूर्णतया व्याप्त कर लिया था। और उस कोहरे मे धीरे-धीरे देवी माँ की शरीरधारी मूर्ति प्रकट हुई, पहले एक साथ, फिर उसका प्रश्वास, उसका शब्द और अन्त मे उसकी पूर्ण देह प्रकट हुई। नीचे कवि के सैकडो आश्चर्यमय दिव्यदर्शनो मे से एक का वर्णन है :—

सन्ध्या का समय था। दिन के सब अनुष्ठान समाप्त हो चुके थे। 'माँ' सो गयी है, यह सोचकर रामकृष्ण मन्दिर के बाहर आकर गगा के किनारे अपने कक्ष मे आ गये। परन्तु उन्हे नीद नही आयी। उन्हे कुछ आहट सुनाई दी, उन्होंने ध्यान से सुना, देखा, माँ शय्या त्याग करके उठ खडी हुई है, और एक युवती बालिका के समान प्रसन्न मुद्रा मे मन्दिर की ऊपरली मजिल पर चढ गयी है। जब वह चलती थी, उसके चरणो के नूपुर बज उठते थे। रामकृष्ण को आश्चर्य हुआ कि क्या वह स्वप्न देख रहे हैं? उनका दिल धक्-धक् करने लगा। वह बाहर आँगन मे आ गये और सिर उठाकर ऊपर देखने लगे। उन्होंने देखा, माँ के केश खुले हुए है, और वह पहली मजिल के बरामदे मे खडी हुई, इस सुन्दर रजनी मे कलकत्ते के दीपको के प्रकाश की तरफ बहती हुई जाह्नवी की जलधारा को निहार रही है।

उस दिन से रामकृष्ण के दिन-रात निरन्तर माँ के सहवास मे ही कटने लगे। नदी की जलधारा के समान उनका भावविनिमय निरवच्छिन्नरूप से जारी रहने लगा। अन्त मे रामकृष्ण माँ के साथ एकाकार हो गये और धीरे-धीरे उनकी अन्तर्दृष्टि की आलोक-प्रभा बाहर भी प्रकट होने लगी। अन्य व्यक्ति जो उनकी तरफ देखते थे, उन्हे भी वही वस्तु दिखाई देने लगती जिसे वे खुद देखते थे। उनका शरीर एक प्रकार का झरोखा बन गया था, जिसमे से नाना देवताओ के रूप दृष्टिगोचर होते थे। एक दिन मन्दिर की प्रतिष्ठात्री रानी रासमणि के जामाता माथुर बाबू रामकृष्ण के कक्ष के ठीक विपरीत दिशा मे अवस्थित अपने कक्ष मे बैठे हुए थे। वे ओट मे बैठकर रामकृष्ण की तरफ देख रहे थे। रामकृष्ण बरामदे मे इधर-उधर टहल रहे थे। माथुर बाबू अकस्मात् ही चीत्कार कर उठे, क्योकि उन्होंने देखा कि एक तरफ जाते हुए रामकृष्ण शिव का रूप

धारण किये दिखाई देते हैं, और दूसरी तरफ जाते समय काली के रूप मे दिखाई देते हैं।

वहुत से लोगो के निकट रामकृष्ण का यह प्रेमोन्माद एक अत्यन्त निन्दास्पद वस्तु थी। वह मन्दिर के नैत्यिक अनुष्ठानो को अव ठीक प्रकार नही कर पाते थे। अनुष्ठान के वीच मे ही वे अकस्मात् सज्ञाहीन होकर पृथ्वी पर लोटने लगते थे। उनके अग-प्रत्यगो के सधिस्थल पत्थर के समान कठोर हो जाते। और कभी-कभी वे देवी के साथ इस प्रकार घनिष्ठता का व्यवहार करते कि जो देखने मे अत्यन्त विस्मयकारी प्रतीत होता।[1] उनकी दैहिक चेष्टाएँ कभी-कभी सामयिक रूप से रुक जाती। उनके नेत्रो के पलक गिरने वन्द हो जाते। वे खाना-पीना वन्द कर देते। उनका एक भतीजा इन दिनो उनके साथ रहता था। यदि वह इस समय रामकृष्ण की अपरिहार्य आवश्यकताओ की तरफ उचित ध्यान न देता तो उनकी मृत्यु निश्चित थी। इस हालत मे उसके परिणामस्वरूप होने वाले कुफल भी दृष्टिगोचर होने लगे। पश्चिम-देशीय द्रष्टाओ को भी यह सव कुफल भोगने पडे हैं। उनके शरीर को भेदन करके रुधिर के छोटे-छोटे कण चूने लगे। ऐसा प्रतीत होने लगा कि उनका सारा शरीर आग मे जल रहा है। उनकी आत्मा एक प्रज्वलित अग्नि-कुण्ड के समान थी, जिसमे से ऊँचे उठती हुई अग्नि-शिखाएँ एक-एक देवता के सदृश थी। कुछ काल के वाद जव वे अपने आस-पास के सव मनुष्यो मे भी देवता के ही दर्शन करने लगे, तो वे स्वय भगवान् रूप हो गये। (एक वेश्या मे उन्होंने सीता के और एक पेड के सहारे पैर के ऊपर पैर रखकर खडे हुए अँग्रेज मे श्रीकृष्ण के दर्शन किये थे।) काली, राम, श्रीकृष्ण की प्रेमिका राधा,[2] सीता और महावीर हनुमान्[3] सभी

---

१ जिन सब पृष्ठपोषक सहायको ने विश्वासपूर्वक इनकी इन सव आक्रमणो से रक्षा की थी, उनके प्रति भी वे किसी प्रकार का पक्षपात न दिखाते थे। एक दिन जव मन्दिर की प्रतिष्ठात्री, धनी भक्त, रानी रासमणि उनके साथ प्रार्थना कर रही थी, उसका ध्यान कही वाहर चला गया। रामकृष्ण ने फौरन उसके मन के विचारो को ताड लिया और सवके सामने ही उसका तिरस्कार करने लगे। यह देखकर सभी उपस्थित जन विक्षुब्ध व उत्तेजित हो उठे, परन्तु रासमणि शान्त रही। उसने सोचा कि साक्षात् माँ ही उसका तिरस्कार कर रही है।

२ वाद मे रामकृष्ण ने छ महीने के लिए कृष्ण-प्रेमिका गोपी का रूप धारण किया था।

३ रूप ग्रहण का यह क्रम अत्यन्त सुन्दर है। पहले उन्होंने रामचन्द्र जी के

का रूप उन्होंने धारण किया। समस्त देवताओ को आत्मसात् करने की यह एक अतृप्त उत्कट लालसा थी—आवेगो की ताडना से उन्मत्त तथा भयकर तरगाघातों से प्रताडित दोलायमान आत्मा का प्रलाप था जिसका न कोई निर्देशक था, न नियन्त्रक था। मैं इस पर हल्के हृदय से कोई आलोचना नही करना चाहता। वाद में देवताओ ने भी अवश्य अपना वदला चुकाया, वे सभी रामकृष्ण को अपना ग्रास वनाने को उत्सुक हो गये। मैं अपने पश्चिमीय पाठको को किसी प्रकार का धोखा नही देना चाहता। इस भगवत्-उन्मत्त को पागलखाने मे पहुँचाना उचित था या नही, यह वे स्वय ही विचार करेंगे। इस वारे मे अपना[1] मत देने की मेरे समान ही उन्हे भी स्वतन्त्रता है। कारण, पागलखाने मे भेजने के पक्ष मे भी कुछ युक्तियाँ पाई जा सकती हैं। और तो क्या, भारतवर्ष के भी कुछ श्रद्धेय साधु व्यक्तियो ने इसके पक्ष मे अपना मत प्रकट किया था। उस समय रामकृष्ण ने धैर्य के साथ अपने-आपको चिकित्सको के हाथ मे सौंप दिया था, और उनके सव व्यर्थ उपचारो व आदेशो का पालन किया था। वाद मे जव रामकृष्ण अपने अतीत के दिनो की वाते याद किया करते थे, और जिस अगाध गर्त से वे वचकर निकल आये थे उसका अन्दाजा

सेवक हनुमान् से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे उन्ही के द्वारा राम रूप धारण किया। इसके फलस्वरूप, जैसा कि उनका अपना विश्वास था, उन्हे सीता के दर्शन हुए। इस वार उन्होंने नेत्र वन्द किये विना दिव्य दर्शन लाभ किया। इसके वाद भी उन्होंने जो दर्शन प्राप्त किये, वे भी इसी प्रकार विभिन्न स्तरों के द्वारा प्राप्त किये। पहले उन्होंने मूर्तियो को वाहर प्राप्त किया, वाद मे वे मूर्तियाँ उनके अन्दर आ गयी। और अन्त मे वे उनके साथ एकरूप हो गई। यह अक्लान्त सृजन कार्य अत्यन्त विस्मयकर प्रतीत होता है। परन्तु उन जैसी रूप-कलाकार प्रतिभा के लिए यही स्वाभाविक है। वे जिस क्षण भी किसी विचार को किसी मूर्ति मे प्रत्यक्ष देखना चाहते थे, उसी क्षण वह मूर्तिमान् हो उठता था। मानो रामकृष्ण इस सतत चित्र रचना के समय एक शेक्सपीयर की अन्तरतम सत्ता मे वास करते थे।

१. मैं यह वात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यहाँ तक पहुँचकर मैंने पुस्तक रचना वन्द कर दी थी—और वाद मे रामकृष्ण ज्ञान के जिस उच्च शिखर पर पहुँच गये थे, उसका कोई संकेत यदि मुझे न मिलता, तो संभवतः इस पुस्तक की रचना का कार्य वहुत काल तक वन्द ही पडा रहता।

करते थे, तब वे अवाक् होकर सोचने लगते थे कि वे पागल होने व काल का ग्रास बनने से कैसे बच गये।

किन्तु पागल होने के स्थान पर रामकृष्ण एक विजयी के समान गौरव के साथ 'झझा के अन्तरीप' की प्रदक्षिणा करके वापस आ गये। हमारे लिए यह एक असामान्य वस्तु होने के साथ ही एक मूल्यवान् वस्तु भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामकृष्ण को अपने उच्चतर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए इस मतिभ्रम की भी एक सीढी के रूप मे आवश्यकता थी। इस सीढी के द्वारा ही उनकी आत्मा पूर्ण आनन्द और सुसगत शक्ति के बीच से मानव-कल्याण के लिए एक प्रचण्ड वास्तविकता मे परिणत हो सकी। यह एक ऐसा विषय है, जो मन और शरीर दोनो के ही चिकित्सको को खोज के लिए प्रलुब्ध करता है। ऊपर की नजर से देखने पर, उनके समस्त मानसिक सगठन का जो विध्वस, और मन के मूलतत्त्वो का जो स्थानभ्रश प्रकट रूप मे दिखाई देता है, उसे प्रमाणित करना भी विशेष कठिन नही है। परन्तु वे पुन. किस तरह से एकत्र होकर एक उच्चतम श्रेणी की पूर्णसत्ता के रूप मे परिणत हो गये ? किस प्रकार यह विध्वस्त गृह केवल इच्छा-शक्ति से ही एक नवीन प्रासाद के रूप मे खडा हो गया ? हम आगे चलकर देखेंगे, कि रामकृष्ण ने अपने पागलपन और बुद्धि—भगवान् और मनुष्य दोनो के ऊपर ही समान रूप से आधिपत्य स्थापित कर लिया। कभी वह अपनी आत्मारूपी समुद्र के गंभीर द्वार मुक्त कर देते थे, और कभी वह एक आधुनिक सुकरात के समान अपने शिष्यो के साथ हँसते हुए व्यगमिश्रित ज्ञान और सद्भावनापूर्ण वार्तालाप मे निमग्न हो जाते थे।

परन्तु सन् १८५८ मे, जिस समय की घटनाओ का मैंने यहाँ वर्णन किया है, रामकृष्ण ने वह प्रभुत्व प्राप्त नही किया था। अभी उन्हे बहुत लम्बा मार्ग तय करना बाकी था। मैंने इस स्थान पर रामकृष्ण की मृत्यु का जो इगित दिया है, वह अपने योरोपीय पाठकगण को उनके प्रथम निर्णय के विरुद्ध सतर्क करने के लिए ही किया है, क्योकि मेरा भी पहले वही निर्णय था।

इसके लिए धैर्य की आवश्यकता है। आत्मा के कार्यकलाप अत्यन्त गूढ व हैरान करनेवाले हैं। हमे धैर्यपूर्वक अन्त की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

वस्तुत इस समय भगवत्पथिक रामकृष्ण अन्धे के समान आँखे बन्द करके चल रहे थे। उनका कोई पथप्रदर्शक उनके साथ न था। वे सीधे पथ को छोड कर काँटो की बाड फाँदकर, आगे बढना चाहते थे, और इसी लिए खन्दको मे गिर पडते थे। जो भी हो, तो भी वह आगे बढ़ते रहे। जितनी दफे भी वे ठोकर

खाकर जमीन पर गिर पडे, उतनी दफे ही वे उठ खडे हुए और फिर आगे चलने लगे ।

इससे यह कल्पना न करनी चाहिए कि वे दाम्भिक या दुराग्रही थे । वे अत्यन्त ही सरल व्यक्ति थे । यदि उन्हें कोई कहता कि वे रोगग्रस्त हैं, तो वे फौरन उससे उसकी औषधि पूछते, और उसे इलाज करने से कभी न रोकते ।

कुछ समय के लिए उन्हे अपने घर कामारपुकुर भेज दिया गया । उनकी माता ने उनका विवाह करने की इच्छा प्रकट की, कारण उसने सोचा कि शायद इससे ही उनका भगवत्-उन्माद शान्त हो जाये । रामकृष्ण ने कोई आपत्ति नही की । वल्कि यह सुनकर उन्होंने एक निर्दोष आनन्द का अनुभव किया । परन्तु यह एक कैसा विचित्र विवाह था ! देवी के साथ उनका जो सम्बन्ध था, उसकी अपेक्षा यह अधिक वास्तविक न था । (वल्कि अल्प ही वास्तविक था ।) उनकी पत्नी उस समय (१८५९) केवल पाँच वर्ष की वालिका थी । मैं यह अनुभव करता हूँ कि मेरे पाश्चात्य पाठको को यह पढकर वड़ा धक्का पहुँचेगा । परन्तु पहुँचने दो । वाल्य-विवाह की भारतीय प्रथा की योरोप व अमेरिका मे प्रायः ही निन्दा की जाती है । हाल ही मे मिस मेयो ने यह निन्दा की जयध्वजा फहराई है, यद्यपि यह सर्वथा चिथडे-चिथडे हो चुकी है । कारण, भारत के श्रेष्ठ विचारकगण—रवीन्द्रनाथ, गान्धी[1]—एव ब्रह्म समाज आदि सभी ने काफी पहले से ही इस प्रथा की निन्दा की है । और असल मे इस प्रथा को वास्तविक विवाह कहने की अपेक्षा, एक वैवाहिक अनुष्ठान कहना ही अधिक उपयुक्त है । पश्चिमदेशीय वाग्दान की प्रथा के समान, यह भी सीधा-सादा, सरल धर्मानुष्ठान

---

१. गान्धीजी वाल्य-विवाह के वारे मे पूर्ण अभिज्ञता रखते हैं । कारण वे उन वालको मे से एक हैं, जिन्होंने वाल्य-विवाह की अकाल पक्व अभिज्ञता के जटिल प्रश्न को जीवन पर्यन्त जीवित रखा है । वे वाल्य-विवाह की कुप्रथा के नितान्त निन्दक थे । तथापि, उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि कुछ 'अपवाद स्वरूप' धर्म व नीतिपरायण मनुष्यो के पक्ष मे इस वाल्य-विवाह के अत्यन्त विशुद्ध व लाभकारी फल भी दृष्टिगोचर होते हैं । वयस्कता की अवस्था मे जो अस्वास्थ्यकर विचार नवयुवको व नवयुवतियो के मनो को प्रायः विकृत करते हैं, उनको यह दूर करता है और स्त्री-पुरुष के मिलन को एक पवित्र वन्धुत्व का रूप देता है । जिस वालिका के साथ गान्धीजी के भाग्य का गठवन्धन हुआ था, उसने उनके जीवन के कठिन अवसरो पर उनकी जो अमूल्य सहायता की थी, वह किसी से छिपी नही है ।

मात्र है। वास्तव मे दोनो के यौवन लाभ कर लेने से पूर्व तक यह पूर्ण नही होता। मिस मेयो की दृष्टि मे रामकृष्ण का विवाह तो एकदम ही निन्दनीय था। पाँच वर्प की बालिका के साथ तेईस वर्ष के युवक का विवाह ! यह सुनकर जिन्हे लज्जा अनुभव होती है, वे जरा शान्त होकर देखे ! यह विवाह दो आत्माओ का विवाह था। यौन मिलन की दृष्टि से यह विवाह हमेशा के लिए ही अपूर्ण था। 'अर्ली चर्च' के दिनो मे जिसे ईसाई विवाह कहकर पुकारा जाता था—वैसा ही यह विवाह है। बाद मे रामकृष्ण का यह विवाह एक सुन्दर वस्तु मे परिणत हो गया। फल के द्वारा ही वृक्ष को पहचाना जाता है। इस विवाह का फल दिव्य फल था—विशुद्ध निष्काम प्रेम। बालिका सारदामणि[1] एक वयस्क बन्धु की विशुद्धमति श्रद्धास्पदा भगिनी के रूप मे परिणत हो गयी—जो कि रामकृष्ण की सब परीक्षाओ और विश्वासो मे उनकी निष्कलक सहचरी थी। रामकृष्ण के शिष्य, उनके नाम के साथ, शारदामणि को भी माँ[2] के पवित्र नाम से पुकारते थे।

विवाह-सस्कार का अनुष्ठान हो जाने के बाद प्रथानुसार बालिका शारदामणि को उसके माता-पिता के घर भेज दिया गया, और आठ या नौ वर्ष की एक लम्बी अवधि तक वह अपने पति को न देख सकी। इस बीच मे रामकृष्ण ने अपनी माता के पास रहकर कुछ शान्ति व स्वास्थ्य लाभ कर लिया है, ऐसा प्रतीत होने लगा, और वे फिर मन्दिर मे आ गये।

परन्तु काली रामकृष्ण की प्रतीक्षा मे ही थी। मन्दिर के दरवाजे मे प्रविष्ट होते ही रामकृष्ण के अन्दर पूर्वापेक्षा भी अधिक वेग से भावोन्माद दिखाई दिया। नेसास[3] की पोशाक पहने हुए हरक्युलीस के समान वह एक जीवित चिता मे

---

१. शारदामणि के पितृकुल की पदवी मुखोपाध्याय थी। बाद मे वह शारदा देवी के नाम से विख्यात हुई।

२ उसे 'माँ' कहकर ही पुकारा जाता था। श्रेष्ठवशीय भारतीय लोगो मे उमर मे छोटी होने पर भी स्त्रियो को माँ कहकर सम्बोधन करने की सुन्दर प्रथा चिरकाल से चली आ रही है।

३ हरक्युलीस ग्रीक पुराणो मे वर्णित सर्वश्रेष्ठ वीर हुआ है। यह पुराण मे वर्णित कहानी के अनुसार देवपुत्र कहलाता है। इसकी दूसरी पत्नी डिआनेरा, कैलीडन के राजा एनिउस की कन्या थी। पतिगृह को जाते हुए डिआनेरा का मार्ग मे नेसास राक्षस से साक्षात्कार हुआ। डिआनेरा के रूप पर

वास करने लगे। देवताओ की फौजो ने तूफान के समान उन पर आक्रमण किया। रामकृष्ण छिन्न-भिन्न हो गये। उनकी उन्मत्तता दसगुनी होकर वापस लौट आयी। उन्होंने देखा कि उनके बीच से राक्षसगण बाहर निकल रहे हैं। पहले पाप का प्रतीकरूप एक कृष्णमूर्ति दानव बाहर आया। इसके बाद एक सन्यासी आया, जिसने देवदूत के समान उस पाप की हत्या कर दी। (हम भारतवर्ष मे हैं,या आज से सहस्र वर्ष पूर्व के किसी पाश्चात्य ईसाई मठ मे हैं ?) रामकृष्ण निस्तब्ध व निश्चल बने रहे। अपने शरीर से निकलती हुई उन सब वस्तुओ को वे प्रत्यक्ष देखने लगे। भय से उनके सब अग अवश हो गये। और फिर एक बार दीर्घकाल तक उनके नेत्रो के पलक गिरने बन्द हो गये।[1] उन्माद रोग के लक्षण दिखाई दे रहे हैं, रामकृष्ण ने ऐसा अनुभव किया। भयभीत होकर एक बार फिर वह माँ

मुग्ध होकर नेसास ने उनके साथ बलात्कार करने की चेष्टा की। इसके फलस्वरूप हरक्युलीस ने विषाक्त बाण से नेसास की हत्या कर दी। मरते समय नेसास ने डिआनेरा को अपने रुधिर की सावधानी से रक्षा करने को कहा। उसने कहा इस रक्त मे वस्त्र रँगकर किसी के पास भेजने से, वह अपनी प्रेमिका का अनादर नही कर सकता।

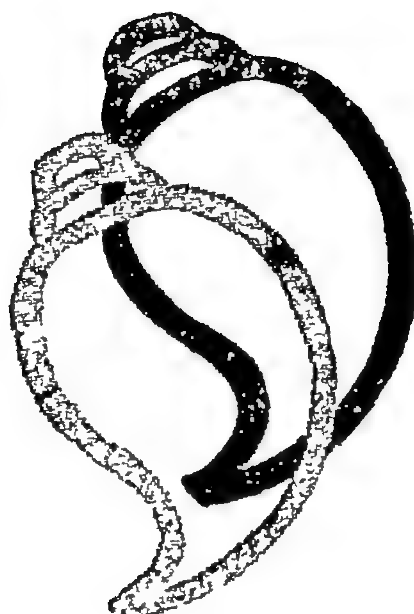
बाद मे हरक्युलीस एकलिया के राजा इउरिटस की कन्या इअल के प्रेमपाश मे फँस गया। डिआनेरा ने यह समाचार सुनकर नेसास के रक्त मे भीगा हुआ एक वस्त्र अपने स्वामी हरक्युलीस के पास पहनने के लिए भेजा। नेसास के रुधिर मे कोई वास्तविक जादू-शक्ति न थी, वह भयकर मारात्मक विष था। हरक्युलीस के ऊपर उस विष की क्रिया प्रारम्भ हो गयी। यत्रणा से पीडित होकर हरक्युलीस 'एटा' पर्वत की चोटी पर पहुँचा और वहाँ एक चिता तैयार करके उसमे बैठ गया। हरक्युलीस के अनुरोध करने पर एक गडरिये ने चिता मे आग लगा दी। हरक्युलीस जलकर स्वाहा हो गया। इस प्रकार उसका नश्वर पार्थिव अश नष्ट हो गया, और अनश्वर दिव्य अश स्वर्ग मे चला गया। स्वर्ग मे पहुँचकर हरक्युलीस पुनः पूर्व देवता रूप मे परिणत हो गया, और वहाँ उसने हिवि के साथ विवाह किया।

—अनुवादक

१. वह कहते थे कि छः वर्ष तक यह अवस्था रही।

से प्रार्थना करने लगे। काली का ध्यान ही उनका एकमात्र भरोसा था। इस प्रकार मानसिक उन्माद व नैराश्य की अवस्था में ही रामकृष्ण के दो वर्ष व्यतीत हो गये।

अन्त में उन्हें सहायता मिल गयी।[1]



---

१. सन् १८६१ में रामकृष्ण की रक्षिका रानी रासमणि का देहान्त हो गया। सौभाग्य से रानी रासमणि के जामाता माथुर बाबू रामकृष्ण के प्रति अनुरक्त थे।

३ | ज्ञान के दो पथ-प्रदर्शक
भैरवी ब्राह्मणी और तोतापुरी

अब तक रामकृष्ण केवल भाग्य के भरोसे पर, अकेले ही, गरजती हुई लहरो व भँवरो से सकुल आत्मा के अगाध व नि.सीम समुद्र मे तैरने का प्रयत्न कर रहे थे। वह प्राय सर्वथा थक चुके थे जब कि उन्हे दो व्यक्तियो के दर्शन हुए, जिन्होंने उनके सिर को पानी के ऊपर थामे रखा, और उन्हे यह दिखाया कि किस प्रकार जलधार को पार करने के लिए उनकी लहरो का प्रयोग किया जाता है।

भारत का युगव्यापी आध्यात्मिक इतिहास उन असख्य मनुष्यो का इतिहास है, जो परम सत्ता पर विजय प्राप्त करने के लिए निरन्तर अभियान करते आये है। विश्व के सभी महान् पुरुषो का ज्ञात व अज्ञातरूप से यही मूल लक्ष्य रहा है। वे उन विजेताओ मे से है, जो कि प्रत्येक युग मे उस सत्ता पर, जिसके कि वे स्वयं एक अश है, और जो उन्हे निरन्तर प्रयत्न करने व ऊपर चढने के लिए प्रलुब्ध करती रहती है, आक्रमण करते है। अनेक बार वे थककर गिर पडते हैं, परन्तु वे पुन. शक्ति सग्रह करके अदम्य उत्साह के साथ तब तक बराबर ऊपर चढते रहते हैं जब तक कि वे विजयी या पराजित नही हो जाते। परन्तु उनमे से प्रत्येक उस परम सत्ता का एक ही रूप नही देख पाता। यह एक ऐसे नगर-दुर्ग के समान है, जिसे विभिन्न दिशाओ से अनेक ऐसी सेनाओ ने घेरा हुआ है, जिनमे कि परस्पर कोई मेल व सामजस्य नही है। प्रत्येक सेना अपनी स्वतन्त्र अस्त्र-सज्जा व रणनीति के अनुसार अपनी आक्रमण की समस्याओ का हल खोजती है। हमारी पाश्चात्य जातियाँ दुर्ग के बाह्य पृष्ठ व बाहिरी किलेबन्दी पर आक्रमण करती हैं। वे प्रकृति की भौतिक शक्तियो पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, और उसके नियमो को अपने वश मे करके ऐसे शस्त्रो का निर्माण करना चाहते हैं जिससे कि वे दुर्ग के अन्दर प्रवेश कर सके और समस्त दुर्ग को अपने अधीन कर सके।

परन्तु भारत दूसरे मार्ग का अनुसरण करता है। वह सीधा दुर्ग के मध्य मे अवस्थित प्रधान सेनापति के अदृश्य कार्यालय मे घुस जाता है, क्योकि वह जिस परम सत्ता का अनुसन्धान करता है, वह भौतिक नियमातीत है। तथापि हमे पश्चिमीय यथार्थवाद को भारतीय आदर्शवाद का विरोधी समझने की भूल नही करनी चाहिए। दोनो ही यथार्थवाद हैं। भारतीय भी मूलत. यथार्थवादी हैं, क्योकि वे भी केवल अमूर्त भावमात्र से सन्तुष्ट नही हो जाते और आनन्द एव अनुभूति के स्वतन्त्र साधनो द्वारा अपने आदर्श को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। उन्हे भी भावो को देखने, सुनने, उनका आस्वाद लेने व स्पर्श अनुभव करने की आवश्यकता होती है। अनुभव-सम्पत्ति तथा अपूर्व कल्पना शक्ति इन दोनो बातो मे वे पश्चिम देशवासियो से बहुत आगे बढ गये हैं।[1] ऐसी अवस्था मे पाश्चात्य तर्क के नाम पर हम उनकी साक्षी को किस प्रकार अग्राह्य कह सकते हैं। हमारी दृष्टि मे तर्क एक अवैयक्तिक तथा निष्पक्ष साधन (Objective) है जो कि प्रत्येक मनुष्य के लिए खुला हुआ है। परन्तु क्या तर्क वास्तव मे ही निष्पक्ष है? विशेष उदाहरणो मे यह कहाँ तक सत्य है? इसकी क्या कोई वैयक्तिक सीमाएँ नही हैं? और फिर क्या यह भी लक्ष्य किया गया है कि भारतीय ऋषियो की जो उपलब्धियाँ हमे अति आत्मपरक (Ultra Subjective) प्रतीत होती हैं, वे भारतीयो के निकट वैसी नही है। भारतवर्ष मे वे अनेक शताब्दियो से परीक्षित व लिपिबद्ध वैज्ञानिक प्रणालियो तथा सतर्क निरीक्षण व परीक्षण का ही युक्तिसगत परिणाम हैं। प्रत्येक तत्त्ववेत्ता ऋषि अपने शिष्यो को वह मार्ग दिखाने मे समर्थ है, जिसके द्वारा वे भी बिना किसी सन्देह के उसी दिव्यदृष्टि को प्राप्त कर सकते हैं। पूर्वीय तथा पाश्चात्य दोनो प्रणालियो मे ही वैज्ञानिक सन्देह तथा सामयिक विश्वास के लिए एक सी गुजाइश है। आज के वास्तविक वैज्ञानिक मानस की दृष्टि मे निष्कपट भाव से सामान्यीकृत एव मूल स्थापना भी

---

१ मेरा यह अभिप्राय कदापि नही है कि भारतीय विचारकगण अपनी बौद्धिक विचार-शक्ति को परम सत्य के चिन्तन मे केन्द्रित नही कर सकते। परन्तु उन्होंने अद्वैत वेदान्त के निराकार को भी किसी अश तक अपनी तीव्र अनुभव चेतना के द्वारा ही उपलब्ध किया है और निराकार सत्ता यदि निर्गुण तथा दर्शनातीत भी है तथापि क्या यह भी उतना ही निश्चित है कि यह निराकार ब्रह्म किसी प्रकार के अतीन्द्रिय स्पर्श के भी अगोचर है? क्या दिव्यदर्शन (Revelations) अपने आपमे एक प्रकार का भयकर स्पर्श नहीं है?

उन्मत्त हृदय व उसकी टाँगे जहाँ ले गयी, वह वही जाता रहा। और अन्त मे ऐसे अवसर भी आये जब कि उसने किसी सहायक व पथप्रदर्शक के न होने के कारण अपने अतिमानवीय प्रयत्नो से शिथिल व क्लान्त होकर गम्भीर अरण्य की शून्यता मे उन्मत्त की भाँति भटकते हुए पथ मिलने की आशा भी त्याग दी। इस हालत मे जबकि वह प्रायः अपने अन्तिम कठोर पडाव पर पहुँच गया था, तब एक स्त्री के द्वारा उसे सहायता प्राप्त हुई।

एक दिन रामकृष्ण ऊँचे तट पर खडे हुए रग-बिरगी पतवारो के साथ गगा की छाती पर इधर-उधर तैरती हुई नौकाओ को देख रहे थे। उन्होंने देखा कि एक नौका ठीक उनके तट के नीचे आकर रुक गयी, और उसमे से एक स्त्री उतर कर ऊपर चढ आयी। वह सुन्दर व दीर्घकाय थी, उसके लम्बे खुले केश पीछे लटक रहे थे, और वह संन्यासी के गेरुवे वस्त्र पहने हुए थी।[1] उसकी आयु पैंतीस से चालीस के बीच थी, परन्तु देखने मे वह कम आयु की प्रतीत होती थी। उसके चेहरे को देखकर रामकृष्ण विस्मित हो गये और उसे अपने निकट बुलाया। रामकृष्ण को देखते ही उसके नेत्रो से आँसू बहने लगे और उसने कहा :

"वत्स! न मालूम कितने दिनो से मैं तुम्हें तलाश कर रही हूँ।"[2] वह बगाल के एक कुलीन ब्राह्मण परिवार की सन्तान थी, और विष्णु[3] की उपा-

---

१ मैक्समूलर के मतानुसार संन्यासी वह व्यक्ति है, जिसने अपनी सब सांसारिक इच्छाओ तथा वस्तुओ का परित्याग कर दिया है। भगवद्गीता मे सन्यासी का लक्षण इस प्रकार है :—"जो न किसी वस्तु से प्यार करता है और न किसी से घृणा करता है।" इस महिला को अभी तक वह दिव्य उदासीनता की अवस्था प्राप्त नही हुई थी, जैसा कि हमे आगे मालूम हो जायगा।

२ अलिफलैला मे वर्णित किस्से के समान सहज सुन्दर रूप मे वर्णित यह मिलन कथा योरोपीय पाठको के मन मे सन्देह पैदा करती है। मैक्समूलर के समान वे इस दन्तकथा मे रामकृष्ण के मानसिक विकास का प्रतीक देखते है। किन्तु छ वर्ष के दीर्घकाल तक जो यह शिक्षिका रामकृष्ण के साथ रही, इस समय मे उसके व्यक्तित्व मे अनेक ऐसे व्यक्तिगत लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं (और जो कि सर्वदा ही उनके लिए गौरवसूचक नही हैं) जिससे कि इस बात मे कोई सन्देह नही रहता कि वह वास्तव मे एक महिला थी, और स्त्रीसुलभ दुर्बलताएँ भी उसमे विद्यमान थीं।

३. वैष्णव सम्प्रदाय मूलतः एक प्रेम का मार्ग है। रामकृष्ण ने स्वय भी एक वैष्णव परिवार मे जन्म लिया था। विष्णु प्राचीन सूर्य देवता हैं जो कि

सिका थी। वह अत्यन्त सुशिक्षिता तथा धर्म-शास्त्रो, विशेषत. भक्ति-शास्त्र की पूर्ण पडिता थी। उसने कहा कि वह एक ऐसे मनुष्य की तलाश मे है जो भगवत्प्रेरणा से आदिष्ट हो। उसकी अन्तरात्मा ने उसे यह निश्चय करा दिया है कि ऐसे व्यक्ति का जन्म हो चुका है, और उक्त व्यक्ति को एक विशेष सन्देश देने का कार्यभार उसे सौंपा गया है। केवल इतनी ही भूमिका व परिचय के साथ, यहाँ तक कि उसका नाम जानने से पूर्व ही (भैरवी ब्राह्मणी के अतिरिक्त अन्य किसी नाम से उसे कोई न जानता था) उक्त धर्म-परायण महिला तथा काली के पुरोहित के बीच तत्काल व उसी स्थान पर माता और पुत्र का सम्बन्ध स्थापित हो गया। रामकृष्ण ने एक बालक के समान पूर्ण विश्वास के साथ उसे अपने भागवत जीवन के समस्त कष्टमय अनुभव, अपनी साधना और उसके साथ ही अपनी शारीरिक व मानसिक यातनाएँ भी सुना दी। उन्होने कहा कि बहुत से आदमी उन्हे पागल कहते हैं, और वे बडी नम्रता व उत्सुकता से उससे पूछने लगे कि क्या यह सत्य है। भैरवी ने रामकृष्ण की सब स्वीकारोक्तियो को सुनकर माता के समान स्नेह भरे शब्दो मे उन्हे सान्त्वना दी और कहा कि उन्हे किसी प्रकार के भय की आशका न करनी चाहिए, क्योकि वे अपने अनिर्देशित प्रयत्नो से ही भक्तिशास्त्र मे वर्णित साधना के एक उच्चतम स्तर पर पहुँच गये हैं। उन्हे जो कष्ट व यन्त्रणाएँ प्राप्त हुई है, वे उनकी ऊर्ध्व गति की ही निर्देशक हैं। उसने शारीरिक स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया और उनके मानसिक अन्धकार को दूर कर दिया। जिस ज्ञानमार्ग पर वे पहले रात्रि के अन्धकार मे बन्द आँखो से अकेले ही गुजरे थे, उसी मार्ग पर दिन के विस्तृत आलोक मे वह उन्हे ले गयी। जिन उपलब्धियो को प्राप्त करने मे रहस्यवादी विज्ञान को कई शताब्दियाँ गुजर गयी हैं, उन्हे रामकृष्ण ने केवल अपने सहजबोध से कुछ ही वर्षों मे प्राप्त कर लिया था, परन्तु उनका तब तक उन पर वास्तव मे पूर्ण अधिकार न हो सका था, जब तक कि उन्हे यह न दिखाया गया कि वे किस मार्ग द्वारा वहाँ तक पहुँच सके हैं।

भक्त को प्रेम के मार्ग से ही ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है। वह प्रारम्भ मे भगवान् की किसी एक विशिष्ट मूर्ति को ही अपने आदर्श के रूप मे स्वीकार

अपने अवतारो द्वारा ससार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते हैं। राम और कृष्ण उनके प्रधान अवतार हैं। वर्तमान कहानी के नायक के नाम मे उक्त दोनो देवताओ का समावेश है। बाद मे रामकृष्ण भी अपने जीवन-काल मे ही एक नये अवतार व नरनारायण के रूप से पूजे जाने लगे।

एक आपेक्षिक सत्य है। यदि दिव्य दर्शन मिथ्या है, तो उक्त दृष्टिभ्रम के कारण की खोज और अन्य आधारभूत हेतुओ के द्वारा उच्चतर सत्ता पर पहुँचने की ही आवश्यकता है।

भारतीय चाहे इस बात को स्पष्ट रूप से समझे या अस्पष्टरूप से ही अनुभव करे, परन्तु उन सबका यह विश्वास है कि विश्वात्मा—अव्यय परम ब्रह्म से भिन्न व पृथक् किसी वस्तु का अस्तित्व नही है।[1] विश्व मे प्रत्येक वस्तु की जो भी विभिन्न मूर्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, उनका जन्म उसी से हुआ है; इस विश्व की वास्तविकता भी उस विश्वात्मा के ही कारण है, जिसका कि यह एक भावमात्र है। हम वैयक्तिक आत्माएँ जो कि विश्वात्मा के ही एक जीवित व घनिष्ठ अश हैं, विश्व की बहुरूपता व परिवर्तनशीलता का भाव देखते हैं—और उसे एक स्वतन्त्र सत्ता मान लेते हैं। जब तक हम अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते, तब तक हम माया व अविद्या द्वारा भ्रान्त होते रहते हैं। यह माया अनादि है और काल की सीमा से रहित है। सुतरा हम जिसे चिरन्तन सत्य मानकर ग्रहण करते हैं, वह उस अद्वितीय सत्ता के अदृश्य स्रोत से उद्गत होते हुए क्षणिक मूर्तियो के सतत प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नही है।[2]

इसलिए हमे, उस माया के प्रवाह के थपेडो से, जो कि हमे चारो तरफ से घेरे हुए हैं, बचने और एक कछुवे के समान बाधाओ की दीवारो को फाँदते हुए और जलप्रपातो को तैरते हुए स्रोत के आदि उद्गम-स्थान तक पहुँचने की आवश्यकता है। यही हमारा अनिवार्य लक्ष्य है, यही हमारी मुक्ति का मार्ग है। इस कष्टमय किन्तु वीरतापूर्ण एव शानदार सघर्ष को ही साधना के नाम से पुकारा जाता है। जो इस सग्राम मे भाग लेते हैं, वही साधक कहलाते हैं। उनकी क्षुद्र वाहिनी मे प्रत्येक युग मे निर्भय आत्माओ की नयी भरती होती रहती है। उन्हे युगव्यापी परीक्षणों द्वारा प्रमाणित व्यवस्था-प्रणाली तथा कठोर अनुशासन के सामने आत्मसमर्पण करना पडता है। उन्हे दो मार्गों व अस्त्रो[3] मे से एक को

---

१. सूक्ष्म व स्थूल सब पदार्थ ही ब्रह्म हैं। केवल मात्र एक एव अखण्ड ब्रह्म के मध्य मे ही सब पदार्थों का निवास है।

२ स्वामी शारदानन्द ने अपने 'Shri Ramakrishna, The Great master' नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ मे जो अधिकारपूर्ण व्याख्या की है, उसका मैंने यहाँ सक्षिप्त सार दिया है।

३ और भी अनेक अस्त्र व मार्ग हैं। उनके सम्बन्ध मे मैं इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड मे विवेकानन्द की दार्शनिक व धार्मिक विचारधारा के प्रसग मे आलो-

ग्रहण करना पडता है, परन्तु इन दोनो के लिए ही निरन्तर अभ्यास तथा साधना की आवश्यकता है। पहला "नेति ! नेति !"[1] ("यह नही ! यह नही !") का मार्ग है, जिसे मौलिक निषेध द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग या ज्ञानियो का अस्त्र कहा जा सकता है। दूसरा मार्ग "यह ! यह !" का मार्ग है, जिसे क्रमिक स्वीकृति द्वारा ज्ञानप्राप्ति का मार्ग या भक्तो का मार्ग कहा जा सकता है। पहला मार्ग केवल बौद्धिक ज्ञान के ऊपर विश्वास करता है, और जो कुछ भी इसके बाहर होता है, वह चाहे वास्तविक हो या मिथ्या हो, उस सबको अग्राह्य करके यह दृढसकल्प के साथ अपने परम लक्ष्य की तरफ दृष्टि गडाकर उसकी तरफ अग्रसर होता है। दूसरा मार्ग प्रेम का मार्ग है। परम प्रेमास्पद का प्रेम (जिसका रूप जितना ही वह शुद्धतर होता है, उतना ही परिवर्तित हो जाता है) अन्य सब पदार्थों का त्याग करना सिखाता है। ज्ञान का मार्ग अव्यय निराकार ब्रह्म का मार्ग है। भक्तिमार्ग देहधारी साकार भगवान् का मार्ग है—इस पथ के यात्री ज्ञानपथ के यात्रियो से मिलने से पूर्व दीर्घकाल तक इसी पथ पर प्रतीक्षा करते हैं।

रामकृष्ण की अन्ध सहज प्रेरणा ने प्रारम्भ से ही अज्ञातरूप से भक्ति-मार्ग का आश्रय लिया था। परन्तु वह इस पथ के एक टेढे-मेढेपन व छिपी झाडियो से परिचित न थे। यह ठीक है कि पेरिस से लेकर यरूसलम[2] तक यात्रा करनेवालो के लिए यात्रा-कार्यक्रम विद्यमान था, जिसमे कि यात्रा के प्रारम्भ से लेकर अतिम चौकी तक का पूर्ण विवरण अत्यन्त सावधानी के साथ अकित था, रास्ते की सारी कठिनाइयाँ, पर्वत तथा घाटियाँ, खतरनाक स्थान, तथा विश्रामस्थल सब का पहले से ही पूरा-पूरा विवरण अत्यन्त सावधानी व बुद्धिमत्ता के साथ दिया हुआ था। परन्तु कामारपुकुर के इस यात्री को इसका कुछ पता नही था। उसका

चना करूँगा। वहाँ मुझे भारतीय योग के बारे मे विस्तृत विवरण देने का सुअवसर होगा।

१ उपनिषत्कार ऋषियो ने ब्रह्म को 'नेति' (यह नही) यह सज्ञा दी है। इसके साथ अतीन्द्रियवादी ईसाई सेण्ट डेनिस दि एरियोपिजट रचित 'Treatise on Mystic Theology' अध्याय ५, की तुलना कीजिए, जहाँ वह लिखता है कि बुद्धि ग्राह्य पदार्थों का जो परम स्रष्टा है, उसे किसी प्रकार भी बुद्धि द्वारा जानना सभव नही है। वहाँ उस ब्रह्मज्ञानी ने भगवान् का वर्णन करने के लिए एक पृष्ठ पर सम्पूर्ण निषेधो का सग्रह किया है।

२. श्यातोब्रियाद रचित प्रसिद्ध 'भ्रमण-कथा' की तरफ निर्देश है।

कर लेता है। रामकृष्ण ने माँ को अपने आदर्शरूप मे स्वीकार किया था। वहुत समय तक वे अपने इस एकनिष्ठ प्रेम मे ही निमग्न रहे। शुरू मे वे अपनी भक्ति व श्रद्धा के लक्ष्य को प्राप्त न कर सके, परन्तु धीरे-धीरे वे उसे देखने, स्पर्श करने व उससे वार्तालाप करने मे समर्थ हो गये। उसके वाद भगवान का जीवित अस्तित्व अनुभव करने के लिए क्षणिक मनोनिवेश ही उनके लिए पर्याप्त होता था। सव वस्तुओ व सव आकृतियो के अन्दर भगवान् का वास है, यह विश्वास हो जाने पर रामकृष्ण ने अनुभव किया कि भगवान् के नाना रूप उनकी प्रियतम माँ की मूर्ति मे से ही उद्गत हो रहे हैं। इस दिव्य वहुरूपता मे उनकी दृष्टि ओतप्रोत हो गयी, और अन्त मे इसके मधुर सगीत से वे इस प्रकार परिपूर्ण हो गये कि उनके अन्दर अन्य किसी वस्तु के लिए कोई स्थान शेप नही रहा। भौतिक ससार उनकी दृष्टि से विलुप्त हो गया। इस अवस्था का नाम ही सविकल्प समाधि—अथवा अतिचेतन भावावेश की अवस्था है, जिसमे आत्मा विचार के आन्तरिक ससार से सयुक्त रहता है, और ईश्वर के साथ अपने जीवन के एकात्म होने के भाव का आनन्दोपभोग करता है। परन्तु जब कोई एक भाव आत्मा को आविष्ट कर लेता है, तव अन्य सव भाव मुरझा व विनष्ट हो जाते हैं, और उसकी आत्मा अपने अन्तिम लक्ष्य अर्थात् निर्विकल्प समाधि—या ब्रह्म के साथ अन्तिम मिलन के समीपतर पहुँच जाती है। पूर्ण त्याग के द्वारा विचारो की शून्यता के मध्य अव्यय के साथ पूर्ण एकता की जो अन्त मे उपलब्धि होती है, उसमे यह दूर नही है।[1] रामकृष्ण ने अपनी आध्यात्मिक यात्रा का लगभग

---

१ यह व्याख्या भी स्वामी शारदानन्द की पुस्तक के आधार पर ही लिख रहा हूँ। राइसब्रुक रचित "De Ornatu Spiritalium Nuptiarum" से तुलना कीजिए : "आगे बढो। भगवान् स्वय ही कह रहे हैं। ' ' वे ही अधकार के बीच से आत्मा के साथ आलाप करते हैं, और आत्मा निमग्न हो जाती है तथा दूर खिसक जाती है। इस पवित्र अन्धकार मे ही आत्मा को विलीन होना होगा, जहाँ पर आनन्द मनुष्य को अपने-आपसे मुक्त करता है, ताकि वह फिर कभी अपने-आपको मानवीय विचारो के अनुकूल न पा सके। उस गह्वर में जहाँ पर कि प्रेम मृत्यु की अग्नि को प्रज्वलित करता है, मैं शाश्वत जीवन के प्रभात के दर्शन करता हूँ। ' मूल तत्त्व के महासमुद्र और प्रज्वलित अन्धकार मे, अपने-आपको विलीन करने के लिए ही इस अनन्त प्रेम के द्वारा हम अपने लिए मरने और अपनी कारागार से मुक्ति के आनन्द को स्वीकार करते है।"

तीन-चौथाई भाग एक अन्धे के समान ही पार किया था।[1] भैरवी ने, जिसे कि उन्होंने अपनी आध्यात्मिक माता व गुरु तथा शिक्षक के रूप मे स्वीकार किया था, उन्हें उक्त पथ के सब पहलुओ तथा उनके अर्थो को ठीक-ठीक समझा दिया। भैरवी स्वय धर्मानुष्ठान व साधनाओ मे प्रवीण थी, और ज्ञान के सब मार्गों से परिचित थी। इसलिए विभिन्न साधना के मार्गों की एक-एक करके शास्त्रोक्त विधि के अनुसार परीक्षा करने के लिए उसने रामकृष्ण को प्रोत्साहित किया। यहाँ तक कि वह तान्त्रिक साधना, जो कि सबसे अधिक खतरनाक है, और जिसमे इन्द्रिय और आत्मा को रक्तमास की अनुभूति व कल्पना पर विजय प्राप्त करने के लिए अपने को उनके प्रभाव मे छोडना होता है, वह भी उसने रामकृष्ण को सिखा दी। परन्तु यह मार्ग अत्यन्त पिच्छल तथा दुर्गम है, जिससे गुजरते हुए हर समय अध.पतन तथा पागलपन की गभीर खदक मे गिरने का भय है। इस पथ पर चलने का जिन्होने भी साहस किया है, उनमे से बहुत ही कम व्यक्ति वापस आ सके हैं। परन्तु पवित्र रामकृष्ण उक्त पथ पर यात्रा करने से पूर्व जिस प्रकार निष्कलक थे, उसी निष्कलक अवस्था मे, बल्कि अग्नि मे तपाये हुए इस्पात के समान पहले से भी दृढ़तर होकर वापस आये।

प्रेम के द्वारा भगवान् से मिलने के जितने भी तरीके हैं, भक्तगण स्वामी-भृत्य भाव, माता-पुत्र भाव, सखा भाव, पति-पत्नी भाव आदि जिन उन्तीस भावो मे से किसी एक का आश्रय लेकर भगवान् से अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उन सब पर रामकृष्ण का पूरा अधिकार हो गया। दिव्य दुर्ग के सब पार्श्वो पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली। और वह व्यक्ति जो भगवान् पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह भगवत्-प्रकृति का अश भी ग्रहण कर लेता है।

रामकृष्ण की दीक्षागुरु—भैरवी ने रामकृष्ण के अन्दर भगवान् के अवतार का दर्शन किया। इसलिए उसने दक्षिणेश्वर मे पण्डितो की एक सभा बुलाई, जिसमे विद्वानो के पाण्डित्यपूर्ण वादविवाद के पश्चात् भैरवी ने धार्मिक सम्प्रदायो के आचार्यो से यह अनुरोध किया कि वह रामकृष्ण को नव अवतार के रूप मे घोषित करे।

---

१ परन्तु उनकी प्रकृति ने उन्हे अपने मार्ग के अन्तिम मील के उस चौराहे पर जहाँ कि मनुष्य साकार भगवान् व उसके प्रेम से विदा लेता है, रोक लिया। उनकी आध्यात्मिक माता भैरवी ने भी उन्हे इसमे आगे बढने के लिए प्रेरित नही किया। वे दोनो ही अपने सहज बोध से विवश होकर निराकार के उस अन्धकारमय दृश्य, तथा गभीर गह्वर मे प्रविष्ट होने से घबडाते थे।

इसके अनन्तर उनकी ख्याति दिन-प्रति-दिन बढने लगी। चारो तरफ दूर-दूर से उस आश्चर्यजनक व्यक्ति के दर्शनो के लिए, जिसने न केवल एक ही साधना मे, अपितु साधना के सभी मार्गों पर उनके सन्धिस्थल पर बैठकर अपना अधिकार जमा लिया था, आने लगे। भगवान् के विभिन्न पथो के सभी यात्री, साधु, सन्यासी फकीर व विचारक उनसे सलाह व शिक्षा लेने के लिए उनके पास आने लगे। वे सभी अपने वर्णनो मे रामकृष्ण के उस देहलावण्य का उल्लेख करते है, जो कि दीर्घकाल तक भावावेश की अग्नि मे तपने के कारण वह्नितप्त सुवर्ण[1] के समान चमकता था। दाते[2] के समान रामकृष्ण नरक से लौटकर नही आये थे, वे समुद्र से रत्नराशि का आहरण करके लौटे थे। परन्तु अपने जीवन के अन्तिम दिन तक रामकृष्ण एक सरल व्यक्ति ही बने रहे; उनके अन्दर दम्भ व गर्व का लेश-मात्र भी न था। वे भागवत् उन्मत्तता मे इस प्रकार विलीन रहते थे कि अपने बारे में सोचने का अवसर ही उन्हे न मिलता था। उन्होंने क्या प्राप्त कर लिया है, इसकी अपेक्षा उन्हें और क्या करना शेष है, इस बात का ध्यान ही उन्हे व्यस्त किये रखता था। 'यह अवतार हैं'—इस प्रकार की प्रशंसा को वह एकदम नापसंद करते थे। और जब वे उस उच्च स्थान पर पहुँच गये, जिसे कि अन्य सब व्यक्ति, यहाँ तक कि उनकी पथप्रदर्शिका गुरु भैरवी भी अन्तिम शिखर मानती थी, तो वे वहाँ भी नही रुके और आरोहण की अन्य चोटी, अन्तिम तीव्र ढलानदार पर्वत-शिखर की ओर देखने लगे, और वे उस शिखर तक पहुँचने के लिए बाध्य थे।

परन्तु इस अन्तिम आरोहण के लिए पुराने पथदर्शक पर्याप्त न थे। और इसलिए उनकी वह आध्यात्मिक माता, जिसने कि तीन वर्ष तक बडे यत्न तथा गौरव के साथ उनका लालन किया था, वह अब रामकृष्ण को एक कठोरतर व उच्चतर गुरु से निर्देश ग्रहण करते देखकर उसे सहज मे सहन न कर सकी। जब कोई सन्तान एकमात्र अपनी माता के दूध पर निर्भर नही रहती, तो अनेक माताएँ इसी प्रकार अनुभव करती हैं।

---

१. भारतवर्ष के योगी गण भावावेश से होनेवाले इस रक्त-प्रवाह के तीव्रोच्छ्वास को निरन्तर लक्ष्य करते रहते है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, रामकृष्ण जब किसी धार्मिक व्यक्ति से मिलने के लिए जाते थे, तब उनकी छाती को देखकर यह बतला देते थे कि वह ईश्वरीय अग्नि मे से गुजरा है या नही।

२ दाते : यह इटली के सर्वश्रेष्ठ कवि हुए हैं। 'डिविना कमेडिआ' इनको सर्वश्रेष्ठ रचना है।

सन् १८६४ के अन्त मे ठीक उस समय जबकि रामकृष्ण ने साकार भगवान् पर विजय प्राप्त कर ली थी, निराकार भगवान् का वह सदेशवाहक, जिसे अभी तक अपने मिशन का बोध न था, दक्षिणेश्वर मे आया। यह अनन्य साधारण वेदान्तिक पण्डित व साधक—(दिगम्बर) तोतापुरी थे। वे एक परिव्राजक सन्यासी थे, जिन्होंने निरन्तर चालीस वर्ष की साधना के बाद सिद्धि प्राप्त की थी। वे मुक्तात्मा थे—उनकी अवैयक्तिक दृष्टि सर्वथा निर्लिप्त भाव से इस मायामय विश्व का अवलोकन करती थी।

बहुत दिनो से रामकृष्ण वेदना के साथ यह अनुभव कर रहे थे कि उनके चारो तरफ निराकार ब्रह्म और उसके दूतगणो[1] की एक अमानुषिक व अति-मानुषिक निर्लिप्तता व्याप्त हो रही है। यह दूतगण वे परमहस है, जिन्होंने व्योमस्पर्शी उच्चता प्राप्त की है, जिन्होंने सब वस्तुओ का हमेशा के लिए त्याग कर दिया है, और जो ऐसे भयानक विरक्त हैं कि जिन्होंने देह और आत्मा को भी त्याग दिया हैं, और जो कि हृदय की अन्तिम निधि स्वरूप, भगवतप्रेम के अमूल्य रत्न को भी छोड चुके हैं। दक्षिणेश्वर मे आकर रहने के प्रथम दिनो मे रामकृष्ण को इन जीवित शवो के प्रति एक भयानक आकर्षण पैदा हुआ था और यह सोचकर कि सम्भव है कि उनकी भी एक दिन ऐसी ही अवस्था न हो जाय, वे भय से रोने लगे थे। रामकृष्ण के समान एक आजन्म प्रेमिक व कलाप्रेमी के लिए, जिसे कि मैंने प्रेमोन्मत्त कहकर वर्णन किया है, ऐसा विचार कितना कष्टदायक है, यह कल्पना करने की बात है। उन्हे अपने प्रेमपात्र को देखने, स्पर्श करने व आत्मसात् करने की आवश्यकता अनुभव होती थी, और वह तब तक सन्तुष्ट न होते थे जब तक कि वे उसकी जीवित मूर्ति को अपने आलिंगन-पाश मे न आबद्ध कर लेते थे, एक नदी के समान उसमे स्नान न कर लेते थे, और उसकी दिव्य मूर्ति तथा सौन्दर्य को अपने अन्दर प्रतिष्ठित न कर लेते थे। ऐसे व्यक्ति को आज अपने इष्टतम गृह का त्याग करना होगा, और अपने समस्त मन और देह को भावमय और निराकार मे लीन करना होगा ? ऐसी विचार-धारा हमारे किसी पाश्चात्य वैज्ञानिक के प्रति जितनी पीडादायक है व उसकी प्रकृति के प्रतिकूल हैं, रामकृष्ण के लिए वह उससे कही अधिक कष्टदायक व प्रतिकूल थी।[2] किन्तु इस विचार मे छुटकारा पाने का उनके पास कोई मार्ग

१ मूल पुस्तक मे Missi Dominici शब्द है, जिसका अर्थ है—प्रभु के दूत।

२. यह एक ध्यान देने की बात है कि रामकृष्ण मे कविता तथा कला की उत्कृष्ट प्रतिभा के होते हुए भी वे गणितशास्त्र मे रुचि नही रखते थे। विवेकानन्द

न था । उसका भय ही विषधर के तीव्र नेत्रो के समान उन्हे अपनी ओर आकृष्ट करने लगा । यद्यपि ऊँचाइयो के विचार से उनका मस्तिष्क चकरा रहा था, तथापि जब वे पर्वत की चोटियो पर पहुँच चुके थे, तो उनके अन्तिम सिरे तक पहुँचने के लिए मजबूर थे । भगवत्‌रूपी महाप्रदेश का अन्वेषक तब तक अपनी यात्रा समाप्त न कर सकता था जब तक कि वह रहस्यमय नील नदी के उद्‌गम स्थान पर न पहुँच जाए ।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि निराकार भगवान् अपने सब आकर्षण तथा आतक के साथ रामकृष्ण की प्रतीक्षा कर रहा था । परन्तु रामकृष्ण उसके पास नही गये । इसलिए तोतापुरी इस काली के प्रेमिक को लेने के लिए आये ।

पास से गुजरते हुए तोतापुरी ने ही रामकृष्ण को पहले देखा, यद्यपि रामकृष्ण ने उनकी तरफ ध्यान नही दिया । तोतापुरी तीन दिन से अधिक एक स्थान पर नही ठहर सकते थे । उन्होंने देखा, मन्दिर का तरुण पुरोहित[२] मंदिर की सीढी पर बैठा हुआ अपने ध्यान के गुप्त आनन्द मे निमग्न है । तोतापुरी उसे देख कर विस्मित हो गये ।

उन्होंने कहा, 'वत्स ! मैं देखता हूँ कि तुम पहले ही सत्य के मार्ग पर काफी दूर तक अग्रसर हो चुके हो । यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हे इसमे भी अगली मंजिल पर पहुँचा सकता हूँ । मैं तुम्हे वेदान्त की शिक्षा दूँगा ।'

रामकृष्ण ने सहज सरल भाव से उत्तर दिया, 'माँ से पूछ लूँ ।' उनकी इस सरलता ने उस कठोर सन्यासी को भी मुग्ध कर लिया और वह मुस्कराने लगा । माँ ने अनुमति दे दी, और रामकृष्ण ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक इस भगवत्-प्रेरित गुरु के चरणो मे पूर्ण विश्वास के साथ आत्मसमर्पण कर दिया ।

परन्तु दीक्षा लेने से पूर्व रामकृष्ण को परीक्षा देनी पडी । पहली शर्त यह थी कि उन्हे अपने सब विशेषाधिकार व सकेतचिह्न, ब्राह्मण का उपवीत, पुरोहित की पदमर्यादा एव अन्यान्य सब सुविधाएँ त्याग करनी होगी । रामकृष्ण के लिए यह अत्यन्त तुच्छ वस्तुएँ थी । परन्तु केवल यही नही, रामकृष्ण अब तक जिस वस्तु को लेकर जीवित थे, उस साकार भगवान् तथा उसके प्रति स्नेह, ममता-माया—एवं यहाँ पर तथा अन्यत्र भी प्रेम व त्याग के द्वारा उन्होंने अब

का मन दूसरे प्रकार का था । कला के प्रति उनका अनुराग रामकृष्ण की अपेक्षा कम न होने पर भी विज्ञान के प्रति भी उनकी पर्याप्त रुचि व प्रेम था ।

२ रामकृष्ण की आयु उस समय केवल २८ वर्ष की थी ।

तक जो कुछ प्राप्त किया था, उस सबको भी उन्हें एक ही क्षण मे चिरकाल के लिए विसर्जन करना होगा। पृथ्वी के समान नग्न होकर उन्हें प्रतीक के रूप मे स्वय अपना शवदाह करना होगा। अपने अहकार व हृदय के अन्तरतम अवशेष को भी उन्हे दफनाना होगा। तभी वे सन्यासी के उन गैरिक वस्त्रो के अधिकारी हो सकेंगे जो कि उनके नवजीवन के प्रतीक हैं। अब तोतापुरी उन्हे अद्वैत वेदान्त[1] के मुख्य सिद्धान्तो, एक अद्वितीय एव अभिन्न ब्रह्म तथा किस प्रकार अहम् के सन्धान मे गभीर मे गोता लगाना होगा, जिससे कि ब्रह्म के साथ उसकी एकरूपता की उपलब्धि हो सके और समाधि के द्वारा उसे ब्रह्म मे प्रतिष्ठित किया जा सके, आदि की शिक्षा देने लगे।

यह सोचना भूल होगी कि उस व्यक्ति के लिए जिसने समाधि की अन्य सब मजिलो को पार कर लिया था, उसकी अन्तिम मजिल तक पहुँचानेवाले संकीर्ण

---

१ वेदान्त मे अद्वैत वेदान्त (जहाँ दूसरा नही है) ही सर्वापेक्षा कठिन एव अमूर्त है। यह पूर्णरूप से द्वैतवाद की अस्वीकृति है। एकमात्र एक अनन्य सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नही है। चिन्मय, भगवान्, असीम, अव्यय ब्रह्म, आत्मा आदि इस परमतत्त्व के ही नाम है, क्योकि इस सत्ता को अपने लक्षण मे सहायता प्रदान करने के लिए किसी गुण की आवश्यकता नही है। इसके लक्षण के लिये किये गए प्रत्येक प्रयत्न का शकर ने डेनिस दि एरियोपेजिट के समान केवल एक ही उत्तर दिया है 'नेति नेति'। प्रत्येक प्रतीयमान वस्तु, हमारे मन तथा इन्द्रियानुभूति का जगत्, यह सब एक भ्रान्ति (अविद्या) से समाच्छन्न अव्यय सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस अविद्या के प्रभाव से ही, जिसकी कि शकर व उनके अनुयायी कोई स्पष्ट व्याख्या नही कर पाये हैं, ब्रह्म नाना रूप व नाम धारण करता है—जो कि वास्तव मे नास्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नही हैं। इस 'अहम्' माया मूर्तियो के विश्वप्लावन के नीचे जो एकमात्र अस्तित्व है वही सत्म सत्ता, परमात्मा है, जो एक है। इस परमात्मा की उपलब्धि मे सत्कर्म कोई सहायता प्रदान नही करते। तथापि सत्कर्मों द्वारा एक ऐसे अनुकूल वातावरण की सृष्टि हो सकती है जिससे चैतन्य का उदय हो सकता है। परन्तु एकमात्र एव सीधे चैतन्य के द्वारा ही आत्मा की मुक्ति हो सकती है। इसीलिए ग्रीक लोगो का 'अपने आपको जानो' यह वाक्य भारतीय वेदान्तियो के 'अपने आपको देखो, अपना आप हो जाओ' का विरोधी है। .'तत्वमसि' (तू ही वह है)।

द्वार की कुजी का पा लेना एक सरल कार्य था। यहाँ पर उनका अपना ही विवरण उद्धृत करना उचित है। कारण, यह भारतीय धर्मशास्त्रो से ही सम्बद्ध नहीं है, अपितु अतिप्राचीन पश्चिमदेशीय धर्मशास्त्रो से भी सम्बन्ध रखता है, जिनमे कि आत्मा के दिव्य दर्शन से सम्बन्ध रखनेवाली सब वैज्ञानिक प्रणालियो का लिपिबद्ध सग्रह है।

"नग्न तोतापुरी ने मुझे मन को सब वस्तुओ से हटाकर उसे आत्मा के गभीर मे निमग्न करने की शिक्षा दी। परन्तु मेरे सब प्रकार के प्रयत्नो के बावजूद मैं नाम और रूप की सीमा का उल्लघन कर निरपेक्ष अवस्था मे अपनी आत्मा को न ले जा सका। अवश्य ही ज्योतिर्मयी माँ[1] की सुपरिचित मूर्ति के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थों से मन को पृथक् करने मे मुझे कोई असुविधा अनुभव नही हुई। परन्तु माँ तो ज्ञान का सार है, और वह मेरे सम्मुख एक जीवित वास्तविकता के रूप मे प्रकट हुई। उसने परम के पथ को रोक दिया। मैंने अनेक बार अद्वैत वेदान्त के आदेशो पर अपने मन को केन्द्रित करने की चेष्टा की, परन्तु हर दफे माँ ने बीच मे आकर दखल दिया। अन्त मे हताश होकर मैंने तोतापुरी से कहा, 'इससे कुछ लाभ नही। मैं अपनी आत्मा को अनपेक्ष अवस्था की उच्चता तक पहुँचने व परमात्मा के सम्मुख उपस्थित करने मे कभी सफल न हो सकूँगा।' तोतापुरी ने भर्त्सना के स्वर मे कहा, 'क्या कहा ? तुम नही कर सकोगे ? तुम्हे करना होगा।' यह कहकर उन्होंने अपने इधर-उधर नजर दौडायी और एक काँच के टुकडे को उठाकर और उसे मेरे दोनो नेत्रो के ठीक बीच मे रखकर कहने लगे, 'अपने मन को इस स्थान पर केन्द्रित करो।' मैंने पुनः अपनी शक्ति के साथ ध्यान करना प्रारम्भ किया, और जैसे ही दिव्य माँ की सुन्दर मूर्ति मेरी आँखो के सामने प्रकट हुई, मैंने विचार की तलवार से उसे खण्डित कर दिया। इस प्रकार अन्तिम बाधा भी विनष्ट हो गयी, और मेरी आत्मा तत्काल व्यग्रतापूर्वक अपेक्षित की सीमा को पार करने के लिए दौडी और मैं समाधिस्थ हो गया।"

अनधिगम्य का प्रवेशद्वार अत्यन्त कठोर परिश्रम तथा अनेक कष्टो के द्वारा ही उन्मुक्त किया जा सकता है। परन्तु रामकृष्ण इस प्रवेश-द्वार मे प्रवेश करने के साथ ही समाधि की अतिम मजिल—निर्विकल्प समाधि पर—जिसमे कि द्रष्टा और दृश्य दोनो का ही लोप हो जाता है—पहुँच गये।

'विश्व का लोप हो गया। स्थान का भी विलय हो गया। प्रारम्भ मे मन

---

१. प्रेमाधार काली माँ।

की अस्पष्ट गंभीरता मे विकारो की परछाइयाँ तैरने लगी। अहम् की एक दुर्बल चेतना अविराम रूप से स्पन्दित होने लगी। परन्तु बाद मे वह भी शान्त हो गयी। अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ भी शेष न रहा। आत्मा परमसत्ता मे विलीन हो गयी। द्वैत का लोप हो गया। ससीम व नि सीम का विस्तार एकाकार हो गया। शब्द और विचार से अतीत होकर उसने ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लिया।'

जिस सिद्धि को प्राप्त करने के लिए तोतापुरी को सुदीर्घ चालीस वर्ष का समय लगा था, रामकृष्ण ने वह एक ही दिन मे प्राप्त कर ली। जिस परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए सन्यासी तोतापुरी ने रामकृष्ण को प्रबुद्ध किया था, उसके फल को देखकर वे स्वय विस्मित व भयभीत हो गये। कई दिन तक रामकृष्ण का शरीर एक शव के समान कठोर अवस्था मे बना रहा, जिसमे से ज्ञान की चरम सीमा को प्राप्त आत्मा के प्रशान्त प्रकाश की ज्योति विकीर्ण हो रही थी।

तोतापुरी अपने नियम के अनुसार तीन दिन से अधिक कही नही ठहर सकते थे। परन्तु जो शिष्य अपने गुरु से भी कही आगे बढ गया था, उससे आलाप करने के लिए ग्यारह मास तक वही बने रहे। अब उनके सम्बन्ध विपरीत हो गये। तरुण विहग आकाश के ऊर्ध्वतर लोक से नीचे उतर आया था, जहाँ पर उसने पर्वतो की उच्चतम शृखला से भी ऊपर दृष्टिनिक्षेप किया था। वृद्ध नागा[1] सन्यासी के तीक्ष्ण सकीर्ण चक्षुओ का अपेक्षा इस तरुण पक्षी के आयत नेत्रों ने एक विस्तृततर दृश्य का अवलोकन किया था। इसलिए अब वह विहग सर्प को शिक्षा देने लगा। परन्तु बिना पर्याप्त विरोध के यह सभव न हो सका।

आओ! हम दोनो द्रष्टाओ का आमने-सामने अवलोकन करे।

रामकृष्ण का कद छोटा, रग भूरा व छोटी दाढी थी। उनकी सुन्दर आँखें, 'विस्तृत काली आँखे, जो प्रकाश से परिपूर्ण, तनिक तिरछी व अर्धनिमीलित मुद्रा मे रहती थी,'[2] कभी पूरी न खुलती थी, परन्तु अर्धमुदित अवस्था मे भी वह बाहर और भीतर दूर-दूर तक देख सकती थी। उनका मुख उनकी शुभ्र-

---

१ तोतापुरी 'नागा' सम्प्रदाय के अनुयायी थे। नाग शब्द का अर्थ सर्प भी है। यहाँ रोला ने समझने मे भूल की है। नागा शब्द नग्न शब्द का अपभ्रश है, नाग व सर्प का नही।—अनुवादक

२. मुखर्जी। (धनगोपाल मुखोपाध्याय)—अनु०

दन्तावलि पर एक जादूभरी मुस्कान[१] के साथ, जो एक साथ ही स्नेह और सम्भ्रमपूर्ण होती थी, अर्धविकसित अवस्था मे रहता था। वे मझोले कद के थे। क्षीणकाय व अत्यन्त कोमल थे।[२] उनकी प्रकृति असाधारण रूप से भावुक थी; कारण वे शारीरिक व नैतिक सब प्रकार के सुख-दु.खो के प्रति अत्यन्त अनुभूति-शील थे। नि:सन्देह, जो कुछ भी उनकी आँखो के दर्पण के सामने घटित होता था, वे उसके जीवित प्रतिबिम्ब थे, उनकी आँखे उस द्विपार्श्व दर्पण के समान थी, जिसमे बाहर और भीतर दोनो पार्श्व की घटनाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। उनकी अद्भुत नमनीय शक्ति अपनी आत्मा को, तत्काल दूसरो की आत्मा के अनुसार ढाल लेती थी, परन्तु ऐसा करते हुए वह अपने सुदृढ नगरदुर्ग[३] (Feste Burg)—अन्तहीन गतिशीलता के अपरिवर्तनशील व असीमित केन्द्र को विनष्ट न होने देते थे। 'उनकी बोली घरेलू बँगला थी'''जिसमे एक हल्का सा आनन्ददायक तोतला-पन था। परन्तु उनके शब्द, आध्यात्मिक अनुभव की समृद्धि, उपमा व रूपक के अक्षय कोष, विलक्षण निरीक्षण-शक्ति, उज्ज्वल तथा सूक्ष्म व्यंग परिहास, आश्चर्यजनक सहानुभूति की उदारता और ज्ञान के अनन्त प्रवाह के द्वारा अपने श्रोता को अपने वश मे कर लेते थे।[४]

---

१. महेन्द्रनाथ गुप्त

२ बाद मे माथुर बाबू के साथ जो तीर्थयात्राएँ उन्होंने की, उनमे वे एक दफे बहुत थक गये, और चलने मे असमर्थ होने के कारण उन्हें सवारी मे ले जाना पडा।

३. अर्थात् जब वे नाम और रूपो के समस्त सूत्रो को उनके केन्द्रभूत ब्रह्म मे संयुक्त करने मे समर्थ हो गये। इसके पूर्व वे इनमे से प्रत्येक से पृथक्-पृथक् रूप से प्रभावित हुए थे।
[Eain Feste Burg) वह प्रसिद्ध गान है, जो कि प्रोटैस्टैण्ट धर्म के प्रचारक लूथर ने सन् १५२० मे, जब उन्हें जर्मनी के राजदरबार मे विचारार्थ लाया गया, तब गाया था। उसकी प्रथम कडी इस प्रकार है 'Eain feste Burg ist unser Gott'—जिसका अर्थ है, 'ईश्वर ही हमारा निश्चित सुदृढ दुर्ग हैं'। सम्भवत. उसी का यहाँ निर्देश किया गया है।—अनु०

४ इस विवरण का अन्तिम अंश एक प्रत्यक्षदर्शी नरेन्द्रनाथ गुप्त की स्मृति से लिया गया है, जो कि अभी तक जीवित हैं। 'प्रबुद्ध भारत' मार्च १९२७ तथा मॉडर्न रिव्यू, मई सन् १९२७ देखिए।

इस गभीर व नाना प्रतिविम्वधारी गगा के सम्मुख, जो अपने तरल पृष्ठ व जलतरगो एव अनेक घुमाव व मोडो के साथ, अपने अन्दर लाखो प्राणियो को धारण व पोषण करती हुई वह रही थी, तोतापुरी जिब्राल्टर की चट्टान के समान थे। वे अति विशालकाय तथा वलिष्ठ थे। उनका शारीरिक गठन वडा शानदार था। सिंहाकृति चट्टान के समान एकदम कठोर व दुर्धर्ष थे। उनका मन और शरीर दोनो ही लोहे के वने हुए थे। कष्ट व वीमारी क्या वस्तु है, यह वे जानते ही न थे। और उन्हे तुच्छ व उपहासास्पद समझते थे। वे मनुष्यो के नेता थे। परिव्राजक का जीवन व्यतीत करने से पूर्व वे पजाव मे एक मठ के सर्वेसर्वा थे, जिसमे सात सौ साधु रहते थे। वे एक ऐसी साधन-प्रणाली के गुरु थे, जो कि मनुष्यो के शरीर व मन को पत्थर के समान कठोर वना देती थी।[1] उनके मस्तिष्क मे यह वात कभी घुसने ही न पाती थी कि कोई भी भावोद्वेग, आपत्ति, इन्द्रियो के तूफान, या ईश्वरीय माया की जादू-शक्ति, जो कि समग्र अस्तित्व की कोलाहलकारी तरगो को पैदा करती है, कभी उनकी इच्छा मे वाधक हो सकती है। उनके लिए माया अस्तित्वहीन, शून्य और मिथ्या थी, और वह हमेशा के लिए निन्दनीय व त्याज्य थी। रामकृष्ण के लिए माया स्वय भगवान् है, क्योकि प्रत्येक वस्तु ही भगवान् है। यह भी व्रह्म का ही एक चेहरा है। इसके अतिरिक्त रामकृष्ण जव तूफानो के वीच से गुजरते हुए एक चोटी पर पहुँच गये, तो वे चढाई मे होने वाली वेदना, भावावेश तथा आकस्मिक आपत्तियो को भूल नही गये। उनकी यात्रा के अत्यन्त महत्त्वशून्य चित्र भी अपनी किस्मो के अनुसार, अपने उचित समय व स्थान पर, शिखरो के आश्चर्यजनक दृश्य के साथ उनकी स्मृति मे जडे हुए थे। परन्तु उस नग्न मनुष्य के पास अपने स्मृति-कोष मे रखने के लिए क्या वस्तु थी? उनका मन भी उनके समान ही सव प्रकार

---

१ वर्तमान युग के शिक्षा सम्बन्धी मनोदैहिक विज्ञान (Psycho-Physiology) को ध्यानमार्ग मे प्रयुक्त होनेवाली भिन्न शैलियो का अनुशीलन करना चाहिए :—पहले सुविधाजनक आसन, पुनः धीरे-धीरे कठोर एव कठोरतर और फिर सर्वथा खुली भूमि पर आसन, और साथ ही भोजन और आच्छादन का तव तक धीरे-धीरे त्याग जव तक कि सर्वथा नग्नता तथा उपवास की स्थिति न प्राप्त हो जाय। इस दीक्षा के अनन्तर नवदीक्षितो को पहले कुछ साथियो के साथ और फिर अकेले ही तव तक देश पर्यटन के लिए इधर-उधर भेज दिया जाता है, जव तक कि उन्हें वाह्य ससार से वाँधने वाले सव वन्धन न टूट जाएँ।

के भावो व प्रेम-भावनाओ से शून्य था—एक इटालियन के शब्दो मे, जैसा कि उसने अम्ब्रिया के एक 'सर्वश्रेष्ठ चित्रकार'[1] के बारे मे कहा था, वह "एक पत्थर का दिमाग था।" उस सगमरमर को फलप्रसू वेदना की छेनी से काटकर सुन्दर मूर्ति का रूप देने की आवश्यकता थी। और ऐसा ही हुआ।

महान् तीक्ष्ण बुद्धि के होते हुए भी वे यह समझने मे असमर्थ थे कि परमात्मा की तरफ ले जाने के लिए प्रेम भी एक मार्ग हो सकता है। उन्होने रामकृष्ण के अनुभवो को चुनौती दी और उच्च स्वर से कही हुई प्रार्थनाओ तथा अन्य सब गायन, स्तोत्र तथा धार्मिक नृत्य आदि बाह्य चेष्टाओ के प्रति तीव्र घृणा प्रकट की। सायकाल के समय जब रामकृष्ण करतल-ध्वनि के साथ ईश्वर का नाम लेने लगे, तब उन्होने व्यगयुक्त हँसी के साथ कहा, "क्या रोटी पका रहे हो ?"

परन्तु उनके न चाहते हुए भी उनके अन्दर जादू अपना कार्य करने लगा। उनके साथी द्वारा मधुर स्वर में गाये हुए कुछ स्तोत्रो ने उन्हे यहाँ तक प्रभावित किया कि उनके नेत्रो मे अश्रु दिखाई देने लगे। बगाल की वचक व दुर्बलकारी जलवायु ने इस पजाबी पर भी अपना असर किया, यद्यपि उसने उसकी उपेक्षा करने की चेष्टा की। उनकी शिथिल शक्ति अब उनके भावोद्वेगो पर पूर्ण नियन्त्रण करने मे असमर्थ हो गई। बलिष्ठतम मनो मे भी कभी-कभी ऐसे विरोध होते हैं, जिन्हे कि उनके स्वामी प्राय. लक्ष्य नही कर पाते। कर्मकाण्डो के इस मजाक उडाने वाले के मन मे भी अग्नि के रूप मे एक प्रतीक की पूजा करने की कमजोरी थी। और वे हर समय अपने पास अग्नि प्रज्वलित रखते थे। एक दिन एक नौकर उनकी धूनी मे से कुछ जलती हुई लकडी लेने के लिए आया, तोतापुरी ने उसके इस अश्रद्धायुक्त व्यवहार का प्रतिवाद किया। रामकृष्ण यह देखकर अपने बालसुलभ स्वभाव के अनुसार हँस पडे। 'देखो देखो !" उन्होंने कहा, "आप भी माया की दुर्दमनीय शक्ति के आगे हार मान गये हैं।"

तोतापुरी स्तम्भित रह गये। क्या वे वास्तव मे बिना जाने ही माया के वशवर्ती हो चुके थे ? बीमारी ने भी उनकी गर्वीली आत्मा को अपनी कमजोरियाँ अनुभव करने के लिए बाध्य किया। बगाल के कई महीनो के लगातार निवास ने उन पर अतिसार का तीव्र आक्रमण किया। उन्हे बाहर चला

---

१. राफेल का गुरु पीड्रो पीरुजिनो। उसके सम्बन्ध से यह वासारि की आलोचना है।

जाना चाहिए था, परन्तु उनका यह कार्य कष्ट व दु.ख से डरकर भागना होता। वे जिद पकड गये "मैं अपने शरीर का दास न बनूंगा।" बीमारी बढती गयी, और उनकी आत्मा अपने-आपको उससे पृथक् न रख सकी। उन्होंने चिकित्सा कराना स्वीकार किया, परन्तु कुछ लाभ न हुआ। दिन प्रतिदिन, दिन के बढने के साथ क्रमश. बढती हुई परछाई की तरह बीमारी उग्ररूप धारण करती चली गयी, यहाँ तक कि उस सन्यासी के लिए ब्रह्म मे ध्यान लगाना असभव हो गया। अपने शरीर द्वारा इस प्रकार अपने क्षय को लक्ष्य करके वह उसे त्याग देने के लिए गगा पर गये। परन्तु एक अदृश्य हाथ ने उन्हे रोक दिया। जब वे जलप्रवाह के अन्दर प्रविष्ट हुए तो या तो उनकी डूबने की इच्छा ही न रही, या अपने को डुबाने की सामर्थ्य। वे सर्वथा निराश होकर वापस लौट आये। उन्होंने माया की शक्ति का अनुभव कर लिया। जीवन मे, मृत्यु मे, दु ख के अतराल मे—सब जगह यह दिव्य माता माया विद्यमान है। वह रात उन्होंने अकेले ध्यान मे व्यतीत की। जब प्रात.काल हुआ तो वे एक और ही व्यक्ति थे। उन्होंने रामकृष्ण के सम्मुख स्वीकार किया कि ब्रह्म, शक्ति[1] या माया सब एक और अभिन्न वस्तु हैं। देवी माँ सन्तुष्ट हो गयी और उन्हे रोगमुक्त कर दिया। उन्होंने अपने उस शिष्य को, जो कि अब उनका गुरु हो गया था, प्रणाम किया और ज्ञान के आलोक के साथ अपने मार्ग पर चले गये।[2]

बाद मे रामकृष्ण ने तोतापुरी के द्विविध अनुभवो का निम्न शब्दो मे वर्णन किया है .—

"जब मैं परम सत्ता की निष्क्रिय रूप मे कल्पना करता हूँ—जब वह सृष्टि का निर्माण नही करती, रक्षा नही करती अथवा ध्वस नही करती—तब मैं उसे ब्रह्म वा पुरुष—निराकार भगवान् कहता हूँ। और जब मैं उसकी सक्रिय-रूप मे कल्पना करता हूँ, अर्थात् जब वह सृष्टि करती है, रक्षा करती है या ध्वस करती है, तब मैं उसे माया या शक्ति या प्रकृति[3]—साकार भगवान् कहता

१ शक्ति अर्थात् ईश्वरीय शक्ति, ब्रह्म की ज्योति।

२ तोतापुरी सन् १८६५ के अन्त के लगभग रामकृष्ण से विदा हुए थे। सभव है कि उन्होंने ही खुदीराम के पुत्र को, सन्यास की दीक्षा देते समय यह प्रसिद्ध रामकृष्ण नाम, जिससे कि वे अब विख्यात हैं, दिया हो। शारदानन्द-कृत 'साधक भाव' पृष्ठ २८५, नोट १, देखिए।

३ प्रकृति का अर्थ है "शक्ति, दृश्य जगत् की आत्मा (The Soul of Natu1c), विश्व मे कार्य करने का सकल्प।" (अरविन्द घोष प्रतिपादित लक्षण, जो कि उसे "निष्क्रिय और प्रसुप्त पुरुष का विरोधी" निर्देश करते हैं।)

हूँ। परन्तु उनकी इस विभिन्नता का अर्थ पृथकता नही है। साकार तथा निराकार एक ही सत्ता है, यह उसी प्रकार एक है जैसे दूध और उसकी धवलता, हीरा और उसकी चमक, अथवा सर्प और उसकी वक्रता। एक के बिना दूसरे का विचार ही असभव है। माँ और ब्रह्म दोनो एक ही हैं।"[1]



---

१ रामकृष्ण के काली के प्रति इस प्रेम-धर्म, और आपाततः प्रतीयमान मूर्ति-पूजा की तह मे विद्यमान गंभीर एकता की भावना के सम्बन्ध मे हमारा क्या निर्णय होना चाहिए, इसके लिए इसकी तुलना एक और विवरण से कीजिए, जो कि यद्यपि इतना अधिक विख्यात नही है तथापि इससे भी अधिक विस्मयकर है :—

"काली, उसके अतिरिक्त और कुछ नही है, जिसे तुम ब्रह्म कहते हो। काली आदि-शक्ति है। जब वह निष्क्रिय होती है, तब हम उसे ब्रह्म कहते हैं (यह उसका शब्दार्थ है......)। परन्तु जब वह सर्जन, रक्षण व संहार का कार्य करती है, तब हम उसे शक्ति या काली कहते हैं। जिसे तुम ब्रह्म कहते हो, तथा जिसे मैं काली कहता हूँ, यह दोनो एक-दूसरे से उसी प्रकार अभिन्न हैं, जिस प्रकार अग्नि व उसका दहन-कार्य। यदि तुम एक का चिन्तन करते हो तो स्वभावतः ही दूसरे का भी स्वय चिन्तन हो जाता है। काली को स्वीकार करना ब्रह्म को स्वीकार करना है। और ब्रह्म को स्वीकार करना काली को स्वीकार करना है। ब्रह्म और उसकी शक्ति अभिन्न हैं। इसे ही मैं शक्ति या काली कहता हूँ।"—शकराचार्य और रामानुज के दार्शनिक विचारो के सम्बन्ध मे नरेन (विवेकानन्द) तथा महेन्द्रनाथ गुप्त के साथ रामकृष्ण का आलाप। वेदान्त केसरी पत्रिका, नवम्बर १९१६ मे प्रकाशित।

४ | ब्रह्म के साथ ऐक्य-बोध

यह महान् विचार किसी भी माने मे नया नही था। भारत की आत्मा का अनेक शताब्दियो से इसी के द्वारा पोषण हुआ है, और इस सुदीर्घ काल मे वेदान्त दर्शनशास्त्र द्वारा इसे निरन्तर ढाला, गूँधा व तैयार किया गया है। शकराचार्य के विशुद्ध अद्वैतवाद, तथा रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, इन दोनो वैदान्तिक सम्प्रदायो मे यह एक अन्तहीन विवाद का विषय रहा है। विशुद्ध अद्वैतवादियो का प्रथम दल ससार को मिथ्या मानता है और एक निरपेक्ष को ही परम सत्ता स्वीकार करता है। दूसरा आपेक्षिक अद्वैतवादी दल ब्रह्म को एक परम सत्ता मानता है, परन्तु प्रतीयमान ससार व वैयक्तिक आत्माओ को भी उसी का रूपान्तर व विभिन्न रूप बतलाता है, जो कि भ्रमात्मक नही हैं, अपितु ब्रह्म के गुणो से प्रकाशित हैं। यह हैं विचार और शक्ति—जो जीवन्त अनेकता का बीज वपन करती है।[1] यह दोनो सम्प्रदाय ही एक दूसरे के प्रति सहिष्णु हैं, तथापि प्रथम दल के उग्रवादी द्वितीय दल के अनुयायियो को एक प्रकार का स्थायी समझौता करने के कारण मानवीय दुर्बलता के साथ पथ्य के समान अथवा कष्टदायक चढाई मे लाठी का सहारा लेने के समान घृणा व अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं। पेचीदा समस्या हमेशा यह रही है कि "दृश्यमान" भ्रान्ति व माया का लक्षण क्या है? क्या यह सापेक्ष है अथवा निरपेक्ष है। शकर ने स्वय माया का कोई लक्षण नही किया है। उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि माया विद्यमान है, और अद्वैत दर्शनशास्त्र का लक्ष्य उसका ध्वस करना है। दूसरी तरफ रामानुज

---

१. इस प्रकार प्रकृति जो प्रकृति का निर्माण करती है, उसकी एक सीढी का निर्माण हुआ है, जो कि निरन्तर गतिशील है व ऊपर चढने की गुप्त शक्ति से युक्त है। इसमे ही मैक्समूलर और उनके बाद विवेकानन्द ने विकासवाद के सिद्धान्त की झाँकी देखी है।

के विशिष्टाद्वैत का उद्देश्य वैयक्तिक आत्माओं के विकास मे उसका किसी प्रकार उपयोग करना है।

ऐसी अवस्था मे इन दोनो सम्प्रदायो के बीच रामकृष्ण की क्या स्थिति थी ? उनके स्वभाव की नमनीयता उनको रामानुज के समन्वयात्मक समाधान की ओर आकृष्ट करती थी। परन्तु दूसरी तरफ उनके विश्वास की तीव्रता उन्हे अद्वैतवाद के उग्रतम रूप को स्वीकार करने के लिए वाध्य करती थी। उन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा ऐसी सजीव अभिव्यक्तियो तथा अत्यन्त विलक्षण रूपको का आविष्कार किया, जिससे न केवल यह सुस्पष्ट हो जाता था कि शब्दो द्वारा उसकी व्याख्या असमव है, अपितु यहाँ तक कि वुद्धि द्वारा भी उस तक पहुँचना समव नहीं है। उन्होंने उस 'निरपेक्ष अव्यय सत्ता' रूपी सूर्य के साथ, जिसके वारे मे इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कि वुद्धि का विषय न होते हुए विशुद्ध वौद्धिक निरपेक्ष सत्ता की कल्पना असम्भव है, शकराचार्य ने कहा था कि "प्रकाशित होनेवाले पदार्थों के अभाव मे भी सूर्य चमकता रहता है," एक प्रकार का प्राय. दैहिक संपर्क स्थापित कर लिया था। परन्तु रामकृष्ण की शाब्दिक अभिव्यक्ति मे अन्तर था। उनकी दृष्टि इतनी तीव्र थी कि वे प्रकाशित होनेवाले पदार्थों को उस अवस्था मे भी, जव कि वे उनके अस्तित्व से इनकार करते थे, विना लक्ष्य किये न रह सकती थी। वे अपने सूर्य के वारे मे कहा करते थे कि वह अच्छे व वुरे सवको एक-सा प्रकाश देता है—वह एक ऐसा दीपक है, जिसके प्रकाश के द्वारा एक मनुष्य धार्मिक पुस्तको का अध्ययन कर सकता है, और दूसरा व्यक्ति जाली दस्तावेज वना सकता है—वह एक ऐसा चीनी का पर्वत है, जिससे चीनी के छोटे-छोटे कणो को लेकर जव चीटियाँ अघा जाती हैं, तो वे समझती हैं कि उन्होंने पर्वत को ही समाप्त कर दिया है, परन्तु जव कि वास्तव मे वे उसके कुछ कण ही ले सकी हैं—यह एक ऐसा समुद्र है कि जिसके तट पर एक नमक की पुतली उसकी गहराई नापने के लिए उतरती है, परन्तु जिस क्षण उसके पैर समुद्र के पानी का स्पर्श करते हैं, उसी क्षण वह पिघल जाती है, विलीन हो जाती है और अदृश्य हो जाती है[1]। "निरपेक्ष सत्ता" वह सत्ता

१ "एक समय की वात है कि एक नमक की पुतली समुद्र की गहराई को मापने के विचार से, हाथ में एक मापने की यष्टिका लेकर समुद्र के किनारे पहुँची। जव वह समुद्र के जल के किनारे पर पहुँची, उसने विशाल समुद्र की ओर देखा। तव तक वह नमक की पुतली थी, परन्तु यदि वह केवल एक कदम और आगे वढाती, और समुद्र के अन्दर अपना पैर रख देती, तो वह

है, जिसे हम पकड नही सकते । यह हमारे हाथ नही आती, परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि हमारा अस्तित्व ही नही है । यह हमारी चेष्टाओ, हमारे अज्ञान, हमारी बुद्धिमत्ता व हमारे अच्छे व बुरे कार्यों को आलोकित करती है । हम इस के वाहरी खोल को ही खटखटाते हैं, परन्तु एक सम्मिलन का क्षण आता है, जब कि वह हमे पुन अपने विशाल मुख मे ले लेती है और अपने अन्दर विलीन कर लेती है । परन्तु सम्मिलन के क्षण से पूर्व वह नमक की पुतली कहाँ थी ? वे चींटियाँ कहाँ से आई थी ? और दीपक के प्रकाश मे कार्य करने वाले उस धार्मिक सन्त व जाली दस्तावेज के लेखक का घर कहाँ है तथा उसकी पाठ्य सामग्री और उसकी आँख की विनाई ही कहाँ है ?

रामकृष्ण हमे वतलाते हैं कि सब धार्मिक शास्त्र भी किसी अश तक अपवित्र हैं, कारण वे मानवीय मुखो से झूठे हो चुके हैं । परन्तु क्या यह अपवित्रता वास्तविक है ! (क्योकि यह पहले से ही ब्रह्मरूपी पवित्रता को स्वीकार करके चलते हैं) उन होठो और मुखो का अस्तित्व कहाँ है, जिन्होंने भगवान् के भोजन का कुछ अश भक्षण किया है ?

इसलिए जब अन्ततः सम्मिलन ही लक्ष्य है,—तो "पृथकीकृत" चाहे कैसा ही सम्पर्कहीन क्यो न हो, वह निश्चय ही अपृथकीकृत का कोई अश होना चाहिए ।[1] रामकृष्ण के शब्दो मे, "पृथकीकृत के साथ अपृथकीकृत का मिलन ही वेदान्त का अन्तिम लक्ष्य है ।"

वस्तुतः रामकृष्ण[2] दर्शन के दो विभिन्न स्तरो व मजिलो मे स्पष्ट भेद

समुद्र मे ही विलीन हो जाती । वह नमक की पुतली, समुद्र की गहराई को हमे वतलाने के लिए कभी वापस नही आती ।"—रामकृष्ण वचनामृत

१ यहाँ यह देखने योग्य है कि निरपेक्ष सत्ता की प्रतिपादक अद्वैत दर्शनशास्त्र की विचारधारा का सुकरात के पूर्ववर्ती दार्शनिको से कितना सादृश्य है । उदाहरणार्थ : आयोनिआ के एनैक्जीमैण्डर का "अनधिगम्यवाद" (Indeterminate) जिसमे उसने प्रतिपादन किया है कि सब पदार्थ पृथक्करण द्वारा उत्पन्न होते हैं । अथवा जेनोफेन और ईलीयेट्स का "एक अद्वितीयवाद" जो कि सब गति, सब परिवर्तन, सब भविष्य तथा सब अनेकता को भ्रान्ति वतलाता है । इन प्रथम युग के ग्रीक दार्शनिको की दार्शनिक विचारधारा के साथ भारतीय विचारधारा की अटूट शृङ्खला को पुनः स्थापित करने के लिए अभी बहुत खोज की आवश्यकता है ।

२. इसके लिए मैं उनकी सन् १८८२ की मुलाकातो पर निर्भर करता हूँ, जब

करते हैं :—एक माया के संकेत से आदिष्ट है, जो कि पृथकीकृत विश्व की वास्तविकता की सृष्टि करती है, दूसरा परिपूर्ण ध्यान (समाधि) का दर्शन है, जिसमे अनन्त के साथ एक क्षण का मिलन भी हमारे अपने व दूसरो के भी पृथकीकृत अहम् की भ्रान्ति को तत्काल विलुप्त कर देता है। परन्तु रामकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि जब तक हम ससार का एक अंश हैं, और उससे अपने ऐक्य-बोध के लिए उसकी वास्तविकता का कभी न बुझनेवाला विश्वास (चाहे वह हमारे अपने ही दीपक मे छिपा हुआ क्यो न हो) कायम रखते हैं, तब तक यह दावा करना कि ससार मिथ्या है, सर्वथा बेहूदा है। वह ऋषि जो समाधि से साधारण जीवन मे आता है, उसे भी पुनः अपने पृथकीकृत अहम् के आवरण मे चाहे वह कैसा ही सूक्ष्म व पवित्र क्यो न हो, आने के लिए बाध्य होना पडता है। उसे आपेक्षिकता के संसार मे धकेल दिया जाता है। "जहाँ तक उसका अहम् आपेक्षिक रूप से, उसके लिए सत्य है, वहाँ तक यह ससार भी सत्य है, परन्तु जब उसका अहम् पवित्र हो जाता है, तब उसकी इन्द्रियाँ समस्त बाह्य जगत् को निरपेक्ष की बहुरूप अभिव्यक्ति के रूप मे देखने लगती हैं।

उस समय माया असली रूपो मे प्रकट होती है। यह एक ही समय मे सत्य और मिथ्या, ज्ञान और अज्ञान, (विद्या और अविद्या) परमात्मा की तरफ ले जानेवाली प्रत्येक वस्तु और उससे दूर ले जानेवाली प्रत्येक वस्तु के रूप मे प्रकट होती है। इसलिए इसका अस्तित्व है।

रामकृष्ण के इस वैयक्तिक साक्षात्कार का भी वही मूल्य है, जो कि धर्म-प्रचारक सेण्ट टामस के साक्षात्कार का है, क्योकि उन्होंने भी स्वय भगवान् का दर्शन व स्पर्श करके ही उन विज्ञानियो व परम ज्ञान के अधिकारियो के अनुभव की पुष्टि की थी जिन्होंने स्वय साकार व निराकार भगवन् का साक्षात्कार किया था। और रामकृष्ण भी उन्ही मे से एक थे।

उन्होंने बाह्य व आभ्यन्तर दोनो तरह से भगवान् के दर्शन किये थे। भगवान् ने अपने-आपको उनके सम्मुख उद्घाटित कर दिया था। साकार भगवान् ने उनसे कहा था · "मैं ही निरपेक्ष हूँ। मैं ही पृथकीकरण का मूलाधार हूँ।" निरपेक्ष पुरुष से जो दिव्य शक्ति विकीर्ण होती है, उसके मूल मे उन्होंने उसी तत्त्व को देखा था, जो कि परमात्मा और विश्व को पृथक् करता है, जो कि निरपेक्ष भगवान् और माया मे समानरूप से विद्यमान है। माया, शक्ति, प्रकृति

कि उनके जीवन का अन्तिम समय निकट था और इसलिए जिनमे उनके विचार का सार निहित है।

यह भ्रान्ति नही है। विशुद्ध अहम् के लिए वह उस परम-आत्मा की ही अभिव्यक्ति है, जो कि जीवात्माओ तथा विश्व का मूलस्रोत है।

उस क्षण के वाद से प्रत्येक वस्तु सहज व स्पष्ट हो गयी। ब्रह्म के अग्नि-समुद्र से एकदम वापिस आने पर उस द्रष्टा ने उल्लासपूर्वक देखा कि किनारे पर प्रेमास्पद दिव्य माँ उसकी प्रतीक्षा कर रही है। परन्तु इस वार उसने उसे नयी आँखो से देखा, क्योकि उसने उसके गूढ अर्थ को—निरपेक्ष के साथ उसकी एकता को समझ लिया था। मनुष्यो के निकट अपना स्वरूप अभिव्यक्त करने के लिए ही उस निराकार निरपेक्ष ने साकार मनुष्य या माता का रूप धारण किया था।[1] वही सव अवतारो का मूल तथा असीम व ससीम के मध्य दिव्य सम्पर्क-स्थापिका है।[2] इसलिए रामकृष्ण माँ का स्तुतिगान करने लगे :

---

१ भारतवर्ष मे साकार भगवान् की नारी रूप मे भी कल्पना की जाती है : प्रकृति, शक्ति।

२. ईसाई रहस्यवाद में पुत्र की भूमिका से इसकी तुलना कीजिए :—

"(भगवान् कहते हैं) वह प्यारा पुत्र मेरे यश का प्रकाश है, उसके चेहरे पर अदृश्य दृश्य रूप मे प्रकट हो रहा है, जैसा कि मैं देवता रूप मे हूँ, और जिसके हाथ मे मैं अपने आदेश से द्वितीय सर्वशक्तिमत्ता को देता हूँ।"

—मिल्टन Paradise Lost, सर्ग ६, ६८०।

समवतः रामकृष्ण भी 'द्वितीय' शब्द को छोडकर, जो कि अभिव्यक्ति को, उसे उत्पन्न करनेवाले भागवत सकल्प के अधीन कर देता है, यही बात कहते। परन्तु वे दोनो एक ही सर्वशक्तिमत्ता हैं। मिल्टन का भगवान् भी रामकृष्ण के ब्रह्म के समान निरपेक्ष पुरुष है, जो कि अभिव्यक्त नही है, और वह कर्म नही कर सकता। उसने इच्छा की, फलस्वरूप उसका 'पुत्र' ही जो कि स्रष्टा भगवान् है, उसका प्रतिनिधि होकर कार्य करता है (रामकृष्ण के लिए वही काली माँ हैं। पुत्र ही शब्द है, वही वात कहता है, उसका जन्म होता है, मृत्यु होती है, वही अभिव्यक्त होता है। परम पुरुष अदृश्य भगवान् है।

"Fountain of light Thyself invisible"

प्रकाश का आदि स्रोत जो कि स्वय अदृश्य है.

(Paradise Lost 3, 374)

वह विचार और स्पर्श के अतीत है। वह अचल है तथापि सर्वव्यापक है, कारण वह सब पदार्थों मे विद्यमान है :

"मेरी दिव्य माँ निरपेक्ष से भिन्न नही है। वह एक साथ ही एक और अनेक है, वह एक और अनेक की अपेक्षा भी महान् है। मेरी माँ कहती है, 'मैं ही विश्व की जननी हूँ, मैं ही वेदान्त का ब्रह्म हूँ, मैं ही उपनिषद् का आत्मा हूँ। मैं ही वह ब्रह्म हूँ जिसने पार्थक्य की सृष्टि की है। अच्छा व बुरा सभी समान भाव से मेरे आदेश का पालन करते है। कर्म[1] का नियम वस्तुत: विद्यमान है। मैं ही नियमो की निर्मात्री हूँ। अच्छे व बुरे सब कर्म मेरे ही आदेशो का पालन करते हैं। मेरे पास आओ। चाहे प्रेम (भक्ति) के द्वारा आओ, चाहे ज्ञान के द्वारा आओ या कर्म के द्वारा आओ, सभी भगवान् की तरफ ले जाते हैं। मैं इस ससार के बीच से, इस कर्म-समुद्र के मध्य से तुम्हें पथप्रदर्शन कराऊँगी। और यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हे निरपेक्ष पुरुष का ज्ञान भी प्रदान करूँगी। तुम मुझे छोडकर भाग नही सकते। जिन्होंने समाधि मे निरपेक्ष पुरुष (परब्रह्म) के दर्शन कर लिये हैं, वे भी मेरी इच्छा की प्रेरणा से पुन मेरे पास वापस आ जाते हैं।' मेरी माँ आदिमतन दिव्य शक्ति है। वह सर्वव्यापक है। वह समस्त दृश्य जगत् के अन्दर व बाहर विद्यमान है। वह जगत् की जननी है, और यह जगत् अपने हृदय मे उसे धारण किये हुए हैं। वह मकडी है, और यह जगत् वह जाल है जिसे कि उसने स्वय बुना है। मकडी अपने अन्दर से तार को बाहर निकालती है, और उससे अपने चारो तरफ जाल का निर्माण करती है। मेरी माँ एक साथ ही धृता एव धारिणी[2] है। वही छिलका है और वही गूदा भी है।"

इस ओजस्वी मन्त्र का सार भारतवर्ष के प्राचीन उपादानो से ही सगृहीत है। रामकृष्ण व उनके अनुयायियो ने कभी यह दावा नही किया कि उनका

"पिता की सन्तान वह शक्ति आयी और अपने महान् पिता के समीप बैठ गयी, वह भी अदृश्य हो गयी, परन्तु फिर भी उपस्थित रही (सर्वव्यापकता का यह विशेष अधिकार है)।' 'Paradise Lost सर्ग ७, ५८८।

डैनिस सौरेट कृत Milton and Material Christianity in England १९२८, देखिए। इन दोनो रहस्यवादो में सादृश्य सुस्पष्ट व स्वाभाविक है। दोनो का ही जन्मस्थान प्राच्य मे है, और दोनो ही मनुष्य के एक ही सीमावद्ध क्रिया के फल हैं।

१ कर्म—क्रमिक अस्तित्वो का उत्पादक शक्ति।

२ रामकृष्ण के प्रिय शिष्य 'म' रचित रामकृष्ण कथामृत। स्वामी विवेकानन्द की जीवनी के १९२२-२४ के अन्तिम सस्करण मे।

यह विचार[1] एक नया विचार है। रामकृष्ण की प्रतिभा सर्वथा एक भिन्न प्रकार की थी। उन्होंने विचार मे निद्रित देवताओ की तन्द्रा को भग करके उन्हें मूर्तिमान् बना दिया। उन्होंने सुषुप्त अरण्य[2] के शुष्क स्रोतो को पुनः उद्‌बुद्ध किया और अपने चमत्कारिक व्यक्तित्व से उन्हे उष्णता प्रदान की। और इस प्रकार उनका यह ओजस्वी मत्र अपने उच्चारण, अपने भावावेश, अपनी लय, अपने राग और अपने उत्कट प्रेम के गान मे स्वय एक विलक्षण वस्तु है।[3]

---

१ इसके विपरीत उनकी यह प्रवृत्ति रही है कि वे जहाँ पर मौलिकता का दावा भी कर सकते थे, वहाँ भी उन्होंने इसे अस्वीकार ही किया है। मेरा विश्वास है कि आधुनिक भारत व अन्य देशो के भी समस्त महान् धार्मिक मनीषीगण की यह सामान्य धारणा है कि उनकी शक्ति इसी निश्चय मे निहित है कि उनका सत्य एक प्राचीन सत्य व एक सनातन सत्य है। आर्यसमाज के प्रतिष्ठाता दयानन्द को यदि किसी नये विचार के प्रवर्तक की उपाधि दी जाती थी, तो वे अत्यन्त कुपित हो जाते थे।

२. अरण्य सौन्दर्य नामक प्रसिद्ध परियो की तरफ निर्देश है।
(फ्रान्सीसी कहानी का शीर्षक है *La Belle au Bois Dormant* जिनका शब्दार्थ है : 'सुपुप्त अरण्य का सौन्दर्य'।—अनुवादक)।

३ यह स्मरण रखने योग्य है कि इसके कवित्व व सगीतमय उपादान आशिक रूप से बँगला की लोक-परम्परा से ही लिये गये है। प्राचीन वैष्णव कवियो के यात्रा व नाट्याभिनयो मे प्रयुक्त गानो से उनका मन कितना प्रभावित हो चुका था, यह हम पहले ही देख चुके हैं। कबीर का एक दोहा वे प्राय. गाया करते थे। परन्तु आधुनिक कवियो व रागियो की बहुत सी रचनाओ ने भी उनके मन मे काफी स्थान पाया था। (रामकृष्ण कथामृत—द्रष्टव्य) प्राचीन कवियो मे, अठारहवी शताब्दी के कवि रामप्रसाद उनके एक अति प्रिय कवि थे। रामकृष्ण 'माँ' के प्रति उनके स्तोत्रो को निरन्तर गाया करते थे व अपने प्रवचनो मे उनका हवाला दिया करते थे। रामकृष्ण ने रामप्रसाद से अनेक चमत्कारिक उपमाएँ सगृहीत की थी। यथा :—पतग की उपमा जिसका कि आगे उल्लेख है। माँ के कुछ विशेष रूपो का वर्णन भी उन्होंने रामप्रसाद से ही लिया है। (उदाहरणार्थ :—माँ जब अपनी प्रिय सन्तान को भ्रान्त करने के लिए 'माया' का प्रयोग करती है, उस समय उसके नेत्रो मे एक प्रकार की दुष्टतापूर्ण व्यग हँसी छिपी रहती है।)
कथामृत मे अन्य जिन गायक कवियो का उल्लेख है, उनमे निम्न

इस सगीत को कान लगाकर सुनिए। यह एक अपूर्व महान् सगीत है। यह नि.सीम है, परन्तु साथ ही स्वरसगति से पूर्ण है। यह किसी कविता के छन्द के ढांचे मे बँधा नही है परन्तु स्वय ही एक नियमित सौन्दर्य और आनन्द मे अपने-आपको ढाल लेता है। निरपेक्ष की उपासना बिना किसी प्रयत्न के ही माया की आवेगमय भक्ति से ओतप्रोत है। जब तक हम विवेकानन्द की वाणी को सुनकर इसकी गहराई को नही नाप सकते, तब तक आओ, इस प्रेम की पुकार को ही अपने कानो मे भर लें। माया के बन्धनो मे जकडा हुआ वह महान् योद्धा उनसे मुक्ति पाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहा, माया और उसमे निरन्तर सघर्प चलता रहा। परन्तु रामकृष्ण के लिए यह स्थिति सर्वथा अजनबी थी। उनका किसी के साथ कोई सघर्प न था। वे अपने शत्रु को भी मित्र की तरह प्यार करते थे, और कोई भी उनके आकर्षण का विरोध न कर सकता था। उनका शत्रु अन्त मे उनसे प्रेम करने के लिए बाध्य हो जाता था। माया ने भी उन्हे अपने आलिगन पाश मे बाँध लिया। उन दोनो के ओष्ठाधर एक हो गये। आर्मीडा को उसका रैनाड[1] मिल गया। वह

उल्लेख-योग्य हैं :—उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वचरण के माँ के उपासक कवि कमलाकान्त, उन्ही के समकालीन काली के उपासक नरेशचन्द्र, उसी युग के वैष्णव कवि एव लोकप्रिय गीति रचयिता कुबीर; अपेक्षाकृत आधुनिक काल के कवि, केशवचन्द्र के शिष्य प्रेमदास (जिनका असली नाम त्रैलोक्य सान्याल था) जिन्होंने रामकृष्ण की अनेक नवीन रचनाओ से प्रेरणा प्राप्त की थी, एव विख्यात नाटककार व रामकृष्ण के शिष्य गिरीशचन्द्र घोष (उनके 'चैतन्य लीला' व 'बुद्ध-चरित' प्रभृति नाटको के गान)।

१ इस स्थान पर टारक्वेटो टासो रचित 'यूरूसलम की मुक्ति' शीर्षक कविता के दो पात्रो की ओर निर्देश है।

कहानी मे इस प्रकार वर्णन है कि ग्यारहवी शताब्दी मे दमिश्क मे आर्मीडा नामक एक मायाविनी रहती थी। रैनाड नामक एक अति साहसी वीर के साथ उसका परिचय हुआ। रैनाड अत्यन्त आत्मविश्वासी था—वह सोचता था कि आर्मीडा की जादू-शक्ति उस पर कोई असर नही डाल सकती। परन्तु धीरे-धीरे आर्मीडा का जादू उस पर अपना असर करने लगा—और रैनाड पूर्णतया वशीभूत हो गया। आर्मीडा उसकी हत्या करना चाहती थी, परन्तु जब वह उसकी हत्या करने के लिए तैयार हुई—वह न कर सकी। उसके काँपते हुए हाथ से छुरी पृथ्वी पर गिर पडी। तब आर्मीडा

सर्सि[1] जो अपनी पाणिग्रहणार्थी अन्य जनता को मायामुग्ध कर देती थी, उसने उसके निकट उस आरियाडने का रूप धारण कर लिया, जो कि थीसिस को हाथ से पकड़कर भूलभुलैया के चक्कर से बाहर ले गयी थी। वह सर्वशक्तिशालिनी माया जो बाज को आँखो पर पर्दा डाल देती है, उसने रामकृष्ण के नेत्रो को खोल दिया, और उसे अपनी हथेली से विस्तृत आकाश मे विचरण करने के लिए ऊपर फेंक दिया। माया वह माँ[2] है, जो अपनी सन्तान के सम्मुख अपना स्वरूप प्रकट करने के लिए नाना ऐश्वर्यशाली दिव्य मूर्तियो मे अपने-आपको अभिव्यक्त करती है। वह अपने प्रेम द्वारा, अपने हृदय की अग्नि द्वारा मनुष्य के अहम् के आवरण को इस प्रकार ढाल देती है कि वह "उस वस्तु के समान जिसकी लम्बाई है, परन्तु कोई चौडाई नही है" केवल एक रेखा व बिन्दुमात्र रह जाती है, और जो कि उस उत्कृष्ट जादूगर की उँगली के स्पर्श मात्र से ही ब्रह्म मे घुलमिल जाती है।

इसलिए वे उँगलियाँ और वह जल धन्य हैं। वह चेहरा और वह आवरण भी धन्य है। सभी पदार्थ भगवान् हैं। भगवान् ही सब पदार्थों मे हैं। वह प्रकाश

को मालूम हुआ कि वह रैनाड के प्रेमपाश मे बँध गयी है। इसके बाद से आर्मीडा ने जादू-विद्या छोडकर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया।

—अनुवादक

१. सर्सि एक पाश्चात्य पौराणिक कथा मे यह वर्णन है कि एयेआ द्वीप मे एक सर्सि नाम की जादूगरनी रहती थी। ग्रीक योद्धा यूलिसिस भ्रमण करता हुआ उस द्वीप में पहुँच गया। उसने अपने कुछ आदमियो के साथ इयुरिलकास को उक्त द्वीप की छानबीन करने के लिए भेजा। परन्तु सर्सि ने अपने जादू के बल से इयुरिलकास के सब सहचरो को सम्मोहित कर छुपा दिया। इसके बाद यूलिसिस ने सर्सि का दमन करके अपने साथियो को उसके चगुल से छुडाया। यह कहानी 'ओडसी' काव्य मे वर्णित है। —अनुवादक

२. अथवा "ज्येष्ठ भगिनी"। एक स्थान पर रामकृष्ण ने 'केशवचन्द्र से कहा था: "दिव्य माँ ने विश्व की अपनी रचना के अग के रूप मे माया की सृष्टि की है।" माँ विश्व से साथ खेल करती है। यह विश्व उसका खिलौना है। "वह ऊपर उडती हुई आत्मा रूपी पतग को, जो माया की डोरी से बँधी है, ढीला छोड देती है।"—अक्तूबर १८८२

मे भी हैं, और परछाइँ मे भी हैं। सत्रहवी शताब्दी[1] के अंग्रेज नीतिवादियो से प्रभावित होकर ह्यूगो ने कहा था कि सूर्य केवल ईश्वर की छाया मात्र है।[2] परन्तु रामकृष्ण यह कहना अधिक पसन्द करते कि छाया भी प्रकाश है।

सच्चे भारतीय मनीषियो की तरह वह अपनी समग्र सत्ता द्वारा जव तक किसी वस्तु की उपलब्धि नही कर लेते थे, तव तक उस पर विश्वास नही करते थे। उनके सभी विचार जीवन के रस से परिपुष्ट थे। इसलिए उनके अन्दर जव किसी विचार का सचार होता था, तो वह उनके लिए एक सुस्पष्ट दैहिक रूप धारण कर लेता था। विश्वास का अर्थ अपने हृदय मे धारण करना, और उसके वाद परिपक्व फल को अपने अन्दर सग्रह करना है।

रामकृष्ण जव भी किन्ही ऐसे निविड सत्यो का स्पर्श अनुभव करते थे तो वह उनके अन्दर केवल विचार मात्र नही रह जाते थे। वे जीवन धारण करने के लिए अकुरित होने लगते थे और उनके विश्वास से सिंचित होकर उपलब्धियो के उद्यान मे पल्लवित व विकसित होकर फलो की सृष्टि करते थे। तव वे केवल भावमय व विच्छिन्न विचार नही रह जाते थे, अपितु वे एक सुनिर्दिष्ट आकृति धारण कर लेते थे और मनुष्यो की क्षुधानिवृत्ति के लिए उनकी व्यावहारिक उपयोगिता होती थी। जिस 'दिव्य मास' का उन्होंने आस्वादन किया था, वही विश्व का उपादान है, सव धर्मों व सव भोजनो मे वे उसी का एकरस आस्वाद पायेंगे। वे प्रभु के रात्रि-भोज[3] मे अमरत्व का आहार भी ग्रहण करेंगे, परन्त उस समय उनके साथ केवल वारह धर्मप्रचारक, शिष्य ही न होंगे, परन्तु समस्त विश्व व उसकी असख्य बुभुक्षित आत्माएँ उनके साथ होगी।

सन् १८६५ के अन्त के लगभग तोतापुरी के विदा हो जाने के पश्चात्, रामकृष्ण छ महीने से अधिक समय तक, इस जादू-शक्ति-सम्पन्न अग्निमण्डल के अन्दर ही रहे। और जव तक उनका शरीर सहन कर सका, उन्होंने निरपेक्ष सत्ता के साथ एकत्व सम्पादन जारी रखा। यदि यह वर्णन विश्वसनीय है तो छः महीने तक वे अग-सचालन-शून्य समाधि-अवस्था मे वने रहे। इसे सुनकर प्राचीन फकीरो के वर्णन याद आ जाते हैं—जिनकी आत्मा अपने शरीर को एक

---

१. डेनिस सौरेट : Milton and Christian Materialism in England पृष्ठ ५२।

२ मिल्टन : "Dark with excessive light thy skirts appear" (Paradise Lost) सर्ग ३, ३७४)

३. ईसा व उनके शिष्यो के अन्तिम रात्रि-भोजन की तरफ सकेत है।

खाली घर की तरह छोड़कर प्रकृति की ध्वंस-क्रीडा का खिलौना बना देती थी। यदि रामकृष्ण का एक भतीजा उनके इस प्रकार स्वामिहीन शरीर की रक्षा और उसकी शक्तियो का पोषण न करता रहता तो वह जीवित न रह सकते थे।[1] 'निराकार' के साथ और अधिक काल तक समाधि-मिलन मे रहना सभव न था। इसके अतिरिक्त उनके यौगिक भावावेश का यही चरमकाल था, जो कि उन फ्रासीसी पाठको को जो कि ठोस जमीन पर चलने के अभ्यस्त हैं, और जिन्होंने चिरकाल से आध्यात्मिक विद्युत् के धक्को का अनुभव नही किया

---

१. ऐसी किम्वदन्ती है कि इस समय एक सन्यासी अकस्मात् दक्षिणेश्वर मे आये, उस समय रामकृष्ण प्राय. अन्तिम श्वास ले रहे थे, उन्होंने रामकृष्ण की देह पर इस प्रकार मुट्ठी से प्रहार किये कि उनका पलायमान चैतन्य वापस आ गया।

रामकृष्ण के अन्यतम श्रेष्ठ शिष्य, और हिन्दू अध्यात्म विद्या (Metaphysics) के परम विद्वान् स्वामी शारदानन्द, रामकृष्ण के सम्पर्क मे आने वाले उनके शिष्यों मे रामकृष्ण की मानसिक रचना को सबसे अधिक समझने वाले थे। उन्होंने इस छः महीने की निर्विकल्प समाधि का वर्णन दिया है। उन्होंने लिखा है कि इस अचेतन अवस्था मे रामकृष्ण के अहम् का चैतन्य पूर्ण रूप से अन्तर्हित हो गया था। वह केवल बीच-बीच मे कुछ समय के लिए धीरे से आकर सूक्ष्म रूप मे उनकी पूर्ण "उपलब्धि" को आवृत कर लेता था। शारदानन्द के मतानुसार रामकृष्ण को इस अर्ध-चेतनावस्था मे विश्वात्मा का आदेश प्राप्त हुआ। (इसे हम विश्वात्मा का निर्देश न कहकर जीवनी-शक्ति की वापसी की अस्पष्ट पुकार या उत्पीडन भी कह सकते हैं।) "इस आदेश ने उन्हें भावमुक्त अवस्था मे रहने के लिए बाध्य किया।" इसने उनसे कहा, "अहम् की पूर्ण चेतना को विलुप्त न होने दो, परम निरपेक्ष सत्ता के साथ एकत्व सम्पादन मत करो, किन्तु यह अनुभव करो कि वह विश्वात्मा जिसके बीच विश्व के अनन्त रूप जन्म ग्रहण करते हैं, वह तुम्हारे अन्दर विद्यमान है, जीवन के प्रत्येक मुहूर्त मे तुम उसका दर्शन करते हुए विश्व का कल्याण करो।"

इस प्रकार इस दीर्घ समाधि से अवतरण काल मे रामकृष्ण ने अपने जीवन के दिव्य लक्ष्य की उपलब्धि की थी। यह एक ही दिन मे व अकस्मात् न हो गयी थी, परन्तु धीरे-धीरे ही हुई थी। हर हालत मे यह १८६६ के पूर्वार्ध मे हो गयी थी।

है, चकित व विरक्त कर सकता है। परन्तु उन पाठको को कुछ देर और धैर्य रखने की आवश्यकता है। हम सिनी के पर्वत से शीघ्र ही नीचे—मनुष्यो के अन्दर आने वाले हैं।

बाद मे रामकृष्ण ने स्वयं यह अनुभव किया कि वे ईश्वर को प्रलुब्ध कर रहे थे और यह एक आश्चर्य है कि वे कैसे वापस लौट आये। उन्होंने इस बात का हमेशा ध्यान रखा कि उनके शिष्य कभी किसी ऐसी परीक्षा मे प्रविष्ट होने का प्रयत्न न करे। उन्होंने विवेकानन्द को भी यह कहकर इनकार कर दिया कि यह एक ऐसा आनन्द है, जिसका उपभोग उन उच्च आत्माओ के लिए निषिद्ध है, जिनका यह पुनीत कर्तव्य है कि वे दूसरो की सेवा के लिए अपने सुखो का त्याग कर दे।[1] जब युवक नरेन (विवेकानन्द) ने उसे निर्विकल्प समाधि—

---

१ ऐसी अवस्था मे वह साधारण मनुष्य को इससे विरत होने के लिए कितने आग्रहशील होंगे! जीवन मे जिनका गतिपथ अत्यन्त सकीर्ण है, उनके इसकी तीव्र लहरो की बाढ मे निमग्न हो जाने, और इस प्रकार अपने-आपको व अपने समाज को हानि पहुँचाने की आशका है। उन्होंने अपने साँचो पाजा तरुण भतीजे 'हृदय' एव अपने पृष्ठपोषक माथुर बाबू को इस समाधि के निषिद्ध फल के भक्षण से किस प्रकार विरत किया उससे उनकी सर्वेण्टोज के सदृश रसिकता व सुबुद्धि का परिचय मिलता है।

हृदय अत्यन्त पार्थिव मनुष्य था। वह अपने चाचा का परम भक्त था। वह अपने चाचा की ख्याति मे हिस्सेदार होना चाहता था। वह सोचता था कि उत्तराधिकार के नियमानुसार उसे रामकृष्ण की आध्यात्मिक सुविधाओ से लाभ उठाने का अधिकार है। रामकृष्ण की विरक्ति उससे सहन न होती थी। उसके चाचा के भावावेश के परीक्षणो से उसे विरत करने के सब प्रयत्न निष्फल हो गये। परिणाम यह हुआ कि उसका मस्तिष्क सर्वथा विकृत हो गया और उसे मिरगी के-से दौरे आने लगे और वह चीत्कार करने लगा।—रामकृष्ण ने कहा 'ओ माँ! इस मूर्ख के ज्ञान को लुप्त कर दो।' हृदय मिट्टी मे लोटने लगा और अपने चाचा को गालियाँ बकने लगा। 'चाचा तुमने क्या कर दिया! इन अवर्णनीय आनन्दो को मैं फिर कभी अनुभव न करूँगा।' रामकृष्ण ने उसे उसकी इच्छानुसार कार्य करने के लिए अकेला छोड दिया। हृदय के मस्तिष्क को तत्काल भयानक स्वप्नो ने घेर लिया। और उसे बाध्य होकर रामकृष्ण से अपने-आपको उनसे मुक्त करने के लिए प्रार्थना करनी पडी।

निरपेक्ष की खाडी मे ले जाने वाले भयानक द्वार—को खोलने की प्रार्थना की तो रामकृष्ण ने, जो कभी भी अपना मानसिक सतुलन न खोते थे, और अपने प्रिय पुत्र के भावो को कभी ठेस न पहुँचाते थे, एकदम क्रुद्ध होकर इनकार कर दिया। उन्होंने आवेश मे आकर कहा, 'बडी शर्म की बात है। मैं सोचता था कि तुम वह वट वृक्ष हो, जिसकी छाया मे हजारो थकी हुई आत्माएँ विश्राम लेगी। परन्तु तुम उसके स्थान पर केवल अपना ही भला चाहते हो। इन क्षुद्र वस्तुओ का ख्याल छोड दो। इस एकपार्श्वीय आदर्श से तुम कैसे सन्तुष्ट हो सकते हो? तुम्हे सर्वदर्शी होना होगा। सब रूपो मे भगवान् का उपभोग करो।' (इससे उनका अभिप्राय था कि कर्म और विचार दोनो के द्वारा, जिससे कि वह अपने उत्कृष्टतम ज्ञान का मनुष्य-जाति की उत्कृष्टतम सेवा मे उपयोग कर सके।)

त्याग के कठिन कर्तव्य से भग्नहृदय व अपमानित होकर नरेन रोने लगा। उसने स्वीकार किया कि गुरु की ताडना सर्वथा न्याययुक्त थी और उसने अपने जीवन को नम्रता, सहिष्णुता व साहस के साथ मानव-सेवा मे अर्पित कर दिया। परन्तु फिर भी उसके हृदय मे जीवन के अन्त समय तक अगम्य भगवान् से मिलने के लिए एक रुग्ण अभिलाषा निरन्तर बनी रही।

परन्तु हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि हम कथा के जिस अश तक पहुँचे हैं, वहाँ तक रामकृष्ण ने अपनी शागिर्दी की अवधि समाप्त न की थी। और यह भी ध्यान देने योग्य है कि साधारणतया हम सब लोग जिस प्रकार सम्मिलित अनुभव से अपनी वैयक्तिक अभिज्ञता प्राप्त करते हैं, रामकृष्ण ने उस प्रकार अपनी अभिज्ञता व अनुभव प्राप्त नही किया था। उन्होंने अपने ही वैयक्तिक श्रम व कष्टो से उसका मूल्य चुकाया था।

उनकी समाधि अवस्था से पुनरावृत्ति उनकी अपनी इच्छा व योग्यता के

धनी माथुर बाबू को भी इसी प्रकार के अनुभवो का शिकार होना पडा। उन्होंने रामकृष्ण से उन्हे समाधि अवस्था की प्राप्ति तक पहुँचाने के लिए इच्छा प्रकट की। रामकृष्ण बहुत दिनो तक इनकार करते रहे, परन्तु अन्त मे उन्होंने कहा, 'बहुत अच्छा, दोस्त। ऐसा ही हो।' वाछित समाधि के परिणामस्वरूप माथुर बाबू की व्यापार सम्बन्धी सब वैषयिक बुद्धि एव उत्साह विनष्ट हो गया। यह उनकी अभिलाषा से बहुत आगे था, वे अत्यन्त उद्विग्न हो गये और इस दिशा मे और आगे न बढना चाहते थे। इसलिए उन्होंने रामकृष्ण से प्रार्थना की कि वे उन्हे समाधि-अवस्था से सर्वदा के लिए मुक्त कर दे। रामकृष्ण मुस्कराये और उन्हे स्वस्थ कर दिया।

कारण नही हुई थी। वे कहते थे कि माँ ने शारीरिक कष्ट द्वारा उन्हे उनके कर्तव्य का बोध कराया था। निर्विकल्प समाधि अवस्था से वे अतिसार के प्रवल आक्रमण द्वारा पुन॰ पीछे लौटने के लिए वाध्य हुए थे। यह अतिसार छः महीने तक उन्हे कष्ट देता रहा।

शारीरिक एव मानसिक दोनो प्रकार के कष्टो ने उन्हे पृथ्वी के साथ सम्बद्ध रखा। उनको जानने वाले एक फकीर ने कहा था कि ब्रह्म के साथ मिलन की इस समाधि से प्रत्यावृत्त होने के कुछ दिनो के अन्दर ही जव रामकृष्ण ने दो माँझियो को परस्पर गुस्से मे लडते देखा, तो वे अत्यन्त वेदना के साथ चीत्कार करने लगे। उन्होंने समस्त विश्व की वेदना से चाहे वह कैसी ही अपवित्र व प्राणघाती क्यो न हो—अपने-आपको एकाकार कर लिया था, और उससे उनका समस्त हृदय क्षत-विक्षत हो गया था। परन्तु इसके साथ ही वह यह भी जानते थे कि मनुष्य के जितने भी मतभेद व पारस्परिक कलह है, वे भी उस माँ की ही सतान हैं, यह सर्व-शक्तिमान् पार्थक्य परमात्मा का ही प्रकार है और इसलिए उन्हे भगवान् को मनुष्य की अवस्थाओ व सव रूपो मे चाहे वे परस्पर कितने ही विरोधी क्यो न हो, और कैसी ही विरोधी विचारधाराओ से उनका पोषण क्यो न होता हो, प्रेम करना चाहिए। सबसे बढकर उन्हे उनके सब भगवानो मे प्रेम करके ही भगवान् को प्रेम करना चाहिए।

सक्षेप मे उन्होंने यह अच्छी तरह अनुभव कर लिया कि सभी धर्म भिन्न-भिन्न मार्गों द्वारा उसी परमात्मा की तरफ ले जाते हैं। इसलिए वह उन सबकी छान-बीन करने के लिए व्यग्र हो उठे, क्योकि उनके लिए समझने का अर्थ ही अस्तित्व एव कर्म था।



५ | मनुष्य में प्रत्यावर्तन

सबसे प्रथम मार्ग जिसकी उन्होंने छान-वीन की, वह इस्लाम धर्म था। सन् १८६६ के अन्त मे जब कि वे अभी पूर्णतया स्वस्थ भी न हो पाये थे, उन्होंने उस पर चलना प्रारम्भ कर दिया।

मन्दिर से वे बहुत से मुसलमान मुसाफिरो को आते-जाते देखा करते थे। कारण उदारहृदया, दक्षिणेश्वर की प्रतिष्ठात्री रानी रासमणि ने, जो कि नीच जाति की 'नई रईस' थी, धर्म-परायणतावश अपने मन्दिर के साथ सभी धर्मों व वर्णों के अतिथियो के आश्रय के लिए एक अतिथिशाला का भी निर्माण कराया था। वही पर एक दिन रामकृष्ण ने गोविन्दराय नामक एक गरीब मुसलमान को पूजा व प्रार्थना करते हुए देखा, और उसके भूलुण्ठित शरीर के बाह्य पृष्ठ को ही देखकर उन्होंने जान लिया कि इस मनुष्य ने इस्लाम के द्वारा भगवान् को पा लिया है। उन्होंने गोविन्दराय से दीक्षा देने के लिए कहा, और कुछ दिनो के लिए वह काली का पुरोहित अपने सब देवताओ को एकदम भूल गया। उन्होंने उनकी पूजा करनी छोड दी, उनका विचार तक भी त्याग दिया। वे मन्दिर की सीमा मे बाहर रहने लगे, अल्लाह का नाम जपने लगे, और मुसलमानो की पोशाक धारण कर ली—और कल्पना कीजिए कि कहाँ उस महापातक—पवित्र गोमाता के निषिद्ध गोमास के भक्षण तक के लिए भी उद्यत हो गये? उनके स्वामी माथुर बाबू यह देखकर भयभीत हो गये और उनसे इस कार्य से विरत रहने के लिए प्रार्थना करने लगे। उन्होंने रामकृष्ण को अपवित्रता व भ्रष्टाचार से बचाने के लिए एक मुसलमान के आदेशानुसार अपने एक ब्राह्मण से गुप्त रूप से भोजन बनवाकर देने की व्यवस्था कर दी। एक भिन्न विचारधारा के प्रति अपने पूर्ण आत्मसमर्पण का परिणाम जैसा कि इस भावुक कलाकार की आध्यात्मिक यात्रा मे सदा ही होता आया है, उक्त विचार की प्रत्यक्ष स्थूलरूप में परिणति के रूप मे प्रकट हो गया। उन्हे गम्भीर मुद्रा धारण किये हुए एक शुभ्र श्मश्रुधारी ज्योतिर्मय पुरुष के दर्शन हुए (इस प्रकार समवत· उन्हे पैगम्बर दृष्टिगोचर हुए)।

वह रामकृष्ण के निकट आकर उन्ही मे विलीन हो गया। रामकृष्ण ने मुसलमानो के परमात्मा "सगुण ब्रह्म" का साक्षात्कार किया। वहाँ से वे पुनः निर्गुण ब्रह्म मे पहुँच गये। इस प्रकार इस्लाम की नदी ने उन्हे पुनः समुद्र तक पहुँचा दिया।

निरपेक्ष ब्रह्म मे समाधि के तत्काल वाद इस्लाम सावना के इस अनुभव की उनके व्याख्यातागण एक महत्त्वपूर्ण अर्थ मे इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि भारत की दो परस्परविरोधी हिन्दू और मुसलमान सतानो का केवल अद्वैत व निराकार ब्रह्म के आवार पर ही परस्पर पुर्नमिलन हो सकता है। इसीलिए उनकी स्मृति मे रामकृष्ण मिशन ने हिमालय की गहराई मे एक उपासना केन्द्र स्थापित किया है, जो कि सव धर्मों के विशाल समन्वय-मन्दिर की आधारशिला है।

सात वर्ष वाद, (स्पष्टता के लिए ही मैंने सव घटनाओ का सग्रह किया है) इसी प्रकार के एक अनुभव द्वारा रामकृष्ण को ईसाई धर्म की भी साक्षात् उपलब्धि हो गयी। सन् १८७४ के नवम्बर महीने के लगभग, मल्लिक नाम के, कलकत्ता के एक हिन्दू ने, जिसका कि दक्षिणेश्वर के समीप ही एक वगीचा था, रामकृष्ण को वाइविल पढकर सुनायी। यह पहला ही अवसर था जव कि रामकृष्ण को ईसा का परिचय प्राप्त हुआ था। थोडी ही देर वाद शब्दो ने रक्तमासमय शरीर का रूप धारण कर लिया। ईसा का जीवन गुप्तरूप से उनमे व्याप्त हो गया। एक दिन जवकि वे अपने मित्र, एक धनी हिन्दू के घर मे वैठे हुए थे, उन्होंने दीवार पर टँगा हुआ मेरी व उसके पुत्र का चित्र देखा। चित्र की मूर्तियाँ जीवित हो गयी। और आत्मा के अपरिवर्तनशील नियम के अनुसार जिसकी आशा थी, वही हुआ। वे दृश्य मूर्तियाँ उनके समीप आयी, और इस प्रकार उनके अन्दर प्रविष्ट हो गयी, कि उनकी समस्त सत्ता मे व्याप्त हो गयी। इस वार यह अन्तःप्लावन .पहले इस्लामिक अन्त-प्लावन की अपेक्षा कही अधिक शक्तिशाली था। इसने समस्त वन्धनो को तोडकर उनकी समस्त आत्मा को आच्छन्न कर लिया, हिन्दू विचारो को दूर वहा दिया। भयभीत होकर, तरगमालाओ से संघर्ष करते हुए रामकृष्ण ने क्रन्दन किया, "ओ! माँ तुम क्या कर रही हो? मेरी मदद करो!", परन्तु यह व्यर्थ था। ज्वार की लहर जो कुछ भी उसके सम्मुख आया, उसे वहा चुकी थी। हिन्दू की आत्मा परिवर्तित हो चुकी थी। ईसा के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए वहाँ कोई स्थान नही था। कई दिनो तक वह ईसाई चिन्तन और ईसा के प्रेम मे ही निमग्न रहे। उनके दिल से मन्दिर मे जाने का विचार निकल गया। इस अवस्था मे एक दिन अपराह्न वेला मे दक्षिणेश्वर के वगीचे मे उन्होंने देखा कि एक आयतलोचन, शान्त मूर्ति, गौराग

पुरुष उनकी तरफ चला आ रहा है। यद्यपि वे यह न जानते थे कि वह कौन है, तथापि वे अपने अज्ञात अतिथि के जादू के वशीभूत हो गये। वह उनके समीप आया, और रामकृष्ण की आत्मा की गहराई मे किसी का सुमधुर कण्ठस्वर सुनाई दिया।

"उस ईसा के दर्शन करो, जिसने विश्व की मुक्ति के लिए अपने हृदय का रक्त दिया है, जिसने मनुष्य के प्रेम के लिए असीमित वेदना को सहन किया है। यही वह श्रेष्ठ योगी है, जो भगवान् के साथ शाश्वत रूप से सयुक्त हैं। यही ईसा हैं, जो प्रेम के अवतार हैं...।"

मानव-पुत्र ने भारत के महर्षि, माँ के पुत्र को आलिगनपाश मे बाँधकर अपने मे समा लिया। रामकृष्ण भावाविष्ट हो गये। और एक बार फिर ब्रह्म के साथ एकरूप हो गये। धीरे-धीरे वे पुन. पृथ्वी पर लौट आये, परन्तु उस समय से भगवान् के अवतार ईसा के देवत्व मे विश्वास करने लगे। परन्तु उनके निकट केवल ईसा ही भगवान् के अवतार न थे। बुद्ध व कृष्ण भी अवतार[1] थे।

यहाँ पर मैं अपने कल्पना-नेत्रो से देख सकता हूँ कि वे कट्टर ईसाई, जो कि अपने एक ही परमात्मा के शरीर की पूजा करते हैं, गरूर के साथ अपनी भवे टेढी करके कहते हैं :—

"परन्तु वह हमारे ईश्वर के सम्बन्ध मे क्या जानता था? यह केवल उसका एक स्वप्न था, एक मिथ्या कल्पना थी। उसके लिए यह इतना सुगम इसी लिए हो गया, क्योकि वह हमारे सिद्धान्त से एकदम अनभिज्ञ था।"

यह सत्य है कि वे बहुत कम जानते थे, परन्तु वे एक भक्त थे, जो प्रेम के द्वारा विश्वास करते थे। वे बुद्धि द्वारा विश्वास करने वाले ज्ञानियो के ज्ञान का अधिकारी होने का दावा कभी नही करते थे। परन्तु जब दृढता से धनुष को पकड लिया जाता है, तब क्या दोनो मे से प्रत्येक बाण एक ही लक्ष्य का वेध नही

---

१ वे 'अवतार' शब्द का बहुत ही कम प्रयोग करते थे। वे तीर्थंकर (जैन धर्म के सस्थापक) तथा दस सिक्ख गुरु आदि सन्तो के लिए भी अपने हृदय मे बडा आदर रखते थे, यद्यपि वे उन्हे अवतार नही मानते थे। उनके अपने कमरे मे देवताओ के चित्रो के साथ ईसा का चित्र भी विद्यमान था, और वे प्रतिदिन प्रातः व सायकाल उसके सम्मुख धूप जलाया करते थे। बाद मे भारतीय ईसाई रामकृष्ण मे ईसा का प्रत्यक्ष प्रकाश देखने लगे और उन्हे देखकर भावाविष्ट होने लगे।

करता ? और क्या एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले व्यक्ति के लिए दोनो पथ परस्पर मिल नही जाते ? रामकृष्ण के विद्वान् शिष्य विवेकानन्द ने इनके बारे मे कहा था :

"वे बाहर से भक्त थे, परन्तु अन्दर मे ज्ञानी थे।"[1] तीव्रता से एक विशेष शिखर पर पहुँचकर उत्कृष्ट प्रेम मे ज्ञान का उदय हो जाता है, और महान् बुद्धि हृदय के कपाट खोल देती है। इसके अलावा ईसाइयो के लिए तो प्रेम की शक्ति को अस्वीकार करना और भी कठिन है। प्रेम के कारण ही गैलिली के गरीब मछियारो की उनके परमात्मा के अन्तरग शिष्यो व उसके चर्च के प्रतिष्ठापको मे गिनती हुई है। और उस अनुतप्त पापी[2] के अतिरिक्त, जिसकी केवल मात्र योग्यता उसके वह प्रेमाश्रु थे, जिससे उसने ईसा के चरणो को धोया था और अपनी केशराशि से उन्हे पोछा था और जिसे महात्मा ईसा ने प्रथम दर्शन दिया था ?

और अन्ततः किसी मनुष्य का ज्ञान इस बात पर निर्भर नही है, कि उसने कितनी सख्या मे पुस्तके पढी हैं। प्राचीन काल की तरह रामकृष्ण के युग मे भी भारत मे सस्कृति व ज्ञान का प्रसार मुख्यत. मौखिक रूप से ही होता था। और रामकृष्ण ने अपने जीवन मे सहस्रो साधु, तीर्थयात्री, पण्डित एव धर्म-सम्बन्धी नाना समस्याओ से सम्बद्ध और धर्मज्ञान के विश्वकोष तथा धार्मिक दर्शन-शास्त्र से सम्बद्ध समस्याओ के समाधान मे व्यस्त, सब प्रकार के मनुष्यो से ज्ञान की प्राप्ति की थी—और निरन्तर ध्यान व मनन[3] द्वारा वह और गभीर-

---

१ और विवेकानन्द कहते हैं, "किन्तु मेरे सम्बन्ध मे इसके सर्वथा विपरीत है। भारत के एक अन्य महान् धार्मिक विचारक, केशवचन्द्र सेन जो कि अपने समसामयिक विद्वानो मे योरोपीय विचारो के प्रभाव से सबसे अधिक प्रभावित हुए थे, इतने विनयशील थे कि वह उस भक्त के चरणो मे जिसके हृदय की अन्तर्दृष्टि ने उसके अन्दर रहने वाली आत्मा को आलोकित कर दिया था, भक्तिपूर्वक बैठते थे।

२. मेरी मैगडैनल। ईसा की जीवनी मे कई 'मेरियो' का वर्णन है। इसलिए उनसे इसे पृथक् करने के लिए उसके निवास-स्थान व जन्म-स्थान के अनुसार मेरी मैगडैनल सज्ञा दी गयी है।

३. रामकृष्ण सस्कृत समझ लेते थे, यद्यपि बोल न सकते थे। वे कहा करते थे कि "मेरे बाल्यकाल मे एक पडोसी के मकान मे साधु जो कुछ पढा करते थे, मैं वह सब समझ जाता था। यद्यपि यह ठीक है कि पृथक्-पृथक् शब्दो का

तर हो गया था । "एक दिन उनके एक शिष्य ने उनके ज्ञान से विस्मित होकर उनसे प्रश्न किया : 'आपने यह इतना ज्ञान किस तरह प्राप्त कर लिया है ?' रामकृष्ण ने उत्तर दिया : 'मैंने पढा नही है, केवल विज्ञानियो के मुख से सुना है । उनके ज्ञान की ही माला गूंथकर मैंने अपने गले मे डाल ली है, और उसे अर्घ्य के रूप मे माँ के चरणो मे समर्पित कर दिया है ।"

वे अपने शिष्यो को कह सकते थे :

"मैंने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी धर्मों का अनुशीलन किया है, हिन्दू-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो के भिन्न-भिन्न पथो का भी अनुसरण किया है .. मैंने देखा है कि उसी एक भगवान् की तरफ ही सबके कदम बढ रहे हैं, यद्यपि उनके पथ भिन्न-भिन्न हैं । तुम्हे भी एक वार प्रत्येक विश्वास की परीक्षा तथा भिन्न-भिन्न पथो पर पर्यटन करना चाहिए ।[१] मैं जिधर भी दृष्टि डालता हूँ उधर ही हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्म, वैष्णव व अन्य सभी सम्प्रदायवादियो को धर्म के नाम पर परस्पर लडते हुए देखता हूँ । परन्तु वे कभी इस वात पर विचार नही करते कि जिसे हम कृष्ण के नाम से पुकारते हैं, वही शिव है, वही आद्या शक्ति है, वही ईसा है, वही अल्लाह है, सव उसी के नाम हैं—एक ही राम के सहस्रो नाम हैं । एक तालाव के अनेक घाट हैं । एक घाट पर हिन्दू अपने कलसो मे पानी भरते हैं और उसे 'जल' कहते हैं, और दूसरे घाट पर मुसलमान अपनी मश्को मे पानी भरते हैं और उसे 'पानी' नाम देते हैं, तीसरे घाट पर ईसाई लोग जल लेते हैं और वे उसे 'वाटर' की सज्ञा देते हैं । क्या हम कभी यह कल्पना कर सकते हैं कि यह वारि 'जल' नही है, अपितु केवल 'पानी' अथवा 'वाटर' ही है ? कितनी हास्यास्पद बात है ! भिन्न नामो के आवरण के नीचे एक ही वस्तु है, और प्रत्येक उसी वस्तु की खोज कर रहा है, जलवायु, स्वभाव तथा नाम ही भिन्न हैं, अन्यथा और कोई भेद नही है ।[२] प्रत्येक मनुष्य को अपने मार्ग पर चलने दो । यदि उसके अन्दर हार्दिक भाव से भगवान् को जानने की उत्कट लालसा है, तो उसे शान्तिपूर्वक चलने दो । वह अवश्य ही उसे पा लेगा ।"

अर्थ मेरी समझ मे न आता था । यदि कोई पण्डित सस्कृत मे वार्तालाप करते थे तो मैं उनके भाव को समझ लेता था—परन्तु मैं स्वय सस्कृत मे न वोल सकता था ।" —कथामृत २, १७

१. रामकृष्ण कथामृत २, १७ ।

२. इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग, पृष्ठ २४८ ।

सन् १८६७ के वाद रामकृष्ण के आन्तरिक ज्ञान-भण्डार[1] मे कोई विशेप वृद्धि नही हुई, परन्तु जो अमूल्य रत्न उन्होंने सगृहीत किये थे, उनका उपयोग करना उन्होंने सीख लिया। दिव्य दर्शन द्वारा जो कुछ उन्होंने देखा था, उसे वाह्य जगत् के सम्पर्क मे लाये, और अपनी आत्मिक विजयो को अन्य मानवीय अनुभवो की सफलताओं के सन्मुख लाकर उन्होंने जो अद्वितीय पुरस्कार उन्हें मिला था, उसके मूल्य को और अच्छी तरह समझ लिया। इन्ही वर्षों मे उन्हें अपने वास्तविक मिशन व कर्तव्य कर्म का वोध हुआ।

असीसी के दरिद्र, क्षुद्र मनुष्य के साथ रामकृष्ण का नैतिक व दैहिक अनेक प्रकार का सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। वह भी प्रत्येक प्राणी के साथ सुकोमल भ्रातृभाव का अनुभव करते थे और स्नेह एव सहानुभूति की रसधारा से इस प्रकार पुष्ट हुए थे कि वे दूसरो को अपने आनन्द का अश दिये विना सन्तुष्ट न हो सकते थे। गभीरतम समाधि के प्रवेशद्वार पर जव माँ उन्हे अपनी तरफ आकृष्ट कर रही थी, उन्होंने माँ से प्रार्थना की :

"ओ! माँ मुझे मनुष्यो के ससर्ग मे रहने दो। मुझे एक शुष्क तपस्वी मत वनाओ!"

और माँ ने उन्हे महासमुद्र के गर्भ से जीवन के तट पर वापस फेंकते हुए उत्तर दिया (जो कि अर्व-चेतनावस्था मे उन्होंने सुना)।

"मानव-प्रेम के लिए आपेक्षिक चैतन्य के द्वार पर खडे रहो।"[2] और इस प्रकार वह मानव-ससार मे वापस आ गये और उनका पहला अनुभव मानवता के उष्ण व सहज स्रोत मे स्नान था। सन् १८६७ के मई मास मे, जव कि वह

---

१ उनके ईसाई धर्म सम्वन्वी अनुभव के अतिरिक्त, जिसका कि मैंने इससे पूर्व-पृष्ठों मे उसके उपयुक्त स्थान पर वर्णन किया है, यद्यपि यह अनुभव वास्तव मे सन् १८७४ मे हुआ था।

२. इस समय के वाद से रामकृष्ण ने समाधिस्थ होने के सव प्रलोभनो से अपने-आपको मुक्त रखने की चेष्टा की और उसके खतरो से वचते रहे। अनेक विपज्जनक भावावेश के अवसरो से वे अपनी रक्षा करते रहे—यथा, सन् १८६८ मे गया दर्शन से उन्होंने इसीलिए इनकार कर दिया, क्योकि उसके साथ अनेक प्राचीन स्मृतियाँ सम्वद्ध थी, और वे जानते थे कि उसके दर्शन करने पर वे अपनी आत्मा को पुनः साधारण जीवन के क्षेत्र मे न ला सकेंगे। उन्हें अपनी अन्तरात्मा से यह आदेश प्राप्त हुआ था कि वे दूसरो की सहायता के लिए प्रतिदिन की वस्तुओ के जीवन में ही वास करे।

अपने ऊपर वीते सकट के कारण अभी अत्यन्त दुर्वल थे, वे आठ वर्ष वाद फिर अपनी जन्मभूमि कामारपुकुर मे छ या सात महीने के लिये विश्राम करने के लिये चले गये ।[1] अपने छोटे से गदाधर को देखकर, जिसकी विचित्र ख्याति उन तक पहुँच चुकी थी और जिसके कारण वे उसके दर्शन के लिये व्यग्र हो उठे थे, अत्यन्त प्रफुल्लित सीधे-सादे ग्रामवासियो की सहृदयता के वीच रामकृष्ण एक वाल-सुलभ आनन्द का अनुभव करने लगे । और यह सीधे-सादे किसान अपनी स्वाभाविक सरलता के कारण ही शहर के पण्डितो व मन्दिरो के भक्तो की अपेक्षा उनके विश्वासो की गहराई के अधिक निकट थे ।

इस ग्रामवास के अवसर पर ही उन्हे अपनी किशोरी स्त्री को समझने का अवसर प्राप्त हुआ । शारदा देवी की आयु उस समय केवल चौदह वर्ष थी । वह अपने माता-पिता के पास रहती थी, परन्तु अपने पति के आगमन का समाचार सुनकर वह कामारपुकुर आ गयी । इस पवित्रहृदया किशोरी पत्नी का आध्यात्मिक विकास उसकी आयु की तुलना मे कही अधिक था, और उसने तत्काल अपने पति के मिशन एव उनके जीवन मे जो विशुद्ध प्रेम तथा कोमल

---

१ भैरवी ब्राह्मणी भी उनके साथ गयी, परन्तु यात्राकाल के अनुभव भैरवी ब्राह्मणी के लिए गौरवास्पद नही है । इस प्रसिद्ध ब्राह्मणी का चरित्र उसकी वुद्धि के अनुकूल न था, और उसकी ध्यान-साधना उसे मानवीय दुर्वलताओ से ऊपर न उठा सकी थी । रामकृष्ण को दीक्षा देकर उन्हे अपने ज्ञान का प्रकाश देकर वह उन पर अपने एकाधिकार का दावा करती थी । वह राम-कृष्ण के ऊपर तोतापुरी की प्रधानता से पहले ही पर्याप्त यातना भोग चुकी थी, और वह नही चाहती थी कि रामकृष्ण अपने जन्मस्थान मे जाकर फिर अपने उन पुराने साथियो के एकाधिकार मे चले जाये, जिनके सम्मुख वह एक अपरिचित के अतिरिक्त और कुछ न थी । इसके अतिरिक्त, रामकृष्ण की पत्नी यद्यपि अत्यन्त विनम्र व स्नेहशील थी, तथापि उसकी उपस्थिति से भैरवी को अत्यन्त कष्ट हुआ, और वह अपने इस भाव को गुप्त भी न रख सकी । फलस्वरूप कुछ कष्टदायक घटनाओ के वाद, जिनसे कि उसके सम्वन्ध अधिक मधुर न हो सके, उसने अपनी दुर्वलता का अनुभव किया । तव उसने रामकृष्ण से अपनी गलती के लिए क्षमा-याचना की और हमेशा के लिए उनसे विदा ले ली । वनारस मे उसकी रामकृष्ण के साथ फिर अन्तिम भेट हुई, जहाँ कि वह अपना शेष जीवन सत्य की खोज मे व्यतीत करने के लिये चली गयी थी । कुछ दिन वाद उसका वही देहान्त हो गया ।

स्वार्थशून्यता का भाग उसे अदा करना है, इसे खूब अच्छी तरह समझ लिया। वह उन्हें अपना पथप्रदर्शक जानकर तन-मन से उनकी सेवा मे लग गयी।

शारदामणि के स्वार्थ को वलि देने के कारण, रामकृष्ण को काफी निन्दित एव कठोर शब्दो मे लाछित[1] होना पडा है। परन्तु शारदामणि ने अपने व्यवहार मे इसका लेशमात्र भी कभी इगित नही किया। उसके समस्त जीवन मे जो व्यक्ति भी उसके सम्पर्क मे आये, उन सवको उसने समान भाव से सौम्य एव प्रशान्त किरणमाला के आलोक से आलोकित किया। इसके अतिरिक्त एक और भी तथ्य है, जिसे कि विवेकानन्द के सिवाय अन्य किसी ने प्रकट नही किया है। रामकृष्ण अपने दायित्व को खूब समझते थे, और उन्होंने अपनी पत्नी से कहा था कि यदि वह कहे तो वह अपनी सवसे अधिक प्रिय वस्तु—अपने मिशन (आदर्श) को भी उसके लिए त्याग कर सकते हैं।

उन्होंने अपनी पत्नी से कहा था: 'मैंने प्रत्येक स्त्री को माता की दृष्टि से देखना सीखा। यही भाव मैं तुम्हारे प्रति भी रख सकता हूँ। परन्तु यदि तुम अपने साथ विवाहित होने के कारण मुझे संसार (माया के ससार) मे खींचना चाहती हो तो मैं तुम्हारी सेवा के लिए तैयार हूँ।'[2]

भारतीय आध्यात्मिकता के इतिहास मे यह एक नवीन घटना है। हिन्दू प्रथा के अनुसार धार्मिक जीवन मनुष्य को उसके अन्य कर्तव्यों से स्वतः ही मुक्त कर देता है। परन्तु रामकृष्ण के अन्दर मानवता की भावना अति प्रवल थी, इसलिए वे यह अनुभव करते थे कि उनकी पत्नी का भी उन पर अधिकार है। परन्तु दूसरी तरफ शारदामणि भी इतनी उदार थी कि वह अपने पति के मिशन के लिए अपने अधिकारो को सहर्ष त्यागने व उन्हे प्रोत्साहित करने के लिये उद्यत थी। परन्तु विवेकानन्द स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि रामकृष्ण को 'अपनी पत्नी की अनुमति' से ही अपनी पसद का जीवन व्यतीत करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी। उसकी सरलता एव आत्मत्याग से मुग्ध होकर, रामकृष्ण उसके साथ ज्येष्ठ भ्राता की तरह व्यवहार करते थे। जितने महीने वे एक साथ रहे, रामकृष्ण उसे एक कर्मपरायण पत्नी व निपुण प्रवन्धक वनाने के लिए धैर्य-

---

१ विशेषत. इस सम्बन्ध मे कुछ ब्रह्मसमाजी उल्लेखनीय हैं। वे रामकृष्ण के प्रभाव को केशवचन्द्र से अधिक वढा हुआ देखकर उनसे विरक्त हो गये थे—और रामकृष्ण की व्यापक लोकप्रियता को सहन न कर पाते थे।

२ विवेकानन्द—'मेरे प्रभु' पुस्तक से। विवेकानन्द की सम्पूर्ण ग्रन्थावलि का चतुर्थ खण्ड, सप्तम संस्करण, १९५५ का पृष्ठ १७३।

पूर्वक शिक्षा देते रहे। उनके अन्दर साधारण व्यवहार-बुद्धि इतनी अधिक मात्रा मे थी, कि उनकी रहस्यवादी प्रकृति के साथ उसका कैसे मेल बैठता था, यह देखकर आश्चर्य होता है। ग्राम्य बालक ने एक ऐसे स्कूल मे शिक्षा प्राप्त की थी, कि गृहस्थ व ग्राम्य जीवन के प्रत्येक भेद से वे सुपरिचित थे। रामकृष्ण के जानकार लोग उनके घर की सुव्यवस्था व स्वच्छता को देखकर प्राय: कहा करते थे कि इस सम्बन्ध मे यह दरिद्र, क्षुद्र व ईश्वर-परायण व्यक्ति अपने शिक्षित एव धनी शिष्यो को शिक्षा दे सकता है।

सन् १८६७ के अन्त मे वे दक्षिणेश्वर वापस आ गये, और आगामी वर्ष मे उन्होंने मन्दिर के स्वामी व अपने सरक्षक माथुर बाबू के साथ कई तीर्थ-यात्राएँ की। सन् १८६८ के प्रारम्भ के महीनो मे उन्होंने शिव की नगरी काशी-धाम, गगा और यमुना के सगम पर अवस्थित प्रयागतीर्थ, एव पौराणिक कथाओ तथा परम सगीत के आदिस्थल और कृष्ण की प्रेमलीला के निकेतन वृन्दावनधाम की यात्रा की। उनके भावावेश व उन्माद की सहज ही मे कल्पना की जा सकती है। जब उन्होंने काशीधाम के निकट गगा को पार किया, तो उन्हे वह 'परमात्मा की नगरी' पत्थरो से निर्मित नही प्रतीत हुई, अपितु एक स्वर्गीय यरूसलम की तरह 'आध्यात्मिकता के एक घनीभूत स्तूप' के रूप मे दिखायी देने लगी। काशी के श्मशान घाटो मे उन्होंने धवल देह एव पिंगल जटा-जूटधारी शिवमूर्ति, और चिताश्रेणी के ऊपर आनत एव मृत पुरुषो को मोक्षदान करती हुई काली माँ के दर्शन किये। गोधूलि के समय जमुना के तट पर ग्वाल बालको को अपनी गउओ के साथ वापस आते हुए देखकर वह भाव-विमुग्ध हो गये और व्याकुल होकर चीत्कार करने लगे · 'कृष्ण ! कृष्ण कहाँ है ?'

इस तीर्थ-यात्रा के समय यदि रामकृष्ण ने भगवान् का साक्षात्कार न भी किया हो, तो भी उन्होंने किसी एक ऐसी वस्तु के दर्शन अवश्य किए थे, जो कि हम पश्चिमवासियो के लिए एक उत्कृष्टतर महत्त्व तथा गम्भीरतर अर्थ रखती है। उन्होंने मानवीय दु:ख-यन्त्रणा का साक्षात्कार किया था। अब तक वे अपने मन्दिर के स्वर्णिम पिंजरे मे समाधि-तन्द्रा मे विभोर रहते थे, जहाँ काली ने अपने केशपाश से विश्ववेदना को उनके नेत्रो से ढका हुआ था। रामकृष्ण जब अपने धनी साथी के साथ देवघर पहुँचे, वहाँ उन्होंने नग्न, जीर्ण-शीर्ण, व क्षुधापीडित साथालो को देखा, जो कि भयानक दुर्भिक्ष के नग्न शिकार बने हुए थे। उन्होंने माथुर बाबू से उन लोगो के भोजन का प्रबन्ध करने के लिए कहा। माथुर बाबू ने आपत्ति प्रकट करते हुए उत्तर दिया कि वे इतने धनी नही हैं कि सारी दुनिया को भोजन दे सके। यह सुनकर रामकृष्ण उन भूखे लोगो के बीच मे बैठकर रोने

लगे और कहने लगे कि वे वहाँ से न हिलेंगे और उनके कष्टो मे हिस्सा लेंगे। अन्त मे क्रोसस[1] को हार माननी पडी और अपने गरीब पुरोहित की इच्छा पूरी करनी पडी।

सन् १८७० मे माथुर बाबू ने लगान वसूली के समय, रामकृष्ण को अपने साथ अपनी एक जमीदारी मे ले जाकर फिर गलती की। दो वर्ष से लगातार सूखा पडने के कारण, फसल नही हुई थी, और किसान वडे कष्ट से अपने दिन व्यतीत कर रहे थे। रामकृष्ण ने माथुर बाबू से, किसानो का लगान माफ करने, उन्हे सहायता देने और उन्हे एक भोज देने की सिफारिश की। माथुर बाबू ने प्रतिवाद किया, परन्तु रामकृष्ण टलनेवाले न थे।

उन्होने धनी जमीदार से कहा, "तुम केवल माँ की जागीर के प्रबन्धक हो। वे माँ के आसामी हैं। तुम्हे माँ का पैसा खर्च करना चाहिए। जब उसके आसामी कष्ट भोग रहे हैं, तुम उनकी सहायता से कैसे इनकार कर सकते हो। तुम्हे सहायता करनी ही होगी।"

माथुर बाबू को स्वीकार करना पडा।

यह सब बाते भूलने लायक नही हैं। रामकृष्ण मठ एव मिशन के वर्तमान अध्यक्ष व ठाकुर के सर्वप्रथम शिष्यो व सन्देशवाहको मे से अन्यतम स्वामी शिवानन्द ने, अपनी आँखो देखी घटना का वर्णन इस प्रकार दिया है:

एक दिन दक्षिणेश्वर मे रामकृष्ण ने भावाविष्ट अवस्था मे कहा

"जीव ही शिव है (सब जीवित प्राणी भगवान् हैं)।[2] उन पर दया-प्रदर्शन

---

१ क्रोसस ईसा से ५६० वर्ष पूर्व लिडिया का राजा था। उसने दार्शनिक सलन से अपने भविष्य के सम्बन्ध मे प्रश्न किया। सलन ने कहा कि उसके भविष्य के बारे मे वह कुछ नही कह सकता। इस पर क्रोसस अत्यन्त कुपित हो गया। इसके बाद फारस के राजा साइरास ने उसे अपना बन्दी बना लिया और क्रोसस को मृत्युदड दिया गया। जलती हुई चिता मे उसे जलाकर मार देने की आज्ञा हुई। चिता मे लेट जाने पर क्रोसस को सलन का कथन याद हो आया, उसने सलन का नाम उच्चारण किया। बन्दी के मुख से सलन का नाम सुनकर साइरास ने क्रोसस को मुक्त कर दिया। साइरास सलन का भक्त था। —अनुवादक

२ एक और अवसर पर उन्होने कहा था: "भगवान् सब मनुष्यो मे हैं, परन्तु सब मनुष्य भगवान् मे नही हैं। यही कारण है जिससे कि वे कष्ट भोगते हैं।" (Shri Ramkrishna's teachings, १, २६७)

का दुःसाहस कौन कर सकता है ? दया नही, परन्तु सेवा, मनुष्य की सेवा ही भगवान की सेवा है ।"

विवेकानन्द भी उस समय उपस्थित थे । उन्होंने यह अर्थपूर्ण शब्द सुनकर शिवानन्द से कहा :

आज मैंने एक महान् सत्य को सुना है। मैं इस जीवित सत्य की सारे ससार मे घोषणा करूँगा ।"

और स्वामी शिवानन्द ने कहा :

"यदि कोई यह प्रश्न पूछता है कि रामकृष्ण मिशन ने जो असख्य सेवाकार्य किये हैं, उनका आरम्भ कब और कहाँ से हुआ, तो इस प्रश्न का उत्तर इसी मे छिपा है ।"[1]

इस समय के लगभग ही रामकृष्ण के कुछ बन्धु-बान्धवो की मृत्यु ने उनके ऊपर वेदना के एक निष्ठुर परन्तु स्नेहमय हाथ की छाप डाल दी । भगवत्-प्रेम मे निमग्न रामकृष्ण, यद्यपि मृत्यु को केवल अनन्त आनन्द मे पुन. प्रत्यावर्तन समझते थे, तथापि अपने तरुण भतीजे व सहचर की मृत्यु के अवसर पर वे अपने-आपको प्रसन्न रखने के लिए हँसने की चेष्टा और उसकी आत्मा की मुक्ति[2] के लिए प्रार्थना करने लगे । परन्तु उसकी मृत्यु के अगले ही दिन उन्होंने एक भयकार वेदना का अनुभव किया । उनका हृदय विदीर्ण हो गया, और यहाँ तक अवस्था हो गयी कि उन्हे श्वास लेने मे भी कठिनाई प्रतीत होने लगी और वे सोचने लगे :

"ओ ! ईश्वर ! ओ ईश्वर ! यदि मेरी यह हालत है, तो जिन्होंने अपने प्रियतम व सतानो को खो दिया है, उनकी क्या हालत होगी ?"

---

१ रामकृष्ण ने स्वय अति विनीत भाव से सेवा का दृष्टान्त उपस्थित किया था । उन्होंने ब्राह्मण होते हुए भी, एक अस्पृश्य परिया के घर जाकर उससे घर साफ करने की अनुमति माँगी । धर्मभीरु हिन्दुओ की दृष्टि मे यह एक अत्यन्त गर्हित कर्म था, और इससे उसके व उसके अतिथि दोनो के ही महान् विपत्ति मे पड जाने की आशका थी, इस भय से उस अस्पृश्य व्यक्ति ने उन्हे ऐसा करने की अनुमति नही दी । रात्रि के समय जब सब व्यक्ति सो गये, तब रामकृष्ण उसके घर पहुँचे और अपने केशो मे उसके घर को बुहार कर साफ कर दिया और प्रार्थना करने लगे "ओ ! माँ ! मुझे अस्पृश्यो का सेवक बना दो !" (विवेकानन्द—'मेरे प्रभु')

२ उस समय उन्होंने दिव्य दृष्टि से एक नगी तलवार देखी थी ।

और माँ ने शोक-सतप्त प्राणियो को विश्वास का प्रलेप प्रदान करने के लिये रामकृष्ण को शक्ति व कर्तव्य का दान दिया।

स्वामी शिवानन्द ने मुझे लिखा था, "जिन्होंने अपनी आँखो से इस बात को नही देखा है कि ससार से सर्वथा अनासक्त यह व्यक्ति किस हद तक सासारिक नर-नारियो के कष्टो को सुनने मे दिन-रात व्यस्त रहता था और उनके बोझ को हलका करने की सतत चेष्टा करता था, वे इसकी कल्पना भी नही कर सकते। हमने इसके असंख्य उदाहरण देखे है, और अब भी कुछ ऐसे गृहस्थ जीवित होंगे, जोकि मनुष्य-जाति के प्रति उनकी स्नेहार्द्र करुणा एव उसके कष्टो को दूर करने के लिए उनके द्वारा किये गए भगीरथ प्रयत्नों के लिए उन्हे नित्य आशीर्वाद देते हैं। सन् १८८३ की घटना है कि मणि मल्लिक नामक एक प्रसिद्ध धनी वृद्ध व्यक्ति का लडका मर गया और वह भग्न-हृदय होकर रामकृष्ण की शरण मे आया। रामकृष्ण ने उसकी वेदना को इतनी गहराई मे अनुभव किया कि ऐसा प्रतीत होता था कि वे स्वय ही मृत सतान के पिता हैं, और उनकी पीडा मल्लिक को भी मात कर गई। कुछ समय इसी तरह गुजर गया। अचानक ही रामकृष्ण एक भजन गाने लगे।"

परन्तु यह कोई शोकगीत या शव-सत्कार का भजन न था। यह एक वीरता का गान था, आत्मा के मृत्यु के साथ वीरतापूर्ण सग्राम का गीत था।

"ओ मनुष्य! युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जा, रणसज्जा से सज्जित होकर मृत्यु तेरे घर पर चढाई कर रही है। विश्वास के रथ मे बैठ जाओ, ज्ञान का तूणीर धारण कर और शक्तिशाली प्रेम के धनुष को खीचकर माँ के नाम के दिव्य बाणो की वर्षा करो।"[1]

और शिवानन्द ने उपसहार में कहा, "इस प्रकार उस पिता का कष्ट किस प्रकार शान्त हो गया, यह मैं अब भी भूला नही हूँ। यह गान सुन कर उसका साहस फिर लौट आया, वेदना दूर हो गई, और उसे पुन शाति प्राप्त हो गई।"

---

१ मैंने इस गान का यह अश 'रामकृष्ण कथामृत' से दिया है। यह अपने प्रकार की एक ही घटना न थी। रामकृष्ण ने अनेक शोकाकुल हृदयो को अपने अनेक भजनो द्वारा शाति प्रदान की है। परन्तु यह वीरतापूर्ण सन्देश सबमें एक-सा रहा है।

'Life of Shri Ramkrishna' (पृष्ठ ६५२-६५३) मे यह वर्णन कुछ भिन्न प्रकार से है। रामकृष्ण ने भग्न-हृदय पिता की व्यथा-भरी कथा सुनी,

यह घटना वर्णन करते हुए मुझे बियोवन की कथा याद आ जाती है। वे भी एक मृतपुत्रा जननी को सान्त्वना देने के लिए, विना एक भी शब्द कहे, पिआनो पर आकर वैठ गए थे और अपने गान से उसे सान्त्वना दी थी।

इस स्नेह-ममतामय एव दु.ख यत्रणाकुल जीवित मानवता के साथ उनके दिव्य सम्बन्ध की अभिव्यक्ति एक भावावेगमय परन्तु सर्वथा पवित्र एव धार्मिक प्रतीक मे भी होती थी। जब सन् १८७२ मे उनकी पत्नी पहली वार[1] दक्षिणेश्वर आई, तो रामकृष्ण की धार्मिक श्रद्धा से युक्त करुणा ने, जो कि सब प्रकार के ऐन्द्रयिक विकार व कामना से सर्वथा मुक्त थी, उसके अवगुण्ठन के नीचे एक देवीमूर्ति का साक्षात्कार किया। सवके सम्मुख उन्होंने इसकी घोषणा की। मई महीने की एक रात मे, जव पूजा की सव सामग्री तैयार हो गई, उन्होने शारदादेवी को काली के आसन पर वैठा दिया, और पुरोहित के रूप मे शोडषी पूजा[2] के अनुष्ठान के द्वारा नारीत्व की अर्चना की। उस समय दोनो ही एक अर्धचेतन व अतिचेतन समाधि-अवस्था मे लीन थे। और जव रामकृष्ण की समाधि

पर कुछ उत्तर नही दिया और अर्ध-चेतनावस्था मे निमग्न हो गए। अचानक ही उनका मुखमण्डल उद्‌भासित हो गया और वे तीव्र भाव-भगिमा के साथ युद्ध-गान गाने लगे। इसके उपरान्त वे पुन साधारण अवस्था मे आ गए और उस दु खी पिता को स्नेहपूर्ण कथा द्वारा सान्त्वना दी।

धनगोपाल मुखर्जी ने भी अपनी स्वाभाविक निपुणता के साथ इस घटना का जिस प्रकार स्वामी शिवानन्द ने वर्णन किया है, वैसा ही वर्णन किया है। परन्तु उन्होंने अपनी आँखो से यह घटना नही देखी थी। किन्तु शिवानन्द एव 'रामकृष्ण कथामृत' के रचयिता ने स्वय इसे देखा था।

१ शारदामणि, मार्च १८७२ से नवम्वर १८७३ तक, अप्रैल १८७४ से सितम्वर १८७५ तक और फिर १८८२ मे, एव अन्तिम वार सन् १८८४ मे आकर रामकृष्ण की मृत्युपर्यन्त दक्षिणेश्वर मे उनके साथ रही। पहली वार जव वह अपने स्वामी के निकट आई, उस समय उसका स्वास्थ्य वहुत खराब था, पर उसने वडी वीरतापूर्वक मार्ग की कठिनाइयो का सामना करते हुए अत्यन्त धैर्य व परिश्रम के साथ वह यात्रा समाप्त की थी। रामकृष्ण के जीवन मे यह एक अत्यन्त हृदयस्पर्शी घटना थी। उसका प्रथम वार २० महीने का वास, तथा दोनो रहस्यवादी साधको का सर्वथा पवित्र एव भावावेगमय समान जीवन यह भी एक कम असाधारण वस्तु नही है।

२ एक तान्त्रिक अनुष्ठान।

भग हुई तो उन्होंने अपनी सहचरी को 'माँ' शब्द से सम्बोधित किया। उनकी दृष्टि मे वह निष्कलक मानवता के जीवित प्रतीक की साक्षात् मूर्ति थी।[1]

उनकी परमात्मा सम्बन्धी धारणा क्रमिक रूप से विकसित हुई थी। प्रारभ मे परमात्मा के सम्बन्ध मे उनका यह विचार था कि वह एक सर्वव्यापी सत्ता है, जिसमे प्रत्येक वस्तु उसी प्रकार लीन हो जाती है, जिस प्रकार एक सूर्य प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर घुला-मिलाकर एक कर लेता है, परन्तु अन्त मे उनका यह विचार उस उष्ण अनुभूति के रूप मे परिणत हो गया कि सभी पदार्थ परमात्मा हैं। वे सभी छोटे-छोटे सूर्यों के समान हैं, जिनमे कि वह (परमात्मा) व्याप्त व क्रियाशील है। यह ठीक है कि दोनो मे एक ही विचार है, परन्तु दूसरी धारणा पहली को इस प्रकार विपर्यस्त कर देती है कि न केवल उच्चतम से निम्नतम की ओर, अपितु निम्नतम से उच्चतम की ओर, भी एक दोनो तरफ जाने वाली शृखला है, जो कि अविच्छिन्न रूप से एक परमसत्ता के साथ सब जीवों को सयुक्त करती है। इस प्रकार मनुष्य पवित्र हो जाता है।

अपनी मृत्यु से दो वर्ष पूर्व सन् १८८४ के अप्रैल मे उन्होंने कहा था :

"मैं अब अपने अन्दर घटित होनेवाले परिवर्तन को अनुभव करने लगा हूँ। बहुत दिन हुए जब वैष्णवचरण ने मुझे कहा था कि जब मैं मनुष्य के अन्दर परमात्मा को देखने लगूंगा तभी मुझे पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाएगा। अब मैं देखता हूँ कि रूपो को अनेकता के बीच मे वही गति कर रहा है—कभी एक धर्मात्मा के रूप मे, कभी दम्भी के रूप मे और कभी पातकी के रूप मे भी वही प्रकट होता है। इसीलिए मैं कहता हूँ, 'नारायण ही धर्मात्मा पुरुष मे है, नारायण ही दम्भी मे है, और नारायण ही पातकी व उच्छृङ्खल मनुष्य मे भी है।'

पाठकगण जिससे कहानी के सूत्र को छोडकर मार्गभ्रष्ट न हो जायँ और वे

---

१ इस घटना के एकमात्र प्रत्यक्षदर्शी साक्षी समीपवर्ती विष्णु के मन्दिर के पुजारी थे।

रामकृष्ण का नारी-पूजा-धर्म केवल अपनी निष्कलक पत्नी तक ही सीमित नही था। वे अत्यन्त पतित वेश्याओ तक मे भी मातृत्व के दर्शन करते थे। विवेकानन्द ने कहा था, "मैंने इस व्यक्ति को स्वय ऐसी स्त्रियो के सामने खडे हुए, उनके पैरो पर झुककर प्रणाम करते हुए और अश्रु-प्लावित नेत्रो के साथ यह कहते हुए देखा है कि "माँ, तुम एक रूप मे पथ मे खडी हो, और दूसरे रूप मे विश्व की जननी हो। माँ, मैं तुम्हे प्रणाम करता हूँ, मैं तुम्हे प्रणाम करता हूँ।" (my master)

पहले से ही यह जान सके कि अपने अनेक मोडो व घुमावो के बावजूद, यह नदी, जो कि कभी अपने-आपको अत्यन्त छोटी-छोटी धाराओ मे विभक्त करती हुई प्रतीत होती है, और फिर अपने मुख्य मार्ग पर लौटती हुई दिखाई देने लगती है, हमे कहाँ ले जा रही है, मैंने एक बार फिर उनके जीवन की बाद की कहानी का पूर्व निर्देश कर दिया है।

सन् १८७४ के करीब से मैं पुन अपनी कहानी प्रारम्भ करता हूँ, जबकि उन्होंने अपनी धार्मिक अनुभूति का चक्र पूर्ण कर लिया था, और जब उनके अपने कथनानुसार ही उन्होंने ज्ञानवृक्ष के तीन सुन्दर फल करुणा, भक्ति और त्याग[1] को प्राप्त कर लिया था।

इसी समय मे बगाल के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियो के साथ उनकी मुलाकात के परिणामस्वरूप उन्हे उनके ज्ञान की अपूर्णता एव भारतीय आत्मा की उस विराट् भूखी शून्यता का, जो कि उनकी प्रतीक्षा कर रही थी, पता लगा। अपने ज्ञान की वृद्धि के सभी उपलभ्य साधनो का प्रयोग करने मे, धार्मिक व विद्वान्, गरीब व अमीर, इधर-उधर घूमने वाले तीर्थयात्री, या विज्ञान और समाज के स्तम्भ-रूप सभी प्रकार के व्यक्तियो से ज्ञान प्राप्त करने मे उन्होने कभी सकोच नही किया। वैयक्तिक अहकार उन्हे छू तक न सका था, वल्कि उनका यह विचार था कि 'सत्य के प्रत्येक अनुसन्धानकर्ता' ने कोई न कोई ऐसा विशेष प्रकाश प्राप्त किया है, जो कि उन्हे प्राप्त नही है, और इसलिए वे उनकी जूठन की उञ्छवृत्ति करने के लिए सर्वदा तत्पर रहते थे। और इसीलिए वह विना इस बात का विचार किये कि वे उसका किस प्रकार स्वागत करेंगे, जहाँ भी उन्हे उनका पता लगता था, उनके पास चले जाते थे।[2]

---

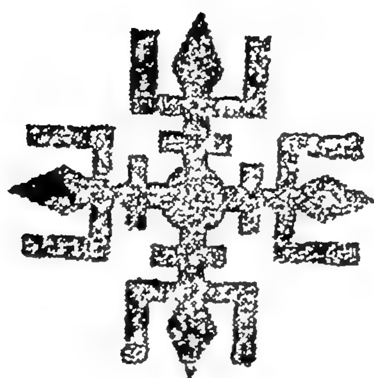
१. करुणा, भक्ति और त्याग यह ज्ञान के तीन महाफल हैं। (सुप्रसिद्ध पडित विद्यासागर के साथ रामकृष्ण का साक्षात्कार, ५ अगस्त १८८२) Life of Ramkrishna, पृष्ठ ५२६।

२ मैं पहले भी निर्देश कर चुका हूँ कि उन्हे अपने मन्दिर मे प्रत्येक प्रकार के भगवद्-विश्वासियो एव विभिन्न सम्प्रदायानुयायियो के साथ वार्तालाप करने का दैनिक सुयोग प्राप्त था। जिस दिन भैरवी ब्राह्मणी ने यह घोषणा की थी कि रामकृष्ण ने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया है और वे ईश्वर के अवतार हैं, उस दिन से दूर-दूर से सब प्रकार के लोग उनके दर्शन के लिए आते थे। इस प्रकार सन् १८६८ से १८७१ के मध्यकाल मे उन्होंने प्रसिद्ध

यहाँ पर, गत साठ वर्ष से भारत की आत्मा मे जो एक महान् जागृति-आन्दोलन चल रहा था, उसका एक सक्षिप्त विवरण योरोपीय पाठको की जानकारी के लिए देना आवश्यक है। यद्यपि इस वर्ष (सन् १६२८) उनमे से एक सस्था, अर्थात् ब्रह्मसमाज की स्थापना का शताब्दि समारोह मनाया जा रहा है, तथापि इस महाजागरण के सम्बन्ध मे कुछ विशेष सुनाई नही देता। ब्रह्मसमाज के प्रतिष्ठाता की यादगार के इस महान् अवसर पर भारतवासियो के साथ समस्त मानव-जाति को ही इसमे अपना सहयोग देना चाहिए। क्योंकि सब कठिनाइयो व बाधाओ के बावजूद उसने ही सर्वप्रथम प्राच्य और प्रतीच्य, युक्ति और विश्वास के बीच समानता के आधार पर सहयोग प्रारम्भ करने की इच्छा और साहस प्रकट किया था। और विश्वास से उसका अभिप्राय उस अन्ध स्वीकृति से नही है, जिसमे कि अनेक शताब्दियो से पददलित जातियाँ इस शब्द का प्रयोग करती रही है। अपितु उसका अभिप्राय एक जीवित व चक्षुष्मान् अन्तर्दर्शन से है।

बगाली कवि माइकेल मधुसूदन दत्त, जिन्होने हिन्दू-धर्म को त्यागकर ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था, एव वेदान्तशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् पडित नारायण शास्त्री व पद्मलोचन आदि अनेक पडितो से परिचय किया था। सन् १८७२ मे वैष्णव उपाध्याय तथा आर्यसमाज के सस्थापक दयानन्द से, जिसके सबध मे मैं अगले अध्याय मे वर्णन करूँगा, उनका साक्षात्कार हुआ। देवेन्द्रनाथ टैगोर से उन्होंने कब मुलाकात की थी, उसकी ठीक-ठीक तारीख देना मेरे लिए सभव नही है। इस बारे मे हिन्दू विद्वानो का एकमत नही है, तथापि सन् १८६९-७० के बाद इसकी सभावना नही है। ठाकुरवशियो ने १८६४-६५ के लगभग तारीख दी है। रामकृष्ण के प्रामाणिक-जीवनी-लेखक 'म' (महेन्द्रनाथ गुप्त) ने रामकृष्ण के इस कथन के आधार पर कि उनकी मुलाकात के अवसर पर केशवचन्द्र सेन आदि ब्रह्मसमाज के मच पर उपासना कर रहे थे, इसका समय सन् १८६३ निर्धारित किया है। केशवचन्द्र १८६२ से १८८५ तक उक्त समाज के आचार्य रहे है, इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे कारण हैं, जिनसे सन् १८६४-६५ मे रामकृष्ण वहाँ यात्रा न कर सकते थे, इसकी पुष्टि होती है। जो भी हो, सन् १८७५ मे जब केशव नवीन ब्रह्म-समाज के प्रधान थे, तब केशव से उनकी मुलाकात हुई, और उसी समय से उनके हार्दिक सम्बन्ध स्थापित हुए।

मैं यहाँ राममोहन राय का निर्देश कर रहा हूँ ।[1]



1. इस बारे मे साधारण जानकारी प्राप्त करने के लिए लन्दन स्टूडेण्ट क्रिश्चियन मूवमैण्ट—प्रकाशित, के० टी० पाल रचित 'The British connection with India', १९२७ पुस्तक पठनीय है । उक्त पुस्तक मे गत शताब्दी मे राष्ट्रीय आन्दोलन एव धार्मिक हिन्दू आन्दोलन के विकास का सही-सही चित्रण है । के० टी० पाल एक भारतीय ईसाई हैं, जो कि गाधी जी के परम मित्र हैं । प्राच्य और प्रतीच्य दोनो प्रकार के विचारो से उनका मन निष्पक्ष भाव से प्रभावित है । उन्होंने अपनी इस पुस्तक मे योरोपीय तथ्य विज्ञान एव उसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता के साथ, आत्मा के विज्ञान का, जो कि विशेप रूप से एक भारतीय विज्ञान है, मिश्रण किया है ।

पेरिस से प्रकाशित 'योरोप' पत्रिका के १५ दिसम्बर, सन् १९२८ के अक मे मेरे India in movement' लेख से तुलना कीजिए .

भारतीय पत्रिका, 'प्रबुद्ध भारत' के अक्टूबर १८२८ के अक मे स्वामी निखिलानन्द का एक सुन्दर प्रबन्ध प्रकाशित हुआ है । इससे पूर्व सन् १८२८ के ब्रह्मसमाज के शताब्दी महोत्सव मे भी वह यह प्रबन्ध पढ चुके हैं । प्रबन्ध का शीर्षक है "The Progress of Religion during the last hundred years (In India)"

६ | ऐक्य-निर्माता

[राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द]

राममोहन राय वह असाधारण पुरुष थे, जिन्होंने इस प्राचीन महाद्वीप के आध्यात्मिक इतिहास मे एक नये युग का प्रारम्भ किया था, वही वास्तव मे भारत मे सबसे प्रथम विश्वनागरिक थे। अपने जीवन के साठ वर्ष (१७७४-१८३८)से भी कम समय मे उन्होंने प्राचीन एशिया की महान् पौराणिक गाथाओ से लेकर आधुनिक योरोप के वैज्ञानिक बुद्धिवाद तक सभी प्रकार के विचारो का अपने अदर समावेश किया था[1]।

---

१ राममोहन की जीवनी एव रचनाओ के लिए सन् १९२५ मे मद्रास के नटेसन द्वारा प्रकाशित 'Raja Ram Mohan Roy, his writings and Speeches देखिए। परन्तु कालक्रम का सही निर्देश न होने के कारण उक्त ग्रथ का आकर्षण विनष्ट हो गया है।

मॉडर्न रिव्यू, कलकत्ता ऑफिस से प्रकाशित, रामचन्द्र चटर्जी लिखित, Ram Mohan Roy and Modern India, १९१८ शीर्षक पुस्तिका भी द्रष्टव्य है। यह दोनो पुस्तके किसी अश तक मिस सोफिया डौब्सन कौलेट द्वारा लिखित राममोहन राय की जीवनी पर आधारित हैं। मिस सोफिया राममोहन को व्यक्तिगत रूप से जानती थी।

कलकत्ता की 'मॉडर्न रिव्यू' पत्रिका के १९२८ के सितम्बर मास के अक मे प्रकाशित एन० सी० गागुली रचित महत्त्वपूर्ण लेख के कुछ अश भी इस सम्बध मे द्रष्टव्य हैं। राजकोट, बम्बई के 'ओरियण्टल क्राइस्ट हाउस' से प्रकाशित मणिलाल सी० पारीख रचित 'राजर्षि मोहन राय', एव अक्टूबर सन् १९२८ के मॉडर्न रिव्यू मे प्रकाशित प्राध्यापक बीरेन्द्रनाथ चौधरी

एक सम्भ्रान्त बगाली परिवार[1] मे उनका जन्म हुआ था, जिन्हे उत्तराधिकार-सूत्र से राय की उपाधि प्राप्त थी। उनकी शिक्षा मुगल सम्राट् के दरबार मे हुई थी, जहाँ की सरकारी भाषा फारसी थी।

बाल्यकाल मे उन्होंने पटना के स्कूल मे अरबी भाषा सीखी, और इसी भाषा मे अरस्तू की रचनाओ तथा यूक्लिड का अध्ययन किया। इस प्रकार जन्म[2] से एक कट्टर ब्राह्मण होने पर भी इस्लामिक सस्कृति मे उनका पोपण हुआ। चौदह से सोलह वर्ष की अवस्था मे, जब कि उन्होंने काशी मे सस्कृत पढना प्रारभ किया, उससे पूर्व, उन्हे हिन्दू धर्मशास्त्रो के सम्बन्ध मे कोई ज्ञान न था। उनके हिन्दू जीवनी लेखक कहते है कि यह उनका दूसरा जन्म था। परन्तु यह स्पष्ट है कि एकेश्वरवाद मे विश्वास करने के लिए उन्हे किसी प्रकार की वेदान्त-शास्त्र की शिक्षा की आवश्यकता न थी। इस्लाम के साथ सम्पर्क के कारण बाल्यकाल मे ही उनके अन्दर इसकी जड जम चुकी थी, और हिन्दू रहस्यवाद के विज्ञान तथा अनुशीलन ने सूफीवाद के अमिट प्रभाव को, जिसका उष्ण-निःश्वास उनके जीवन के प्रारभ से ही उनके शरीर मे व्याप्त हो रहा था, केवल और अधिक दृढ व शक्तिशाली बना दिया।[3]

लिखित Ram Mohan Roy the Devotee प्रबध भी पठनीय है।

रामसोहन राय द्वारा प्रतिष्ठापित ब्रह्मसमाज नामक धार्मिक सस्था के सम्बध मे शिवनाथ शास्त्री प्रणीत History of the Brahma Samaj दो खण्ड, १६११, कलकत्ता देखिए।

१. राममोहन राय के परिवार का मूल निवास-स्थान मुर्शिदाबाद था। उनका जन्म लोअर बगाल के बर्दवान शहर मे हुआ था।

२. राममोहन पितृकुल से वैष्णव थे।

३ राममोहन राय की एक प्रबल बुद्धिवादी, एव अपनी जाति के घातक व भयानक अन्धविश्वासो के विरुद्ध युद्ध करनेवाले समाज-सुधारक के रूप मे ख्याति होने के कारण उनकी स्वाभाविक अन्तर्दर्शन-शक्ति एव रहस्यवादी प्रकाश, विशेषतः पाश्चात्यो की दृष्टि मे, किसी अश तक धुँधले पड गये हैं, परन्तु बीरेन्द्रनाथ चौधरी द्वारा उनकी प्रतिभा के रहस्यवादी पहलू को पुन. सम्मुख लाने का प्रयत्न किया है। उनकी बुद्धि की यह स्वतन्त्रता कभी इतनी मूल्यवान न होती, यदि वह समान रूप से गभीर एव नानाविध भक्ति-तत्त्वो पर आधारित न होती। बचपन से ही कुछ यौगिक ध्यान-साधनाओ, यहाँ तक कि कुछ तान्त्रिक अनुष्ठानो का भी, जिनका कि बाद

उनकी सग्रामप्रिय प्रतिमा के उत्साह ने, जो कि एक युद्धघोटक के समान जीवत व दुर्निवार था, उन्हे सोलह वर्ष की अवस्था मे ही मूर्तिपूजा के विरुद्ध एक जीवनव्यापी सग्राम मे प्रवेश करने के लिए वाध्य कर दिया। उन्होंने कट्टर पौराणिक हिन्दू धर्म के खण्डन से फारसी भाषा मे एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसकी भूमिका अरवी भाषा मे लिखी थी। इस पर क्रुद्ध होकर उनके पिता ने उन्हे घर से निकाल दिया। चार वर्ष तक उन्होंने भारतवर्ष और तिव्वत के नाना स्थानो मे भ्रमण किया। तिव्वत मे उन्होंने वौद्ध धर्म का अध्ययन किया, यद्यपि वह उससे प्रेम न कर सके, और इसके कारण उन्हे धर्मोन्मत्त लामानुयायियो के हाथो मृत्यु का खतरा भी उठाना पडा। वीस वर्ष की अवस्था मे पिता के द्वारा अपने उद्दण्ड पुत्र को फिर घर वुलाने पर वे घर चले गये। उन्हें ससार के पिंजरे मे वाँध रखने के लिए उनका विवाह कर दिया गया। परन्तु ऐसे पक्षी को कोई पिंजरा अपने अन्दर कैद नही रख सकता।

चौवीस वर्ष की अवस्था मे उन्होंने अग्रेजी, हिब्रू, ग्रीक और लैटिन सीखना प्रारम्भ किया। उन्होंने योरोपियनो से अपना परिचय वढाया और उनके कानून एव शासन-प्रणालियो का अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप अग्रेजो के विरुद्ध उनकी दुर्भावना दूर हो गयी, और वह उनके समर्थक हो गये। अपनी जाति के उच्चतम स्वार्थों को दृष्टि मे रखते हुए उन्होंने अग्रेजो का विश्वासभाजन होकर उनकी मित्रता अर्जित की। राममोहन राय ने अनुभव किया कि भारत को पुनरुज्जीवित करने के सघर्ष की सफलता के लिए उन्हे योरोप पर ही निर्भर करना होगा। एक वार फिर उन्होंने सती-प्रथा के बर्बर रिवाज के विरुद्ध अपना तर्क-

---

मे उन्होंने खण्डन किया है, उन्होंने अनुशीलन किया था। वह कई-कई दिनो तक परमात्मा के नाम व उसके किसी एक गुण पर ध्यान लगाया करते थे और तव तक शब्द का जाप जारी रखते थे, जव तक कि परमात्मा अपनी उपस्थिति को अभिव्यक्त न कर देता था। (पुरश्चरण का अभ्यास) इन दिनो वे ब्रह्मचर्य एव मौनव्रत का अवलम्बन कर सूफीवाद की रहस्य-वादी साधनाएँ किया करते थे। वगाल की भक्ति-साधना की अपेक्षा, उन्हे सूफीवाद अधिक तृप्तिदायक प्रतीत होता था। उनकी अहकारी प्रकृति को वगाल का भक्तिवाद भावनाप्रधान होने के कारण रुचिकर न लगता था। परन्तु उनकी दृढ इच्छा-शक्ति एव वुद्धि कभी निष्क्रिय नही रहती थीं। वे उनके भावो को सदा नियन्त्रित करती रहती थी।

पूर्ण संग्राम प्रारंभ किया।[1] इससे उनके विरुद्ध एक भयानक विरोध का तूफान उठ खड़ा हुआ, और ब्राह्मणो की प्रेरणा पर सन् १७९९ मे उन्हे फिर अपने घर से निकाल दिया गया। और कुछ वर्ष बाद उनकी माता, यहाँ तक कि उनकी पत्नी ने भी, जिनसे बढकर और कोई उनका निकटतम स्नेहभाजन न हो सकता था, उनके साथ रहने से इनकार कर दिया। इस प्रकार सब बन्धु-बान्धवो से परित्यक्त होकर उन्होंने बारह वर्ष का कठोर समय अपने दो-एक स्कॉटिश मित्रो के साथ बडे धैर्य व साहसपूर्वक व्यतीत किया। प्रारम्भ मे एक टैक्स-कलक्टर की सरकारी नौकरी पर नियुक्त होकर, धीरे-धीरे उन्नति करते हुए वह जिले के सर्वोच्च शासक के पद पर पहुँच गये।

पिता की मृत्यु के बाद, उनके बन्धु-बान्धवो से फिर उनका मेल हो गया, और वे प्रचुर सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हुए। दिल्ली के सम्राट ने उन्हे राजा की उपाधि प्रदान की, और कलकत्ता मे उनका विशाल महल एव कई रमणीय उद्यान थे। अपने महल मे वे एक राजा के समान रहते थे और अभ्यागन्तुक अतिथियो का पौरस्त्य रीति के अनुसार गायक एव नर्तको के सहयोग से आदर के साथ आतिथ्य-सत्कार करते थे। उनका एक चित्र ब्रिस्टल के अजायबघर मे सुरक्षित है, जिसमे उनके मुखमण्डल का पौरुषेय सौन्दर्य एव लोहित आयत नेत्रो की मधुरिमा देखने योग्य है। माथे के ऊपर मुकुट के समान शुभ्र पगडी शोभायमान है, और एक भूरे रग की अचकन पर जरीदार शाल ओढे हुए हैं।[2] यद्यपि उनका रहन-सहन अलिफ लैला के राजकुमार के समान था, तथापि उससे उनके हिन्दू धर्मशास्त्रो के अध्ययन एव वेदो की विशुद्ध भावना को पुनर्जीवित करने के सग्राम मे कोई बाधा न पडती थी। अपने इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये

---

१ कहा जाता है कि राममोहन सन् १८११ मे अपनी एक तरुणी साली के सतीदाह मे उपस्थित थे। लडकी के दारुण सघर्ष ने दाह की बर्बरता के दृश्य को और भी भयानक बना दिया। इस घटना ने राममोहन राय को इस कदर व्याकुल व अभिभूत कर दिया कि जब तक उन्होंने देश से उक्त राक्षसी प्रथा का अन्त न कर दिया—उनकी आत्मा को शान्ति न मिल सकी।

२ वे मुसलमानो की पोशाक पहनते थे। बाद मे उन्होंने ब्रह्मसमाज मे भी उसी पोशाक को लादना चाहा, परन्तु इसमे वे सफल न हो सके। पोशाक के बारे मे उनकी सौन्दर्य-रुचि, स्वास्थ्य-भावना, एव आरामप्रदता का विचार, हिन्दू-धर्म की अपेक्षा मुसलमानो से ही अधिक मिलता-जुलता था।

संकोच नही करते।[1] परन्तु जब कोई उन पर यह आक्षेप करता था कि वे 'सकलनवादी' (Eclestic) है तो वे यत्नपूर्वक उसका प्रतिवाद करते थे, और उनके सब शिष्य भी इस बारे मे एकमत हैं। उनकी धारणा थी कि धार्मिक अनुभूति की गहराई तक पहुँचने वाला मौलिक सश्लेपणात्मक विग्लेपण ही किसी सिद्धान्त का आधार होना चाहिए। इसलिए उनके मत को वेदान्त के अद्वैतवाद या ईसाई धर्म के एकेश्वरवाद से मिलाना उचित नही है। राय का ईश्वरवाद वेदान्त के 'निरपेक्ष' और अठारहवी शताब्दी के विश्वकोपिक विचार—निराकार ब्रह्म और तर्क—इन दो स्तम्भो पर आश्रित हैं।

राममोहन राय वस्तुत: क्या चाहते थे, उसे वर्णन करना सहज नही है, और उनकी अनुपस्थिति मे उसकी उपलब्धि तो और भी कठिन है। कारण उसके लिए आलोचनात्मक बुद्धि और विश्वास का एक अद्भुत सम्मिश्रण यहाँ तक वांछित है कि अतीन्द्रिय अनुभूति से उपलब्ध ज्ञान सगतरूप से बुद्धि द्वारा नियन्त्रित व शासित हो सके उसका दैहिक और नैतिक गठन राजोचित होने पर भी वह अपने दैनिक जीवन के संतुलन को एक क्षण के लिए भी विनष्ट किए बिना अथवा अपनी दिनचर्या मे किसी बाधा के बिना ध्यान के उच्चतम शिखरो पर आरोहण कर सकते थे। वे उस अतिभावुकता से, जिसके कि बगाली भक्त प्राय. शिकार हो जाते हैं, निरतर अपनी रक्षा करते रहते थे और उसे अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखते थे।[2] इसके एक शताब्दी बाद अरविन्द घोष के अतिरिक्त हम अन्य किसी व्यक्ति के अन्दर एक उच्चतम कोटि के मन का इस प्रकार

हुआ था। प्रत्येक शनिवार को यहाँ पर, सात से ६ बजे तक वेदो का पाठ, उपनिषदो की आवृत्ति, वेदो के ऊपर नाना उपदेश और स्तोत्रगान होते थे। अधिकाश स्तोत्र राममोहन राय के अपने बनाये हुए थे, जिन्हें गाने के समय एक मुसलमान वादक साथ मे साज बजाया करता था।

१ राममोहन राय का एकेश्वरवाद, उसके परवर्ती ब्रह्मसमाज के आचार्यों के एकेश्वरवाद की अपेक्षा विशेषत. देवेन्द्रनाथ के मतवाद की अपेक्षा, बाइबिल के अधिक निकट है।

२. सन् १६२८ के अक्टूबर मास के 'मॉडर्न रिव्यू' मे प्रकाशित धीरेन्द्र नाथ चौधरी लिखित 'भक्त राममोहन राय' लेख देखिए—" ध्यान भग के अनेक कारणो के विद्यमान होते हुए भी राजा प्राय. ही ब्रह्मसमाधि मे निमग्न पाये जाते थे ''राजा के निकट शारीरिक क्रिया मे किसी अस्वाभाविक परिवर्तन का नाम समाधि है, जो कि अपनी इच्छानुसार पैदा किया जा

विभिन्न शक्तियों के साथ उत्कृष्टतम व स्वतन्त्र समिश्रण नही पाते। यह ऐसी वस्तु नही है जिसे आसानी से किसी को दिया जा सके, और वास्तव मे इसे अविकृत रूप मे किसी को दे सकना एकदम असभव ही है। राममोहन राय के उत्तराधिकारी यद्यपि सर्वथा पवित्र व उदारहृदय व्यक्ति थे, तथापि उन्होंने उनकी शिक्षाओ को इस प्रकार बदल डाला कि उन्हे पहचानना भी मुश्किल है। तथापि ब्रह्मसमाज के विधान—व अधिकारपत्र—ने, जिसमे ऐसे अश भी थे, जिन्हें उसके उत्तराधिकारी समझ व ग्रहण कर सके, भारत व एशिया मे एक नवयुग की स्थापना की और इस एक शताब्दी ने इसके विचार के महत्त्व को ही प्रकट किया है।

इसके अन्य व्यावहारिक पहलुओ पर राय ने अपने समाज-सुधार[1] सम्बन्धी

सकता है, यह एक गम्भीर निद्राकालीन अचेतनावस्था भी नही है, अपितु यह समस्त पदार्थों मे ब्रह्म की उपलब्धि करने और अपनी आत्मा का विश्वात्मा को समर्पित करने की एक उच्चतर आध्यात्मिक साधना व अभ्यास है। उनके लिये आत्म साक्षात्कार का अर्थ विश्व की सत्ता को अस्वीकार करना नही है ' अपितु प्रत्येक अनुभूतिकरण के मध्य ईश्वर का साक्षात्कार करना है' राममोहन राय प्रधानतः एक साधक थे ''वह पूर्णरूप से वेदान्तिक होते हुए भी यह अनुभव करते थे कि उपनिषदे आत्मा की भक्ति-लालसा को पूर्णतया तृप्त नही कर सकती, और न ही वे बगाल के भक्तिवाद का ही समर्थन कर पाते थे•••परन्तु उनका ख्याल था कि भक्ति-लालसा की तृप्ति सूफीवाद के द्वारा सभव है। ''

१ जिन अनेक सुधारो को उन्होने क्रियान्वित किया था व करने की चेष्टा की थी, उनकी पूर्ण तालिका देना अत्यन्त कठिन है। उनमे से कुछ मुख्य-मुख्य सुधारो का ही निर्देश करना पर्याप्त है। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि सतीदाह शास्त्र-विरुद्ध है, और सन् १८२६ मे उन्होंने इसे रोकने के लिये ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया। उन्होंने बहुविवाह के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठाई। इसी प्रकार विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, भारतीय एकता, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, हिन्दू-शिक्षा आदि इन सब सुधारो के लिये उन्होने जी-तोड प्रयत्न किया। हिन्दू-शिक्षा को वे योरोपीय शिक्षा के वैज्ञानिक आदर्श पर सगठित करना चाहते थे, और इसी उद्देश्य से उन्होंने भूगोल विद्या, ज्योतिषशास्त्र, ज्यामिति और व्याकरण आदि अनेक विषयो पर बँगला मे पाठ्य-पुस्तके लिखी। प्राचीन भारतीय आदर्श के अनुसार

उन्होंने वेदो का बँगला व अंग्रेजी मे अनुवाद किया और उन पर व्याख्याएँ लिखी। यही नहीं, वे और भी आगे बढे, और उपनिषद् और सूत्रो के साथ-साथ उन्होंने ईसाई धर्मपुस्तको का भी सूक्ष्म अध्ययन किया। कहा जाता है कि वे सबसे पहले उच्चवशीय हिन्दू थे, जिन्होंने ईसाई धर्म की शिक्षाओ का अध्ययन किया था। सन् १८२० मे उन्होंने बाइबिल के आधार पर 'The precepts of Jesus, a Guide to peace & Happiness' 'शान्ति व आनन्द की पथ-प्रदर्शक ईसा की शिक्षाएँ' नामक पुस्तक प्रकाशित की। सन् १८२६ के लगभग उन्होंने अपने एक योरोपियन मित्र प्रोटेस्टेण्ट पादरी ऐडम द्वारा स्थापित एकेश्वर-वादी समाज की सदस्यता स्वीकार की। ऐडम मन ही मन मे यह सोचकर खुश होते थे कि उन्होंने राममोहन राय को ईसाई धर्म मे दीक्षित कर लिया है, और वह भारतीयो के लिए ईसाई धर्म के प्रचारक के रूप मे कार्य करेगे। परन्तु राय को कट्टर ईसाई धर्म की जजीर मे जकडना उसी प्रकार असभव था, जैसा कि कट्टर हिन्दू धर्म मे, यद्यपि वह यह समझते थे कि उन्होंने ईसाई धर्म के वास्तविक अर्थ को समझ लिया है। इसलिए वे एक स्वतन्त्र ईश्वरवादी ही रहे, जो कि मूलतः बुद्धिवादी एवं नीतिवादी थे। ईसाई धर्म से उन्होंने उसके नैतिक सिद्धान्तो को ग्रहण कर लिया, परन्तु ईसा के देवत्व को उसी प्रकार त्याग दिया, जिस प्रकार कि उन्होंने हिन्दू अवतारो को त्याग दिया था। एक उग्र आवेशमय एकेश्वरवादी होने के कारण उन्होंने त्रिसत्ता का भी अनेकेश्वरवाद के समान ही खण्डन किया। इसके फलस्वरूप ब्राह्मण व ईसाई पादरी दोनो ही उनके दुश्मन हो गये।

परन्तु वे ऐसे व्यक्ति नही थे, जो इन बातो से घबरा जाते। जब अन्य सब उपासना-मन्दिर उनके लिए बन्द हो गये[1], तो उन्होंने अपने व ससार के अन्य समस्त स्वतन्त्र विश्वासियो के लिए एक पृथक् उपासना-मन्दिर की स्थापना की। इससे पूर्व वह सन् १८१५ मे अद्वितीय एव अदृश्य परमात्मा की उपासना के लिए एक आत्मीय सभा (मित्र-गोष्ठी) की भी स्थापना कर चुके थे। सन् १८२७ में उन्होंने गायत्री मन्त्र पर, जोकि हिन्दुओ का सबसे प्राचीन ईश्वरीय मन्त्र समझा जाता है, एक पुस्तिका प्रकाशित की। और अन्त मे सन् १८२८ मे टैगोर प्रभृति उनके मित्रो ने उनके घर पर एकत्रित

---

१ एकमात्र ऐडम साहब के एकेश्वरवादी गिर्जे को छोडकर। परन्तु उस समय उनके उपर्युक्त गिर्जे की अवस्था सतोषजनक न थी।

होकर एकेश्वरवादी समाज की स्थापना की।[1] इस समाज ने ही वाद मे ब्रह्मसमाज (आदि ब्रह्मसमाज) ईश्वर का मन्दिर, के नाम से भारत मे एक क्रान्तिकारी जीवन का सूत्रपात किया। इस समाज को "उस सनातन, अगम्य एव अपरिवर्तनशील सत्ता की पूजा व उपासना मे" "जो कि विश्व की सृष्टि-कर्ता व पालक है", समर्पित किया गया था। और यह निश्चय किया गया था कि "कोई भी मनुष्य या मनुष्यो का सम्प्रदाय जो अन्य किसी विशेष नाम से अपने अभीष्ट देवता व देवताओ को पुकारता है, वह उस नाम, उस विशेषण, या उस उपाधि से" यहाँ ईश्वर की पूजा न कर सकेगा। इस मन्दिर का द्वार सवके लिए खुला हुआ था। राममोहन राय की इच्छा थी कि उनका ब्रह्मसमाज वर्ण, जाति, देश और धर्म के भेदभाव के विना मनुष्य मात्र के लिए एक सार्व-जनिक पूजावेदी मे परिणत हो जाय। उन्होंने अपने दानपत्र मे लिखा है कि किसी भी धर्म की "निन्दा, उपहास व अवहेलना न की जा सकेगी।" इस सम्प्र-दाय का मुख्य उद्देश्य "विश्व के सृष्टिकर्ता एव पालनकर्ता के सम्वन्ध मे मनुष्य के ध्यान एव विचार को प्रोत्साहित करना" एव "सव धर्मों व सब विश्वासो के मनुष्यो मे औदार्य, दया, करुणा और नैतिकता को उद्बुद्ध करके उनके पारस्परिक मिलन को दृढ और शक्तिशाली वनाना" था।

इसके वाद एक सार्वभौम धर्म स्थापित करने की उनकी अभिलाषा हुई, जिसे राममोहन राय के शिष्य एव भक्तो ने स्वेच्छापूर्वक 'विश्वधर्म' का नाम दिया था। परन्तु इस शब्द को इसके पूर्ण व शाब्दिक अर्थ मे ग्रहण नही करता, कारण राय ने इसमे से सब प्रकार के अनेकेश्वरवादो के उच्चतम के लेकर निम्नतम रूपो का वहिष्कार कर दिया था। जो मनुष्य वर्तमान काल की धार्मिक वास्त-विकताओ को निष्पक्ष होकर देखना चाहता है, उसे इस वात को दृष्टिगोचर रखना आवश्यक है कि अनेकेश्वरवाद ईसाई धर्म का उच्चतम एकता मे त्रिसत्ता की अभिव्यक्ति से लेकर, अपनी निम्नतम अभिव्यक्तियो मे मनुष्य जाति के दो तिहाई भाग पर अधिकार किये हुए हैं। राय जव अपने-आपको एक हिन्दू एके-श्वरवादी कहते है तो वे वास्तव मे विलकुल ठीक ही कहते हैं, पर वे इस्लाम तथा ईसाइयत इन दोनो अन्य एकेश्वरवादी धर्मो से भी शिक्षा प्राप्त करने मे कोई

---

१ जिस जमीन पर सन् १८२६ मे एकेश्वरवादी मन्दिर का निर्माण हुआ था, उसके क्रयपत्र की दस्तावेज मे पहली वार भूल से ब्रह्मसमाज का प्रयोग हुआ है।

२५ अगस्त सन् १८२८ को इस उपासना सभा का प्रथम अधिवेशन

शक्तिशाली आदोलनो पर बल दिया है, जिन्हे कि तत्कालीन अंग्रेजी शासन का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। उस समय के अंग्रेज शासक आज के अंग्रेज शासको से बहुत अधिक उदार व बुद्धिमान[२] थे। राममोहन के देश-प्रेम मे संकीर्णता की गन्ध मात्र न थी। वह स्वतन्त्रता और नागरिक तथा धार्मिक प्रगति के सिवाय और किसी वस्तु की परवाह न करते थे। वह अंग्रेजो को भारत से निकाल बाहर करने के स्थान पर उन्हे यहाँ प्रतिष्ठित हुए देखना चाहते थे, परन्तु एक राक्षस के समान नही, जो कि उनका रक्त चूसना चाहता है, अपितु इस रूप मे कि उनका रक्त, उनका स्वप्न, उनका विचार भारतीयो के साथ घुल-मिल जाय। वे यहाँ तक आगे बढ गये थे कि वे चाहते थे कि भारतीय अंग्रेजी को ही अपनी सार्वजनिक भाषा स्वीकार कर ले, ताकि भारत सामाजिक रूप से पश्चिमी आदर्शों को अपना सके और उसके बाद स्वतन्त्रता प्राप्त करके शेष एशिया को भी जाग्रत कर सके। उनके समाचारपत्र ससार की समस्त पराधीन जातियो—आयर्लैण्ड, पददलित नेपल्स, और १८३० के जुलाई के दिनो के विप्लवी फ्रान्स—की स्वाधीनता के आन्दोलन मे आवेशपूर्वक भाग लेते थे। परन्तु इगलैंड के इस विश्वस्त सहयोगी ने स्पष्ट रूप से उसे यह सूचित करने मे भी किसी सकोच का अनुभव नही किया कि यदि अपनी जाति को उन्नत करने के लिये नेता के रूप मे उसकी आशाएँ सत्य सिद्ध न हुईं तो वह उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेंगे।

स्त्री-शिक्षा का प्रचार करने का भी उन्होंने प्रयत्न किया। यही नही, विचार एव समाचार पत्रो की स्वतन्त्रता, कानूनी सुधार एव राजनैतिक समानता आदि के लिए भी उन्होने आन्दोलन किया।

सन् १८२१ मे उन्होने एक बगाली समाचारपत्र की स्थापना की थी, जो कि भारतीय समाचारपत्रो का जनक है। उसके साथ ही उन्होंने एक फारसी पत्र और वैदिक विज्ञान के अध्ययन के लिए 'वेद मन्दिर' नामक एक अन्य पत्र का सचालन प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त प्रथम आधुनिक हिन्दू कालेज, नि.शुल्क विद्यालयो और उनकी मृत्यु के दस वर्ष बाद कलकत्ता मे स्थापित प्रथम स्त्री पाठशाला के लिए भारत उनका ऋणी है। (१८४३)

२ गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंण्टिक की मित्रता व सहयोग के बिना राममोहन राय धर्मोन्मत्त मदान्ध ब्राह्मणो के विरुद्ध आगे बढने व अपने कुछ अत्यन्य आवश्यक समाज-सुधारो को अमल मे लाने मे कभी समर्थ न हो सकते थे।

सन् १८३० के अन्त के लगभग देहली के सम्राट ने उन्हे अपना राजदूत बनाकर इगलैण्ड भेजा, क्योकि राय ईस्ट इण्डिया कम्पनी को नई सनद देने के सम्बन्ध मे हाउस आफ कामन्स मे होनेवाले विवाद मे सम्मिलित होना चाहते थे। वे सन् १८३१ के अप्रैल मे इगलैण्ड पहुँचे और लिवरपूल, मैंचेस्टर, लन्दन तथा राजदरबार मे उनका बडा सत्कार हुआ। वहाँ उन्होंने बैन्थम प्रभृति अनेक व्यक्तियो से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया। वहाँ से कुछ दिन के लिये वे फ्रान्स भी गये, और २७ सितम्बर सन् १८३३ को मस्तिष्क-ज्वर के कारण ब्रिस्टल मे उनकी मृत्यु हो गयी। वही उनकी समाधि बनी हुई है, जिसके ऊपर लिखा है :—

"परमात्मा के एकत्व मे दृढ विश्वास रखनेवाला एक सच्चा व्यक्ति · उसने अपना समस्त जीवन पूर्ण श्रद्धा के साथ केवल परमात्मा की उपासना मे व्यतीत किया है।" योरोपीय भाषा मे "मानव-एकता की उपासना में" भी कहा जा सकता है, इसका भी वही अर्थ है।

इस महान् शक्तिशाली व्यक्ति ने साठ वर्ष तक भारत की भूमि को अपने हल से जोता है और उसके प्रयत्नो से उसका एकदम रूपान्तर हो गया है। हमारे लिये यह बडी लज्जा की बात है कि ऐसे महान् पुरुष का नाम योरोप व एशिया के किसी स्मृति-मन्दिर में अकित नही है। सस्कृत, बँगला, अरबी, फारसी और इगलिश के एक महान् लेखक, आधुनिक बँगला के गद्य के जन्मदाता, नाना प्रकार के प्रसिद्ध स्तोत्र, कविता, उपदेश, दार्शनिक ग्रथ एव राजनैतिक लेखो के रचयिता व लेखक के रूप मे उसने अपने विचारो व भावो के बीजो का खुले हाथ वपन किया है। और बगाल की उर्वरा भूमि से एक फसल—कार्यों और मनुष्यो की फसल—उत्पन्न हुई है। और उनकी ही प्रेरणा से (जो कि एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है) टैगोरो की बहार आयी है।

रवीन्द्रनाथ के पितामह द्वारकानाथ टैगोर, जो कि राममोहन राय के परम मित्र थे, उनकी मृत्यु[1] के बाद ब्रह्मसमाज के मुख्य पृष्ठ-पोषक हुए। रवीन्द्रनाथ के पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७-१९०५), जो कि रामचन्द्र विद्यावागीश की अध्यक्षता के बाद राममोहनराय के द्वितीय उत्तराधिकारी नियुक्त हुए, वही असली

---

१ राममोहन राय के सदृश द्वारकानाथ भी सन् १८४६ मे इगलैंड की यात्रा करते हुए परलोक सिधार गये। ब्रह्मसमाज के इन दोनो प्रथम कर्णधारो की पश्चिम मे मृत्यु ही इस बात का द्योतक है कि वे योरोप की धारा मे बह रहे थे।

व्यक्ति थे, जिन्होने वास्तव मे ब्रह्मसमाज को सगठित किया। यह महापुरुष, जिसे उसके देशवासियो ने 'महर्षि' की उपाधि से विभूपित किया था, उसका सक्षिप्त वर्णन[1] देना आवश्यक प्रतीत होता है :

देवेन्द्रनाथ शारीरिक व मानसिक सौन्दर्य, उच्च बुद्धि, नैतिक पवित्रता और पूर्ण कुलीनता के अधिकारी थे। यह गुण वे अपनी सन्तान को भी उत्तराधिकार मे दे गये हैं। इसके अतिरिक्त वे वैसे ही गम्भीर एव आवेगमय काव्यानुभूति के भी स्वामी थे।

एक धनी परिवार के ज्येष्ठ पुत्र के रूप मे कलकत्ता मे उनका जन्म हुआ था। कट्टरपन्थी परम्पराओ मे पलकर अपनी युवावस्था मे वे सासारिक प्रलोभनो व वैषयिक सुखो के जाल मे फँस गये। परन्तु उनके परिवार के एक सदस्य की मृत्यु ने उन्हे इस जाल से वचा लिया। लेकिन धार्मिक शान्ति प्राप्त करने से पूर्व उन्हें एक दीर्घ नैतिक सकटकाल मे से गुजरना पडा। यह ध्यान देने योग्य है कि उनके जीवन मे जो भी निर्णयात्मक प्रगति हुई है, वह किसी न किसी आकस्मिक घटना से उत्पन्न काव्यमय भावो का ही परिणाम है। उदाहरण के लिए वह वायु जो पूर्णमासी की रात्रि मे गंगा के तट पर किसी मुमूर्षु व्यक्ति के कान मे उच्चारित हरि नाम को उनके पास उडाकर ले आयी, और फिर तूफान के वीच मे एक मल्लाह के शब्द—'डरो मत। आगे बढो।' अथवा पुन. वह वायु का झोका, जो फटे हुए सस्कृत के एक पृष्ठ को, जिसमे उपनिषदो के निम्न शब्द लिखे हुए थे, जो कि उन्हे ईश्वरीय वाणी के समान प्रतीत हुए—'सबको छोड कर उसी का अनुसरण करो। उसी के अवर्णनीय ऐश्वर्य का उपभोग करो …'

सन् १८३९ मे उन्होंने अपने भाइयो, वहिनो और कुछ मित्रो के साथ, जिन सत्यो मे वे विश्वास करते थे, उनका प्रचार करने के लिए एक समाज की स्थापना की। तीन वर्ष वाद वे ब्रह्मसमाज के सदस्य वन गये और उसका नेतृत्व करने

---

१ देवेन्द्रनाथ वँगला मे अपनी आत्मकथा छोड गये हैं, (जिसका सत्येन्द्रनाथ टैगोर और इन्दिरा देवी ने सन् १९०९ मे अग्रेजी अनुवाद किया है।) उन का आन्तरिक जीवन माया और अन्धविश्वास के गहन गर्त से किस प्रकार परम पुरुष की तीर्थयात्रा के लिए प्रवृत्त हुआ था—यही कथा इसमे वर्णित है। वास्तव मे यह उनके आत्मा की एक धार्मिक डायरी है।

'फिइयुले दि ल' इनडे' पत्रिका के सन् १९२८, प्रथम खण्ड मे प्रकाशित मोशिए दुगार्द लिखित प्रबन्ध देखिए। यह पत्रिका वोलोन सूरसोन से हौगमैन के संपादकत्व मे प्रकाशित होती है।

लगे। उन्होंने ही उसके विश्वास, आदर्श और अनुष्ठानो का निर्माण किया। उन्होंने उसकी नियमित पूजा का सगठन किया, पुरोहितो की शिक्षा के लिये धर्मशास्त्र विद्यालय की स्थापना की। वे स्वय ही उक्त विद्यालय मे व्याख्यान देते थे, और सन् १८४८ मे उन्होंने 'धर्म विश्वासियो की शिक्षा के लिये' सस्कृत मे 'ब्रह्मधर्म' नामक पुस्तक लिखी जो कि 'धर्म व नीति-शास्त्र का आस्तिक ग्रन्थ है'।[1] उनका अपना विश्वास था कि यह ग्रन्थ भगवत्प्रेरणा से लिखा गया है।[2] उनकी प्रेरणा का स्रोत राममोहनराय से सर्वथा भिन्न था। उपनिषदो से उन्हे प्रेरणा प्राप्त हुई थी, परन्तु उनकी व्याख्या उन्होंने सर्वथा स्वतन्त्र रूप[3] से की थी।

---

१ इसका अग्रेजी अनुवाद अभी हाल ही मे हृ० चन्द्र सरकार ने प्रकाशित किया है। 'ब्रह्मधर्म' के पाठको की सख्या भारतवर्ष मे बहुत अधिक थी, जहाँ अनेक भाषाओ मे इसका अनुवाद हो चुका है।

२ 'यह ईश्वरीय सत्य है जो मेरे हृदय मे प्रविष्ट हुआ है। यह जीवित सत्य मेरे हृदय मे उस (परमात्मा) से आये है, जो जीवन है, प्रकाश है और सत्य है।' (देवेन्द्रनाथ)

इसका प्रथम खण्ड उन्होंने तीन घटे मे बोलकर समाप्त कर दिया था। और यह सारी पुस्तक 'एक नदी के समान अविच्छिन्न रूप से उपनिषदो की भाषा मे लिखी गयी है, परमात्मा की कृपा से आध्यात्मिक सत्य मेरे मन मे प्रवाहित हो रहे थे।' इस भगवत्प्रेरित नियम-निर्माण पद्धति मे, जोकि देवेन्द्रनाथ के सदृश स्वभाव के व्यक्ति के लिये एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, आपत्ति यह है कि एक तरफ तो उनका ब्रह्मसमाज यह दावा करता है कि 'सत्य ही केवल मात्र एक सनातन और अविनश्वर धर्मग्रन्थ है' और अन्य किसी भी धार्मिक पुस्तक को वह धर्मग्रथ मानने को तैयार नही, परन्तु दूसरी तरफ यह सत्य हृदय के उस आन्तरिक उद्गार की प्रामाणिकता पर आश्रित है, जिसका मूल स्रोत अन्ततः वे अनेक हिन्दू धर्मशास्त्र ही हैं, जिन्हे कि अपनी पूर्वनिर्दिष्ट भावना के अनुसार चुना व उनकी व्याख्या की गयी है।

३ धर्मपुस्तको के बारे मे देवेन्द्रनाथ की भावना हमेशा एक-सी नही रही। सन् १८४४ एव १८४६ के मध्यवर्ती काल मे बनारस मे रहते हुए वे वेदो को निर्भ्रान्त एव स्वत.प्रमाण मानते थे। परतु सन् १८४७ के बाद उनका वह विचार बदल गया, और वैयक्तिक .अन्त प्रेरणा को ही वे निर्भ्रान्त सत्य मानने लगे।

देवेन्द्रनाथ ने बाद मे ब्रह्मसमाज के चार मूल धर्म-सिद्धान्त निर्धारित किये :—

१—प्रारम्भ मे कुछ नही था। केवल एक परम पुरुष ही विद्यमान था। उसने ही ससार की सृष्टि की।

२—वही एकमात्र सत्य असीम ज्ञान, अच्छाई व शक्ति के आधार भगवान् हैं, वही सनातन, सर्वव्यापी, एक और अद्वितीय हैं।

३—उसके प्रति विश्वास और उसकी पूजा मे ही हमारी इस लोक व परलोक मे मुक्ति निर्भर है।

४—उसको प्रेम करना और उसकी इच्छा को पूर्ण करना ही धर्म है। इस प्रकार ब्रह्मसमाज का धर्म एक ईश्वर मे विश्वास है, जिसने शून्य से विश्व की सृष्टि की है। उसका मूलगुण करुणा है, वह करुणामय है। और परलोक में मनुष्य की मुक्ति के लिए उसकी एकमात्र पूजा आवश्यक है।

मेरे पास ऐसा कोई साधन नही है जिससे मैं देवेन्द्रनाथ के इस कथन की कि उनका धर्म विशुद्ध हिन्दू धर्म है, परीक्षा कर सकूं। परन्तु यह उल्लेख योग्य है कि टैगोर-परिवार ब्राह्मणो को उस उपजाति से सम्बन्ध रखता है, जिसे पिरिलिस या प्रधानमत्री कहते है। मुसलमानो के राज्यकाल मे इस वश के कोई सदस्य इस पद पर आसीन रहे थे। फलस्वरूप मुसलमानो के साथ उनका सम्पर्क होने के कारण वे अपने सम्बन्धियो द्वारा जाति-बहिष्कृत[1] कर दिये गये थे। इसलिए यह कहना शायद अत्युक्ति न होगी कि उनके परिवार मे एकेश्वरवाद के सम्बन्ध मे जो एक दृढ व स्थायी धारणा देखी जाती है, उनमे यह प्रभाव भी कारण हो सकता है। द्वारकानाथ से लेकर रवीन्द्रनाथ तक सभी किसी भी प्रकार की मूर्तिपूजा के कट्टर शत्रु[2] हैं।

---

१ मजुलाल दवे प्रणीत "The Poetry of Rabindra Nath Tagore" देखिए, १९२७।

२ टैगोर-परिवार के निवास-स्थान शान्तिनिकेतन के प्रवेशद्वार पर यह शब्द अकित हैं · "यहाँ पर किसी मूर्ति की पूजा नही की जाती।" परन्तु साथ ही यह भी लिखा है : "और न किसी मनुष्य के धर्म को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।"

भारतीय आध्यात्मिकता मे एकेश्वरवाद के प्रवेश के सम्बन्ध मे आलोचना करते हुए, बाल्यकाल मे राममोहन राय के ऊपर पडनेवाले इस्लामी प्रभावो को भी सर्वदा स्मरण रखना चाहिए।

के० टी० पाल के कथनानुसार देवेन्द्रनाथ को एक तरफ कट्टर हिन्दुओ के विरुद्ध और दूसरी तरफ ईसाइयो के उस आन्दोलन के विरुद्ध, जो कि ब्रह्मसमाज मे जड पकडता जा रहा था, घोर संग्राम करना पडा। अपने दुर्ग की रक्षा के लिए उन्हे रक्षा-चौकियो के रूप मे दृढ एव सत्य सिद्धान्तो की रक्षापक्ति का निर्माण करना पडा। इसके व भारतीय धर्म के दोनो छोर—अनेकेश्वरवाद जिसका देवेन्द्रनाथ एकदम निषेध करते थे,[1] और शकर का विशुद्ध अद्वैतवाद, इन दोनो के बीच एक पुल का निर्माण किया गया। कारण ब्राह्म वर्ग एक तथा साकार ईश्वर और मानव-बुद्धि, जिसे कि ईश्वर ने धर्मग्रथो की व्याख्या करने की शक्ति व अधिकार प्रदान किया है, इन दोनो का एक सुदृढ दुर्ग था। मैंने पहले भी निर्देश किया है कि देवेन्द्रनाथ और उससे भी अधिक उनके उत्तराधिकारियो मे बुद्धि को धार्मिक अन्तर्दृष्टि के साथ मिलाने की एक प्रवृत्ति रही है। सन् १८६० के लगभग शिमला के समीप हिमालय मे अठारह महीने के एकान्तवास मे उन्होने एकान्त ध्यान की एक माला तैयार की।[2] बाद मे इन विचारो की उन्होने अपने उपदेशो मे विस्तार-पूर्वक व्याख्या की, जिसने कलकत्ता की जनता को अत्यन्त प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त उन्होने ब्रह्मसमाज के लिये उपनिषदो द्वारा अनुप्राणित एव सजीव व पवित्र आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत एक और प्रार्थना-पुस्तक प्रस्तुत की।

हिमालय से लौटने के कुछ दिन बाद सन् १८६२ मे, उन्होने तेईस वर्ष के

---

१ यहाँ तक कि सन् १८४६ मे उनके पिता का देहान्त होने पर ज्येष्ठतम पुत्र होने के कारण जब मृतक सस्कार करने का दायित्व उन पर आया तो उन्होने पारिवारिक प्रथा के आगे सिर झुकाने से केवल इसलिए इनकार कर दिया, क्योकि उसमे मूर्तिपूजा का अनुष्ठान सम्मिलित था। इससे उनकी इतनी लोक-निन्दा हुई कि उनके परिवार के सदस्यो व मित्रो ने भी उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। और इसके फलस्वरूप उन्हे कई वर्ष तक जिस कठिन परीक्षा मे से गुजरना पडा, उसका वर्णन मैं यहाँ नही देना चाहता। देवेन्द्रनाथ के पिता अपनी फिजूलखर्ची के कारण कर्ज का एक जबर्दस्त बोझ उन पर छोड गये थे। देवेन्द्रनाथ ने उनकी मृत्यु के बाद बडी लगन और मेहनत के साथ उस ऋण को उतारा और साहूकारो के साथ की गयी अपने पिता की प्रत्येक शर्त को पूरा किया।

२ उनके छोटे लडके रवीन्द्रनाथ भी उनके साथ थे।

हिमालय की गोद मे आवेगमय एकान्तवास की अपूर्व स्मृतियो के

एक नवयुवक केशवचन्द्र को अपना सहयोगी बनाया । परन्तु बाद मे केशवचन्द्र सेन ने उनसे पृथक् होकर ब्रह्मसमाज मे एक नये दल अथवा नये दलो की शृखला की सृष्टि की ।

केशवचन्द्र[1] केवल सन् १८३८ से १८८४ तक जीवित रहे । वह जहाँ अस्थिरमति एव चचल प्रकृति के थे, वहाँ ईश्वरादेश से प्रेरित भी थे । उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे वही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनके व्यक्तित्व ने ब्रह्मसमाज के ऊपर सबसे अधिक प्रभाव डाला है । उन्होने उसे यहाँ तक समृद्ध व रूपान्तरित कर दिया कि उससे उसकी सत्ता ही खतरे मे पड गयी ।

वह एक ऐसी भिन्न श्रेणी और भिन्न पीढी के प्रतिनिधि थे, जिसमे पाश्चात्य प्रभावो ने गहरा स्थान बना लिया था । राय या देवेन्द्रनाथ के समान एक सभ्रान्त परिवार मे उनका जन्म नही हुआ था । बगाल के एक उदार एव प्रसिद्ध मध्यवित्त श्रेणी के परिवार मे, जो कि निरन्तर योरोप के बौद्धिक संपर्क मे आ रहा था, उन्होने जन्म लिया था । उनकी उपजाति वैद्य थी । उनके पितामह एक उल्लेखयोग्य व्यक्ति थे, जो कि एशियाटिक सोसायटी के भारतीय

साथ मैं रवीन्द्रनाथ द्वारा प्रणीत यह आवेदन, जो कि उन्होने बाद मे जननायको को लक्ष्य करके लिखा है, जोड देना चाहता हूँ :—

जनगण-मन-अधिनायक जय हे, भारत भाग्यविधाता ।
पजाब सिन्धु गुजरात मराठा द्राविड उत्कल बगा ,
विन्ध्य हिमाचल यमुना-गगा उच्छल जलधि तरगा ।
तव शुभ नामे जागे, तव शुभ आशिष मॉगे ।
गाहे तव जय-गाथा
जनगण मगलदायक, जय हे, भारत भाग्यविधाता ।

(जन्मभूमि के प्रति)

वस्तुत आदि ब्रह्मसमाज को केशवचन्द्र सेन ने जो विचार दिये थे, रवीन्द्रनाथ को उनसे बहुत लाभ हुआ था ।

१ केशवचन्द्र सेन के सम्बन्ध मे निम्न पुस्तके देखिए :—

पण्डित गौर गोविन्द राय प्रणीत 'केशवचन्द्र की जीवनी' जो बगला भाषा मे नौ खण्डो मे प्रकाशित हुई है ।

प्रतापचन्द्र मजूमदार (केशवचद्र के प्रधान शिष्य एव उनके उत्तराधिकारी) प्रणीत : The Faith and Progress of the Brahmo Samaj १८८२, कलकत्ता, एव Aims and Principles of Keshab Chunder Sen १८८६ कलकत्ता ।

मत्री थे, और हिन्दुस्तानी मे प्रकाशित होनेवाले सब ग्रथो के तमाम सस्करणो का प्रकाशन उनके नियत्रण मे था। छोटी उम्र मे ही केशव के माता-पिता की मृत्यु हो गई थी और उनका पालन-पोषण एक अग्रेजी स्कूल मे हुआ था। यही कारण है कि वह अपने दोनो पूर्ववर्तियो से इतने भिन्न थे, वे सस्कृत बिल्कुल न जानते थे और हिन्दू धर्म के लोकप्रिय रूपो से उन्होने जल्दी ही अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था।[1] ईसा ने उन्हे प्रभावित किया था, और उन्होंने

प्रथमलाल सेन रचित : Keshab Chunder Sen : A Study १६०२, नया सस्करण १६१५, कलकत्ता।

टी० एल० वास्वानी रचित Shri Keshab Chunder Sen : Social Mystic १६१६, कलकत्ता।

वी० मजूमदार (केशव मिशन सोसाइटी के अध्यक्ष) प्रणीत : Professor Max Muller on Ramkrishna, The world on Keshab Chunder Sen · १६००, कलकत्ता।

मनीलाल सी० पारीख रचित : Brahmarshi Keshab Chunder Sen : १६२६, राजकोट, ओरियण्टल क्राइस्ट हाउस से प्रकाशित।

(केशवचद्र सेन के अन्यतम शिष्य एक भारतीय ईसाई द्वारा लिखित यह पुस्तक केशवचद्र की ईसाई धर्माभिमुखता को स्पष्टता से प्रकट करती है। प्रारम्भ मे यह अस्थायी थी—परन्तु धीरे-धीरे इसने अधिकाधिक निश्चित व पूर्णरूप से उस पर काबू पा लिया था)।

केशवचद्र सेन रचित : "A Voice from the Himalayas" यह सन् १८६८ मे केशव द्वारा शिमला मे दिये हुए व्याख्यानो का एक सग्रह है, जिसके प्रारम्भ मे एक भूमिका जोड दी गयी है, १६२७, शिमला।

१. यह होने पर भी, यह सर्वथा स्वाभाविक है कि वे उस धार्मिक प्रकृति से, जो कि उनकी जाति का एक विशेष गुण है, कभी मुक्त न हो सके। प्रतापचन्द्र मजूमदार ने सन् १८८४ में रामकृष्ण से एक बातचीत के सिलसिले मे केशवचन्द्र के रहस्यमय बाल्यकाल का वर्णन किया है। (रामकृष्ण कथामृत) वे प्रारम्भ मे "सासारिक वस्तुओ के प्रति अनासक्त" एव आन्तरिक ध्यान व विचार मे निमग्न पाये जाते थे। "कभी-कभी तो भक्ति-अतिरेक के कारण उन्हे सज्ञा-हीनता के दौरे भी पड जाते थे।" बाद मे उन्होंने हिन्दू धार्मिक "भक्ति" के रूपो का अहिन्दू धार्मिक वस्तु पर भी प्रयोग किया। फलतः उन्होने ईसाई धर्म का जो वैष्णवी रूप ग्रहण किया था, वह उसके साथ ही निरतर योग का भी अध्ययन जारी रखते थे।

ब्रह्मसमाज मे, और भारत के सर्वश्रेष्ठ मनीषियो के हृदय मे उसे प्रविष्ट कराना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। जब वे परलोक सिधारे तो 'दि इण्डियन क्रिश्चियन हैरल्ड' पत्र ने उनके बारे मे लिखा था। "क्रिश्चियन चर्च अपने श्रेष्ठतम साथी की मृत्यु पर शोक प्रदर्शन करता है। ईसाइयो का विश्वास था कि परमात्मा ने उन्हे भारतवर्ष को ईसा की आत्मा से अवगत करने के लिये भेजा है। उन्ही के प्रयत्नो का शुभ परिणाम है कि ईसा के प्रति घृणा का अन्त हो गया है।"

यह अन्तिम कथन सम्पूर्ण रूप से सही नही है, क्योंकि हम देखेंगे कि ईसा के समर्थन के कारण स्वय केशव को कितना कष्ट भोगना पडा। उनके जीवन का वास्तविक अर्थ बहुत से व्यक्तियो, यहाँ तक कि ब्रह्मसमाज के अन्तर्गत व्यक्तियो द्वारा भी अस्पष्ट व धुँधला बना दिया है, कारण यह है कि वे अपने नेता की अपने प्रिय विश्वासो को ठेस पहुँचाने वाली स्थापनाओ से व्यथित व खिन्न थे, और उसे छुपाने का प्रयत्न करते थे। केशवचन्द्र ने स्वय भी इस बात को धीरे-धीरे क्रमश. प्रकट किया है, और अपनी मृत्यु से बीस वर्ष पूर्व जो लेख उन्होंने लिखे हैं, उनसे हम उनके मुँह से ही यह सुनते है कि उनका जीवन उनके यौवन काल से ही तीन महान् ईसाई सन्तो—जॉन दि बैप्टिस्ट, क्राइस्ट, और सेण्ट पॉल[1] द्वारा

---

१ सन् १८७९ के ईस्टर मे दिया व्याख्यान "भारत पूछता है, ईसा कौन है ?"

" मेरा ईसा, मेरा प्यारा ईसा, मेरे हृदय का सबसे उज्ज्वल रत्न, मेरी आत्मा का हार—मैंने बीस वर्ष तक उसे अपने इस अभागे हृदय मे स्थान दिया है।"

जनवरी १८७९, व्याख्यान : 'क्या मैं भगत्प्रेरित पैगम्बर हूँ ?'

"वह क्या वस्तु है जिसने मुझे अपने बाल्यकाल मे वह विशेषता प्रदान की थी ? भगवान् ने मुझे उन दिनो तीन अत्यन्त असाधारण व्यक्तियो के सपर्क में रखा था। मेरी आत्मा के वे सबसे पहले परिचित व्यक्ति हैं। मुझे उन तीन गौरवशाली व्यक्तियो से—जो कि स्वर्गीय हैं, निहायत शानदार है, और ईश्वरीय प्रकाश से पूर्ण हैं—मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। (पहले) मैंने जॉन दि बैप्टिस्ट को भारतवर्ष के सुनसान जगल मे से गुजरते देखा, वह कह रहा था 'पश्चात्ताप करो, स्वर्ग का राज्य तुम्हारे निकट ही है। मैं जॉन दि बैप्टिस्ट के चरणो मे गिर पडा। वह चला गया, और फिर उससे भी बडा एक दूसरा पैगम्बर आया, वह नैजरेथ का पैगम्बर था

प्रभावित हुआ है । इसके अतिरिक्त, अपने अन्तरग शिष्य प्रताप मजूमदार[1] को लिखे एक गम्भीर गोपनीय पत्र मे, जो कि एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पत्र है, पर जिस पर गैरईसाई ब्रह्मसमाजियो ने कोई विशेष ध्यान नही दिया है, केशवचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि वह किस उत्सुकता के साथ उस उपयुक्त समय की प्रतीक्षा कर रहे थे जब कि वह ईसा मे अपने विश्वास की सार्वजनिक घोषणा कर सके । इतने दीर्घकाल तक केशव को जो एक प्रकार का दोहरा जीवन व्यतीत करना पडा, उसका आशिक कारण उनके चरित्र की मौलिक द्वैतता थी, क्योकि यह

' 'कल के लिए कुछ मत सोचो' ईसा के इन शब्दो ने मेरे हृदय मे हमेशा के लिए घर कर लिया । ईसा अभी अपने शब्द पूरे भी न कर पाये थे कि एक और पैगम्बर आये, और वह ईसा के दूत, शक्तिशाली, बहादुर, वीर प्रचारक पॉल थे ।' और उनके शब्द (ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे), मेरे जीवन की अत्यन्त नाजुक घडी मे एक जलती हुई अग्नि के समान मेरे ऊपर आये ।''

यहाँ यह लिखना उपयुक्त होगा कि उन्हे न्यू टैस्टामैंट का ज्ञान इग्लिश कालेज मे हुआ, जहाँ कि एक पादरी नवयुवको को ग्रीक से अनुवाद करके उसे सुनाया करते थे ।

१ इस पत्र मे, जिस पर कि कोई ठीक तारीख नही लिखी है, परन्तु जिसके बारे मे यह कल्पना करना युक्ति-सगत है कि यह पत्र उन्होने सन् १८६६ मे दिये अपने प्रसिद्ध व्याख्यान 'जीसस क्राइस्ट, योरोप और एशिया' के ठीक बाद मजूमदार को लिखा था, केशवचन्द्र ने इस प्रकार अपने विचारो की व्याख्या की है :

''. ईसा के सम्बन्ध मे मेरी अपनी धारणाएँ है, परन्तु मैं उन्हे तब तक उचित रूप मे प्रकट करने के लिए बाध्य नही हूँ जब तक कि देश की परिवर्तित परिस्थितियाँ उन्हे मेरे मन के अन्दर से धीरे-धीरे परिणत होकर बाहर न आने दे । ईसा और आत्मत्याग एक ही वस्तु है, और जिस प्रकार उसने उचित समय पर जीवित रहकर उसका प्रचार किया है, इसी प्रकार ठीक समय आने पर ही उसके सम्बन्ध मे भी प्रचार करना होगा । इसलिए मै धैर्यपूर्वक उस समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब कि मैं बूढा हो जाऊँगा और उसके साथ ही भारत मे ईसा के त्याग के धर्म की प्रतिष्ठा हो जायगी ।''

(मनिलाल सी० पारीख रचित ग्रथ का २६-३१ पृष्ठ देखिए) ।

उन दो सर्वथा परस्पर-विरोधी पूर्व और पश्चिम के तत्त्वों से मिलकर बना था जो कि आपस मे निरतर सघर्षरत थे। इसलिए एक इतिहास-लेखक के लिये निष्पक्ष अध्ययन अत्यन्त कठिन हो जाता है। हिन्दू जीवनी लेखको ने प्रायः अत्यन्त पक्षपातपूर्ण दृष्टि रखने के कारण उसके कार्य को सुगम बनाने की दिशा मे कुछ प्रयत्न नही किया है।[1]

ब्रह्मसमाज मे केशवचन्द्र का प्रवेश उनके एक सहपाठी, मित्र, देवेन्द्रनाथ टैगोर के पुत्र ने कराया था, और अपने प्रवेश के प्रथम दिनो मे युवक केशव को सभी प्यार से घेरे रहते थे। देवेन्द्रनाथ उन्हे बहुत चाहते थे, और ब्रह्मसमाज के सभी युवक सदस्य, जो कि महान् देवेन्द्रनाथ की अपेक्षा उन्हे अपना निकटवर्ती अनुभव करते थे, उन्हे दिल से स्नेह करते थे। देवेन्द्रनाथ न चाहते हुए भी अपनी शिक्षा और आदर्शवाद के कारण हिमालय के एक उच्च शिखर की निर्जनता में वास करते थे।[2] केशव के अन्दर एक सामाजिक भावना थी, जिसे वे सारे

---

१ लेखक इन इतिहासकारो के प्रति अपने विरोध व रोष को छुपाना नही चाहता। कारण, उनमे से प्राय. सभी की यह धारणा है कि इतिहास सामग्रियो का एक ढेर है, जिसमे से किसी को भी उन तथ्यो को चुन लेने की स्वतंत्रता है, जो कि उसके किसी वैयक्तिक लक्ष्य व आदर्श की पूर्ति करते हैं और उसके अतिरिक्त अन्य सब तथ्यो को नियमित रूप से दृष्टि से ओझल कर देने की खुली छूट है। (वैज्ञानिक सत्यनिष्ठा के प्रति उनकी उस अतिशय उदासीनता से यह पृथक् है जो कि प्रायः सभी हिन्दू इतिहासकारो का विशेष लक्षण है। यदि इधर-उधर कही दो-चार तारीखे संगृहीत हैं, तो यह एक बडा चमत्कार है : और पुन. यदि वह दी भी गयी हैं तो इतनी लापरवाही के साथ कि उन पर विश्वास कर सकना असंभव है।) केशव के व्यक्तित्व व उसके विकास के सम्बन्ध मे यह छोटा-सा वर्णन, उनके सम्बन्ध मे उन सब आवश्यक बातो की खोज के बाद, लिखा जाना उचित था, जिन्हें कि उनके सभी तथाकथित विश्वस्त जीवनी-लेखको ने या तो छोड ही दिया है, अथवा इस प्रकार तोड-मरोडकर विकृत रूप मे लिखा है कि उसके असली रूप को पहचानना भी कठिन हो गया है।

२ 'देवेन्द्रनाथ परमात्मा के साथ अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने मे इतना व्यस्त रहते थे कि वे सामाजिक दायित्व की पुकार को बहुत ही मामूली तौर पर सुन पाते थे।' (ठाकुर परिवार के एक मित्र के पत्र से उद्धृत)

हिन्दुस्तान मे जागृत कर देना चाहते थे। वे स्वभाव से एक अतिशय-व्यक्तिवादी (Hyper-individualist) थे। और नि.सदेह इसीलिए,[1] उन्होंने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया कि उनके देश की अनेक बुराइयो की जड यह अतिशय व्यक्तिवादिता ही है, और भारत को एक नवीन नैतिक चेतना ग्रहण करने की आवश्यकता है। 'सब आत्माओ को सामाजिक भावना के सूत्र मे बँध जाने दो, और जनसाधारण के साथ, दृश्यमान समाज के साथ, अपनी एकता अनुभव करने दो।' राय के कुलीन एकतावाद को आम भारतीय जनता से मिलाने वाली इस भावना ने ही युवक केशव को उदीयमान पीढी की प्रदीप्त आकाक्षाओ का साक्षी बना दिया था।" परवर्तीकाल मे विवेकानन्द के समान ही (विवेकानन्द केशव-चन्द्र के प्रति सभवत· अज्ञातरूप से ही पर्याप्त ऋणी है, कारण किसी विशेष युग मे स्वाभाविक रूप से ही कुछ विचारो का उद्भव होता है, और वह एक ही समय मे विभिन्न व्यक्तियो के मन मे उत्पन्न होते है) केशवचन्द्र जाति के पुनरुत्थान के लिए धर्म को आवश्यक समझते थे। सन् १८६८ मे उन्होंने बम्बई मे अपने एक व्याख्यान मे कहा था कि वे इसे 'सामाजिक सुधारो का आधार' बनाना चाहते हैं। अतएव ब्रह्मसमाज के अन्तर्गत धार्मिक सुधार कर्म मे फलीभूत होने वाले थे। इसीलिए केशव का कर्मठ—परन्तु किसी अश तक चचल हाथ भारत

---

१ उनके मुख्य शिष्य प्रतापचन्द्र मजूमदार कहते थे कि 'वे अपनी रहस्यवादी प्रकृति की उडानो के विरुद्ध निरतर सग्राम करते रहते थे, और उन्हे अपने वश मे करने मे भी सदा सफल होते थे' (यह कथन सर्वथा सत्य नही है), कारण उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य धर्म को परिवारो के मुखियाओ की पहुँच मे लाना था, 'दूसरे शब्दो मे उसे साधारण दैनिक जीवन मे पुन. प्रतिष्ठापित करना था।' उनके चरित्र मे जो विरोध देखे जाते हैं, उनमे यह भी एक कारण है, और यह उनके कार्यों मे भी प्रतिफलित है। वह परस्पर न मिल सकने वाली प्रवृत्तियो को—अपने स्वाभाविक रहस्यवादी आरोहो को और समाज की नैतिक व सामाजिक सेवा के लिये दिव्य प्रवाह के नियत्रीकरण को—अथवा पश्चिमीय रहस्यवाद की भाषा मे, जैसा कि योग्य हेनरी ड्रमण्ड ने विश्लेषण किया है, ईसा-केन्द्रिकता और मानव-केन्द्रिकता को परस्पर मिला देना चाहते थे। केशवचन्द्र मे यह दोनो भावनाएँ अधिकतम परिमाण मे विद्यमान थी। परन्तु उनकी वह समृद्ध प्रकृति, जो उन सब आध्यात्मिक भोजनो को ग्रहण करने के लिए अत्यन्त लचीली व ग्रहणशील थी, जो कि उनकी भूख को मिटाने के लिए उपस्थित किये जाते थे,

की भूमि मे कुछ मुट्ठी भर फलदायक बीजो को बोता हुआ दिखाई देता है।[1] बाद मे वही बीज विवेकानन्द ने अपनी प्रबल बाहु से अपनी मातृभूमि पर, जो कि उनकी गर्जना से पहले ही जागृत हो चुकी थी, खूब मुक्तहस्त से बोये हैं।

परन्तु केशव अपने समय से पहले आ गये थे। उनके कुछ सुधार ब्रह्म-समाज की परम्परागत भावना के भी प्रतिकूल थे। साधारणतया यह समझा जाता है कि उनके व देवेन्द्रनाथ के बीच मतभेद का कारण अन्तर्जातीय विवाह का प्रश्न था, परन्तु मैं निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि इससे कही अधिक महत्त्वपूर्ण और भी कारण थे। उनके पारस्परिक स्नेह ने उनके विच्छेद के कारणो पर एक पर्दा डाल दिया है, परन्तु उसके तत्काल बाद जो घटनाएँ घटित हुई हैं, उनसे उनका अन्दाजा लगाया जा सकता है। देवेन्द्रनाथ का हृदय ब्रह्मसमाज के द्वारा मनुष्य-जाति की एकता सम्पादित करने के महान् आदर्श के लिये चाहे कितना भी उदार क्यो न हो, परन्तु वे भारतीय परम्परा और धार्मिक ग्रन्थो के अत्यन्त अनुरक्त थे।[2] वे अपने प्रिय शिष्य के मन मे कार्य करते हुए ईसाई धर्म

उन्हे एक जीवित विरोधाभास बनाये रखती थी, क्योकि उनकी भूख उनकी पाचन-शक्ति से कही अधिक थी। कहा जाता है कि कालेज मे पढते हुए उन्होंने शेक्सपीयर के नाटक के अभिनय मे 'हैमलेट' का पार्ट अदा किया था, परन्तु वास्तव मे वे अपने जीवन के अन्त तक डेनमार्क के युवक राज-कुमार ही बने रहे।

केवल कल्पना मे ही। व्यवहार मे केशवचन्द्र जनसाधारण को प्रभावित करने मे कभी सफल न हो सके। उनके विचार मे भारतीय विचार तत्त्वो का समावेश बहुत कम था।

१ जनसाधारण की सेवा के लिए केशवचन्द्र ने अनेक जनहितकारी सस्थाओ की स्थापना की, जो इस प्रकार हैं : रात्रि पाठशालाएँ, औद्योगिक विद्यालय, कलकत्ता कालेज, भारतीय नारियो के लिए नार्मल स्कूल, नारी सहायक समिति, भारतीय समाज-सुधार समिति, सद्भावना-भ्रातृ-सघ एव अनेक समाज, इत्यादि।

२ बी० मजूमदार ने कहा था : 'देवेन्द्रनाथ का ब्रह्मसमाज कल्पना मे समन्वय-वादी होने पर भी वास्तविक रूप मे विशुद्ध हिन्दू समाज था।' मेरे मित्र कालिदास नाग ने, जिसके टैगोर-परिवार से मित्रता का सम्बन्ध है, मुझे लिखा था देवेन्द्रनाथ, क्रातिकारी परिवर्तनो को सहन न कर सकते थे। उन्होंने पश्चिम के साथ पूरा न्याय किया है, और फैनेलन, फीश्ट एव

के प्रभाव से अनभिज्ञ न हो सकते थे, और कितनी ही वैयक्तिक हानि उठाकर भी वह एक ऐसे सहयोगी के साथ कार्य न कर सकते थे, जिसकी शिक्षाएँ न्यू टैस्टामेण्ट पर अवलम्बित थी।

सन् १८६६ मे उनका यह घातक विच्छेद हुआ, और ब्रह्मसमाज मे एक नये दल की सृष्टि हुई। देवेन्द्रनाथ आदि ब्रह्मसमाज (पहली ब्रह्मसमाज)[1] की तरफ रहे और केशव अखिल भारतीय ब्रह्मसमाज की स्थापना करने के लिये पृथक् हो गये। दोनो ही व्यक्तियो के लिये वह एक कठिन परीक्षा थी, किन्तु विशेषत. केशव के लिये, जिनकी प्रचलित विश्वासो की निन्दा ने उन्हे घृणा का पात्र बना दिया था। इसका उन्हे पहले कोई आभास न था। विच्छेद के तीन मास बाद अपनी लोकप्रियता एव अपने विश्वस्त मित्रो के उत्साहपूर्वक समर्थन से शक्ति सचय करके उन्होंने अपने 'ईसामसीह, योरोप और एशिया'[2] पर दिये प्रसिद्ध व्याख्यान मे एक सार्वजनिक घोषणा की। उक्त घोषणा मे उन्होंने ईसा को स्वीकार किया—परन्तु एक एशियावासी ईसा को, जिसे कि योरोप नहीं समझ सकता था, पर जो "उस समस्त शानोशौकत से विभूषित था जिसकी कि एशियाई प्रकृति कल्पना कर सकती है।" उनका ईसाई धर्म मुख्यतया एक नैतिक प्रश्न था। केशव, ईसा की नैतिकता एव क्षमा और बलिदान के उनके दो मुख्य सिद्धान्तो द्वारा उनकी

विक्टर कुजन की बडी प्रशसा की है। परन्तु वे उन्मत्त उत्साह के आक्रामक प्रदर्शनो को सहन नही कर सकते थे। केशव एक उन्मत्त उत्साही थे, जो कि अपने शिष्यो का भारत की सामाजिक बुराइयो के विरुद्ध एक सच्चे धर्मयुद्ध मे नेतृत्व करना चाहते थे।'

१ देवेन्द्रनाथ के सक्रिय-जीवन से अवकाश प्राप्त करने से कुछ समय पहले ही यह घटना हो गई थी। वे अपनी पसन्द से चुने हुए कलकत्ता के समीप बोलपुर नामक स्थान मे रहने के लिए चले गये, जिसे उन्होंने 'शाति निकेतन' (शाति का घर) की संज्ञा दी। यही पर उन्होंने अपना शेष जीवन एक सभ्रांतवशीय पवित्रता के वातावरण मे व्यतीत किया, और सन् १६०५ मे अपने राजकीय उत्तराधिकारियो के मध्य एक पिता के समान उनका स्वर्गवास हुआ।

२ यह स्पष्ट है कि केशव से विच्छेद होने से पूर्व ही देवेन्द्रनाथ इस निकट भावी स्वीकृति से अवगत थे। उन दिनो केशव ईसाई धर्म के गभीर अध्ययन मे लीन थे और विशेषत: सीले की Ecce Homo नामक पुस्तक, जो कि उन दिनो अत्यन्त प्रचलित थी, पढने मे व्यस्त थे।

तरफ आकृष्ट हुये थे। उनकी धारणा थी कि इन सिद्धान्तो द्वारा और ईसा के द्वारा "योरोप और एशिया एकता और मिलाप का मार्ग ढूंढ सकते हैं।"

एक नवदीक्षित के समान उनका उत्साह इतना प्रवल था कि वे अपने मित्रो से अपने आपको 'यीशुदास' या ईसा का सेवक कहकर पुकारने का आग्रह करते थे, और उन्होंने अपने कुछ अन्तरग मित्रो के बीच उपवास के साथ क्रिसमस का त्योहार मनाया।

परन्तु उनके उपर्युक्त व्याख्यान से उनकी लोक-निन्दा फैल गई, और 'महापुरुषो'[1] (१८६६) के सम्वध मे उनके एक दूसरे व्याख्यान से भी अवस्था मे कुछ सुधार न हो सका। इस व्याख्यान मे उन्होंने ईसा की गणना ईश्वर की वाणी के सदेशवाहको की श्रेणी मे की, जिनमे से प्रत्येक को एक सन्देश-विशेष सौंपा गया था, और जिन्हे किसी एक के साथ विशेष आसक्ति के विना समान रूप से स्वीकार करना उचित है। उन्होंने अपने उपासना-मन्दिर का द्वार सव देशो व सव युगो के मनुष्यो के लिए उन्मुक्त कर दिया, और पहली वार व्रह्मसमाज के प्रयोग मे आने वाले उपासनाग्रथ मे वाइविल, कुरान और ज़ेन्दावस्ता[2] से कुछ अश उद्धृत किए। परन्तु इससे सर्वसाधारण का कोप कम होने के स्थान पर और प्रवल हो गया।

केशव इससे विचलित हुए विना न रह सके। उनका अनुभूति-प्रवण एव असहाय हृदय लोक-निन्दा से इतना पीड़ित हुआ जितना कि वह किसी भी अन्य प्रकार की उपेक्षा से न होता। उनके सम्वध मे जनसाधारण की भ्रान्त धारणा, सहयोगियो का दलत्याग, गुरुतर आर्थिक असुविधाएँ, और इन सवसे वढकर अपने आत्म-विवेक का उत्पीडन, और शायद अपने आदर्श के प्रति सन्देह, भी इन सवने मिलकर उनके अन्दर "दुर्वलता, पाप और प्रायश्चित्त की एक जीवित भावना को", जो कि अन्य हिन्दू धार्मिक आत्माओ से सर्वथा भिन्न उनकी एक

---

१ यह एक ध्यान देने योग्य वात है कि केशवचन्द्र ने अपने यौवन-काल मे जो ग्रन्थ पढे थे, उनमे से कार्लाइल और इमर्सन के ग्रथो ने उन्हे जितना प्रभावित किया उतना और किसी लेखक के ग्रन्थों ने नही किया।

२ यह ग्रथ जिसका नाम "श्लोक सग्रह" (१८६६) है, देवेन्द्रनाथ के 'व्राह्म-धर्म' नामक ग्रथ से वहुत वडा है, परन्तु 'व्राह्म-धर्म' के मुकावले मे इसका प्रचार वहुत कम हुआ है। तथापि जव केशव ने यह कहा है कि "व्राह्मसमाज का असली उद्देश्य विभिन्न धर्मों मे संगति स्थापित करना है" तव उन्होंने राय की सच्ची परम्परा का ही पालन किया है।

अपनी ही विशेषता थी, और भी पुष्ट कर दिया। एक विनाशात्मक आत्मिक सकट[1] उपस्थित हो गया, जो कि सन् १८६७ के अन्त तक कायम रहा। इस दु ख के समय मे वे सर्वथा अकेले थे, किसी प्रकार की वाह्य सहायता उन्हे प्राप्त न थी, केवल भगवान् ही उनके साथ थे। परन्तु परमात्मा ने उनके साथ वार्तालाप किया। उस वर्ष जब कि वे विरोधी भावो के अन्तर्द्वन्द्व से छिन्न-भिन्न हो रहे थे, और अपने परिवार मे दैनिक प्रार्थनाओ मे स्वय पुरोहित का कार्य करते थे, भगवान् ने न केवल उनके विचारो मे ही, अपितु उनकी वाह्य-अभिव्यक्ति मे भी पूर्ण परिवर्तन ला दिया। अब तक वे धार्मिक वुद्धिवादियो के सेनापति, एक नीतिवादी थे, पर भावात्मक आवेशो से सर्वथा अपरिचित, बल्कि उन्हे घृणा की दृष्टि से देखते थे। परन्तु अब भावो की एक धारा ने—प्रेम और आँसुओ—ने उन्हें आप्लावित कर दिया और उन्होंने महानन्द के बीच अपने-आपको इस प्लावन मे समर्पण कर दिया।

ब्रह्मसमाज के लिए एक नवयुग का उषाकाल था। महाभक्त चैतन्य के रहस्यवाद और संकीर्तन को ब्रह्मसमाज धर्ममन्दिर के अन्दर प्रवेश कराया गया। प्रात काल से लेकर रात्रि समय तक, वैष्णव सगीत वाद्यो के साथ प्रार्थनाएँ व स्तोत्रो का पाठ और भगवान् का महोत्सव[2] होने लगा। और वे केशव, जिनके बारे मे यह कहा जाता था कि वे कभी न रोये थे, अश्रुप्लावित मुख के साथ—उन सब आयोजनो मे पुरोहित का कार्य करते थे। भाव तरगे हिलोरे लेने लगी। केशवचन्द्र की हार्दिकता, उनके विश्व-एकता के बोध, और उनकी जनकल्याण की भावना ने उनके प्रति भारत और इगलैड के सभी मनीषियो की सहानुभूति उत्पन्न कर दी। तात्कालिक वायसराय भी उनसे आकृष्ट हो

१ प्रतापचन्द्र मजूदार ने 'केशव' के अन्दर इस 'पाप-भावना' को लक्ष्य किया था। देवेन्द्रनाथ, रामकृष्ण, और सर्वोपरि विवेकानन्द की भावना के यह सर्वथा विरोधी है। हम आगे देखेंगे कि विवेकानन्द इस भावना की घोर निन्दा किया करते थे। वे कहते थे कि यह एक मानसिक दुर्वलता, या वास्तविक मानसिक व्याधि का लक्षण है, और इसके लिए ईसाई धर्म को दोषी ठहराते थे। केशव नियमित रूप से जिस मानसिक अवस्था से गुजर रहे थे, उसकी परिणति उनके सन् १८८१ के उपदेश 'हम नवविधान के प्रचारकगण' मे हुई है। इसमे उन्होंने जूडास के साथ अपनी तुलना की है, जिसे सुनकर सभी श्रोतागण विक्षुब्ध हो गये थे।

२. यह ध्यान देने योग्य है कि इस अवसर पर ईसा का कोई प्रश्न नही रहा।

गये। सन् १८७० मे उनकी इगलैंड यात्रा एक विजय-यात्रा के समान थी। उन्होंने जिस उत्साह को जागृत किया, वह कौसेथ[1] द्वारा प्रेरित उत्साह के समान था। अपने छः महीने के इगलैंडवास[2] मे उन्होंने ४०,००० श्रोताओ की सत्तर सभाओ मे व्याख्यान दिये, और अपनी सरल अग्रेज़ी भाषा एव मधुर स्वर से श्रोताओ को मन्त्रमुग्ध कर दिया। ग्लैडस्टन से उनकी तुलना की जाने लगी। पश्चिम का आध्यात्मिक सहयोगी और पूर्व मे ईसा का सदेशवाहक कहकर उनका स्वागत किया गया। परन्तु दोनो ही पक्ष सरल भाव से एक भ्रान्ति के वशवर्ती होकर कार्य कर रहे थे, जिसका आगामी कुछ वर्षो मे दूर होना अवश्य-भावी था। कारण, केशव अपने हृदय के अन्तरतम में एक भारतीय ही थे और योरोपियन ईसाइयो की पक्ति मे अपनी गणना कराना उनके लिए सभव न था। इसके विपरीत वे यह सोचते थे कि वे योरोपियन ईसाइयो को अपने पक्ष मे कर लेंगे। सरकार[3] की सद्भावना से भारत तथा ब्रह्मसमाज दोनो को ही लाभ हुआ। अपने पुनः सगठित रूप में चारो तरफ शिमला, बम्बई, लाहौर, लखनऊ, मुगेर आदि मुख्य शहरो मे इसका प्रसार हो गया। सन् १८७३ मे केशव ने इस नवीन धर्म के भाई-बहिनो मे एकता-स्थापन करने के उद्देश्य से सारे भारतवर्ष की यात्रा की। उनकी यह यात्रा उनके बीस वर्ष बाद एक सन्यासी के वेष मे की गई विवेकानन्द की सत्यान्वेषण-यात्रा की अग्रदूतिका के समान थी। इस यात्रा ने उनके मानसिक क्षितिज को और विस्तृत कर दिया, और वे सोचने लगे कि

चैतन्य की भक्ति केशव के धर्म का एक और पहलू है। पी० सी० मजूमदार ने लिखा है, "इस प्रकार केशवचन्द्र अपने जीवन के स्वतन्त्र द्वार पर एक तरफ ईसा और दूसरी तरफ चैतन्य की छाया होकर खडे थे।" उनके शत्रुओ ने सन् १८६४ में इस बात को लक्ष्य किया, और उनमे से कुछ ने विद्वेषवश रामकृष्ण से शिकायत की कि केशव अपने-आपको "ईसा और चैतन्य का आशिक अवतार" कहता है।

१ आस्ट्रिया के विरुद्ध हगरी के राष्ट्रीय आदोलन के विख्यात नेता लूइस कौसेथ, जीवन-काल (१८०२ से १८९४)।

२ ग्लैडस्टन, स्टुअर्ट मिल, मैक्समूलर, फ्रैंसिस न्यूमैन, डीन स्टैनले आदि से उन्होंने व्यक्तिगत परिचय प्राप्त किया था।

३ विशेषत. कुछ समाज-सुधारो के सम्बन्ध मे। उनमे से ब्राह्म विवाहो को कानून-सम्मत ठहरानेवाला, एक वह कानून था, जो कि सीधा ब्रह्मसमाज से सम्बन्ध रखता है।

उन्होंने उस जनप्रिय अनेकेश्वरवाद की, जो ब्रह्मसमाज के लिए अत्यन्त घृणास्पद वस्तु है, कुजी प्राप्त कर ली है, और वे इस अनेकेश्वरवाद तथा विशुद्ध एकेश्वरवाद मे मेल स्थापित कर सकते हैं। रामकृष्ण ने भी ठीक इसी समय स्वाभाविक रूप से यह मेल सम्पादित किया था, परन्तु केशव ने उसे ही सपादित करने लिए एक प्रकार की बौद्धिक सुलह की भावना का प्रयोग किया*। वे अपने आपको विश्वास दिलाते थे (परन्तु अनेकेश्वरवादियो को विश्वास दिलाने मे असमर्थ रहे) कि उनके भगवान् मूलत. एक ही भगवान् के विभिन्न गुणो के नाम के अतिरिक्ति और कुछ नही हैं।

उन्होंने 'सडे मिरर'[1] पत्र मे लिखा था कि "उनकी (हिन्दुओ की) मूर्ति-पूजा मूर्तरूप धारण किए हुए ईश्वरीय गुणो की पूजा के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नही है। यदि इस मूर्त रूप का त्याग कर दिया जाय तो जो शेष रह जाता है, वह एक सुन्दर प्रतीक है हमने यह जान लिया है कि प्रत्येक मूर्ति, जिसकी कि हिन्दू पूजा करते हैं, ईश्वर के किसी गुणविशेष का प्रतिनिधित्व करती है, और प्रत्येक गुण को किसी विशेष नाम से पुकारा जाता है। नवधर्म मे विश्वास रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को उन समस्त गुणो के एकमात्र अधिकारी एक ईश्वर की पूजा करनी चाहिए,—जिन गुणो का हिन्दुओ ने असख्य अथवा तैंतीस करोड देवताओ मे प्रतिनिधित्व दिखलाया है। भगवान् को उसकी प्रकृति के विभिन्न पहलुओ से पृथक् करके एक अखण्ड ईश्वर के रूप मे विश्वास करना निर्गुण (Abstiact) ईश्वर मे विश्वास करना है, और यह विश्वास हमे व्यावहारिक बुद्धिवाद एव नास्तिकता की तरफ ले जाएगा। यदि हम उसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति के रूप मे ईश्वर की पूजा करना चाहते हैं तो हम उसके एक गुण को लक्ष्मी, एक को सरस्वती और एक को महादेव आदि, आदि की सज्ञा देते हैं।"

इसका यह अभिप्राय था कि धार्मिक एकत्वबोध मे हमने एक बडा कदम आगे बढाया है, क्योकि यह मनुष्य-जाति के एक वृहत्तर भाग से सम्बद्ध था। परन्तु इससे कुछ लाभ न था, कारण, केशव यह चाहते थे कि सारी असली शक्ति उनके एकेश्वरवाद के हाथ मे रहे, और अनेकेश्वरवाद को बाह्य आदर के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त न हो। दूसरी तरफ वह विशुद्ध अद्वैतवाद व निर्गुण

---

* इस खण्ड के अन्त मे नोट न० २ देखिए—प्रकाशक

१ अगस्त १, १८८० The Philosophy of Idol worship (मूर्तिपूजा का दर्शनशास्त्र)।

एकेश्वरवाद से भी बचते रहे, जो कि ब्राह्मवर्ग के लिए सर्वथा निषिद्ध था। इसका परिणाम यह हुआ कि धार्मिक बुद्धि को सम्पूर्ण रूप से विभिन्न धर्म-विश्वासो के दो विभिन्न शिविरों को पृथक् करनेवाली मध्यवर्ती प्राचीर का आश्रय लेना पडा। उस समय विद्यमान परिस्थिति एक शान्त संतुलन की अवस्था न थी, और जिस अवस्था मे केशव ने अपने-आपको रखने का आग्रह किया, वह एक स्थायी अवस्था न हो सकती थी। केशवचन्द्र का विश्वास था कि परमात्मा ने उन्हे उस स्थान से ही अपने (परमात्मा के) नव प्रकाशित विधान व नवधर्म की घोषणा करने का कार्य सौंपा है। सन् १८७५ मे[1] ही केशव ने इसकी घोषणा प्रारम्भ कर दी, जिस वर्ष कि वे रामकृष्ण के सपर्क मे आये।

अनेक अन्य स्वनिर्वाचित कानून-निर्माताओ के समान वह अपने ही मन मे नियम व व्यवस्था करने मे कठिनाई अनुभव करने लगे, विशेषत जबकि वह यह चाहते थे कि उनका नियमविधान सर्वग्राही हो, और उसमे ईसा और ब्रह्म, बाइबिल और योग, धर्म और तर्क सभी का समावेश हो। रामकृष्ण बहुत ही सरल तरीके से अपने हृदय के अन्दर से ही उस स्थिति पर पहुँच गये थे और उन्होंने अपनी खोज को किन्ही सिद्धान्तो व आदेशो के सीमित शरीर मे आबद्ध नही किया था। वे पथ दिखाकर, उदाहरण उपस्थित करके, और प्रोत्साहन देकर ही सतुष्ट थे। परन्तु केशव ने एक तरफ तुलनात्मक धर्म-अध्ययन-विद्यालय के अधिष्ठाता बुद्धिवादी योरोपियन विद्वान् के उपायो, और दूसरी तरफ भारत और अमेरिका के भगवत्प्रेरित व्यक्तियो के उपायो—अश्रु-विलगित भक्ति, प्रचार-भ्रमण, एवं स्वीकारोक्तियो का आश्रय लिया।

उन्होंने अपने प्रत्येक प्रिय शिष्य को एक पृथक् धर्म[2] के सम्बन्ध मे अध्ययन

---

१. 'भारत मे स्वर्ग का प्रकाश देखो' वक्तृता मे। नव धर्म की घोषणा २५ जनवरी सन् १८८० को की गई थी।—प्रकाशक

२ उनके चार चुने हुए शिष्यो मे से प्रत्येक ने चार महान् धर्मों मे से एक धर्म के अध्ययन को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया, और किन्ही अवस्थाओ मे वे अपने आलोच्य विषय मे सर्वथा लीन हो गये। उपाध्याय गौर गोविन्दराय को हिन्दू-धर्म के अध्ययन का कार्य सौंपा गया था, उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण स्मरणीय पुस्तक गीता का संस्कृत मे भाष्य किया है, और श्रीकृष्ण की जीवनी लिखी है। साधु अघोरनाथ ने बौद्ध-धर्म का अध्ययन किया, और बगाली मे बुद्ध का जीवन-चरित्र लिखा। यौवनावस्था मे ही उनकी अकाल मृत्यु हो गई, परन्तु जब तक भी वे जीवित रहे, बुद्ध के पदचिह्नो का अनु-

और एक पृथक् यौगिक साधना का आदेश दिया। अपने शिष्यों में प्रत्येक को अपनी व्यक्तिगत विशेषता के अनुसार किस धर्म का अध्ययन, व कौन-सी साधना सबसे अधिक उपयोगी होगी, इसके निर्वाचन मे ही एक शिक्षक के रूप मे केशवचद्र की निपुणता देखी जा सकती है। परतु वे स्वय अपने दो परा-मर्शदाताओ के बीच, जोकि उन्हे समान रूप से प्रिय थे—दोलायमान थे। एक तरफ रामकृष्ण का जीवित उदाहरण था, जिनके पास वे समाधि के बारे मे निर्देश प्राप्त करने के लिए जाते थे, दूसरी तरफ ल्यूक रिविग्टन नामक एक ऐंग्लिकन सन्यासी थे (जो बाद मे रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये थे) जिनसे वे ईसाई धर्म की शिक्षा प्राप्त करते थे। वे भागवत जीवन और सासारिक जीवन मे से उनके लिए कौन-सा श्रेयस्कर है, इसका कभी निर्णय न कर सके, और निष्कपट सरलता के साथ यह सोचते रहे कि इनमें से एक का दूसरे के लिए हानिकारक होना आवश्यक नही है।[1]

परन्तु उनके मन की इस अस्पष्टता ने उन्हे पर्याप्त हानि पहुँचाई और ब्रह्मसमाज पर उसका और भी अधिक प्रतिकूल प्रभाव हुआ। कारण उनका अतर दर्पण के समान स्वच्छ था,[2] और उन्होंने अपने स्वभाव की परिवर्तन-

---

सरण करते रहे। भाई गिरीशचन्द्र ने इस्लाम के अध्ययन मे अपना जीवन लगाया—उन्होंने कुरान का अनुवाद किया, मुहम्मद की जीवनी लिखी, और अरबी व फारसी मे कुछ अन्य ग्रथो की रचना की। अतिम प्रतापचद्र मजूमदार ने ईसाई धर्म के अध्ययन मे मन लगाया और उन्होने Oriental Christ (पूर्वी ईसा) नामक पुस्तक लिखी। वे उसकी आध्यात्मिकता से इतने परिपूर्ण थे कि उन्होंने जिस विचारधारा को जन्म दिया, उससे मनी-लाल सी० पारीख जैसे सच्चे भारतीय ईसाई उत्पन्न हुए।

१ सन् १८५७ की प्रथम जनवरी के बाद जब उन्होंने आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधारण विधान नामक नई पद्धति का प्रारम्भ किया तो उन्होंने अपने शिष्यो की विशेषता के अनुसार उनकी साधना के मार्गों (योगो) को भी परिवर्तित कर दिया। किसी को भक्तियोग, किसी को ज्ञानयोग एव किसी को राजयोग का उपदेश दिया। भगवान् के विभिन्न नामो व गुणो के साथ उसकी उपासना के भिन्न रूप सम्बद्ध किए। (देखिए पी० सी० मजूमदार) इस पुस्तक के द्वितीय खण्ड मे हिंदू रहस्यवाद, और विभिन्न प्रकार के योगो की आलोचना के प्रसग मे मैं इस विषय मे विशेष आलोचना करूँगा।

२ उनके रामकृष्ण जैसे हितचिंतक भी यह आलोचना किए बिना न रह सके कि

शीलता और वहुरूपता को गुप्त रखने से लिए मामूली सतर्कता से भी काम नही लिया। फल यह हुआ कि सन् १८७८ मे ब्रह्मसमाज में एक और दल की सृष्टि हो गई, और केशव अपने ही साथियो के आक्रमण का निशाना वन गये। उन्होंने उन पर अपने सिद्धांतो के प्रति विश्वासघात का दोषारोपण किया। उनके अधिकाश मित्रो ने भी उनका साथ छोड दिया। और इसके फलस्वरूप उन्हे रामकृष्ण और पादरी ल्यूक रिविंग्टन जैसे कुछ वफादार मित्रो के आश्रय मे ही शरण लेनी पडी। इसके अतिरिक्त इस नयी परीक्षा ने ईसाई धर्म के प्रति उनकी स्वीकारोक्तियो के सम्पूर्ण प्रवाह के लिए द्वार उन्मुक्त कर दिया, जो कि धीरे-धीरे अधिकाधिक सुस्पष्ट एव ईसाई धर्म के गभीरतम आध्यात्मिक शास्त्र के अनुसार प्रकट होने लगी। इस प्रकार उन्होंने 'क्या मैं एक भगवत्प्रेरित पैगम्बर हूँ ?' शीर्षक अपनी वक्तृता मे जॉन दी वैप्टिस्ट, ईसा और सेण्ट पॉल के सम्बन्ध मे अपने वालसुलभ स्वप्नदर्शन का वर्णन किया, और अपनी 'भारत पूछता है कि ईसा कौन है ?' (सन् १८७९) शीर्षक वक्तृता मे उन्होंने भारत-वासियो के समक्ष घोषणा की, "वह वर 'मेरा ईसा, मेरा प्यारा ईसा, भगवान् और मनुष्य का पुत्र ईसा।"[1] आ रहा है, और 'क्या भगवान् अपने आपको अकेला ही प्रकट करते हैं ?[2] वक्तृता मे वे कहते हैं कि पुत्र पिता के दाहिनी तरफ वैठा है।

इस सत पुरुष ने अपनी मृत्यु के वाद अपने कार्यों व समृद्ध घर को ठीक हालत मे छोडा है। केशव सामाजिक आनन्दोत्सवो मे वरावर शरीक होते थे, व अन्य मनोरजन के साधनो तथा अपने घर मे खेले जाने वाले नाटको मे भी सक्रिय भाग लेते रहे। (रामकृष्ण चरितामृत, अप्रैल, १८८४)। परतु रामकृष्ण ने उनकी हार्दिक सच्चाई पर कभी सदेह नही किया। वह सर्वथा असदिग्ध थी। उन्हे यही खेद था कि ऐसा धार्मिक व गुण-सपन्न व्यक्ति भगवान् के आधे मार्ग पर ही पहुँच सका, वह अपने आपको सर्वात्मतः भगवदर्पित न कर सका।

१ यह एक घरेलू प्रसग था। केशव ने अपनी कन्या का विवाह ब्राह्मसमाज द्वारा निर्दिष्ट आयु से पूर्व, एक महाराजा के साथ कर दिया था। परन्तु यहाँ भी देवेन्द्रनाथ से मतभेद की तरह कारण गुप्त ही था। एक तृतीय ब्रह्म-समाज—साधना ब्रह्मसमाज की स्थापना की गई, जो कि अत्यन्त सकीर्ण तथा निश्चित रूप से ईसाईयत का विरोधी था।

२. "मेरा प्रभु ईसा...भारत के नवयुवको! ..विश्वास करो और स्मरण

परन्तु इन सब घोषणाओ को करते हुए भी, उसी समय ब्रह्मसमाज के जयन्ती उत्सव के अवसर पर वे हिमालय के उच्च शिखर से अपने 'भारतीय-धर्मबन्धुओ के नाम' अपना प्रसिद्ध पत्र (१८८०) लिखने से नही चूकते। उक्त पत्र मे वे रोमन कैथोलिक पोप के समान "नगर (रोम) और ससार"[1] u bı et Orbı—अर्थात् (रोम) शहर और ससार को सबोधित कर ईश्वर द्वारा सौंपे हुये नव धर्म के सन्देश की घोषणा करते हैं, जिसे सुननेवाला विश्वास कर सकता है कि ये बाइबिल के ही शब्द हैं।

"ऐ हिन्दुस्तान! सुनो, तुम्हारा स्वामी भगवान् एक है।"

इन शब्दो के साथ 'भारतीय बन्धुओ के नाम पत्र' का प्रारम्भ होता है।

"जेहोवा एक महान् आत्मा है, 'मैं जिसका वज्रनिर्घोष हूँ', आकाश और पृथ्वी जिसकी घोषणा करते हैं। ."

"प्रियतम बन्धुगण! सेण्टपाल का एक अयोग्य शिष्य होने पर भी मैं उन्ही की भावना और उन्ही की शैली मे यह पत्र आपको लिखता हूँ . "

"और आगे कहते हैं : "ईसा का पूर्णविश्वास करके ही पाल ने पत्र लिखा था। एक ईश्वरवादी होने के नाते मैं अपना यह तुच्छ पत्र न केवल एक पैगम्बर के, अपितु स्वर्ग और मर्त्यलोक के समस्त जीवित व मृत पैगम्बरो के चरणो मे बैठकर लिख रहा हूँ। "

कारण, वे अग्रगामी ईसा के सन्देश को पूर्ण करने का दावा करते थे।

रखो . वह आत्मत्याग के रूप मे, तपस्या के रूप मे, और यौगिक साधना के रूप मे तुम्हारे पास आवेगा वह आ रहा है . प्रियतमा भारतभू को अपनी समस्त अलकार-भूषा से भूषित होकर उसका स्वागत करना चाहिये।"

'दी इण्डियन मिरर' पत्रिका मे उन्होंने एक लेख मे पुन. घोषणा की है : "आज से बारह वर्ष से भी अधिक समय पूर्व ब्रह्मसमाज ने जिस प्रकार ईसा की नैतिकता को प्रकट किया था, आज भी उसी श्रद्धा के साथ वह उसके ईश्वरत्व को प्रकट करता है।" (अप्रैल २०, १८७९)

और पुन. "क्या केवल मूसा का ही धर्म ? सम्भवत. हिन्दू-धर्म भी। भारतवर्ष मे वह हिन्दू-धर्म को ही सफल करेगा।"

१ यह व्याख्यान एक दूसरे व्याख्यान के शेष अश के रूप मे दिया गया है, जिसका शीर्षक है 'उन्नीसवी शताब्दी मे भगवान्-दर्शन', इस वक्तृता मे स्वर्ग-मर्त्य को एक कर देनेवाले स्वामी विवेकानन्द के अग्रदूत के रूप मे केशवचन्द्र ने विज्ञान की प्रशसा की थी।

"नव धर्म ईसा की भविष्यवाणी की ही पूर्णता है।. .सर्वशक्तिमान् भगवान् ने जिस प्रकार पहले अन्य राष्ट्रो को अपना सन्देश दिया है,[1] उसी प्रकार वह आज तुम्हें अपना सदेश देता है।..."

इस क्षण केशवचन्द्र यह भी विश्वास करते थे कि जिस तत्त्व से भगवान् की आत्मा का निर्माण हुआ है, वह भी उसी से बने हैं।

"भगवान् की आत्मा और मेरी आन्तरिक सत्ता परस्पर ओतप्रोत है। तुमने यदि मुझे देखा है, तो उसे भी देख लिया है।. " तो, केशव जिस सर्व-शक्तिमान् की कण्ठध्वनि हैं, वह क्या घोषणा करते है ? किम "नवीन प्रेम, नई आशा, नव आनन्द को वह साथ लाये हैं ?" ("विधाता का यह नया सदेश-वाहक कितना मधुर है ?")

भारत के भगवान् के रूप मे जेहोवा ने इस नूतन मूसा को जो आदेश दिया, वह इस प्रकार है —

"वह असीम आत्मा जिसे चक्षु देख नही सकते, कान सुन नही सकते, वही तुम्हारा भगवान् है, उसके अतिरिक्त तुम्हारा और कोई भगवान् नही है। इस सर्वोच्च भगवान् के विरुद्ध भारतीयो ने दो कृत्रिम देवताओ की रचना की है— एक देवता वह है जिसकी अज्ञानी पुरुपो ने स्थापना की है, और दूसरा देवता वह है, जिसकी बुद्धिवादियों के निरर्थक स्वप्नों ने सृष्टि की है, परन्तु वे दोनो ही हमारे भगवान् के शत्रु हैं।[2] इन दोनो का ही तुम्हे आवश्यक रूप से त्याग करना होगा किसी भी मृत वस्तु की, चाहे वह स्थूल प्रकृति हो, या मृत मनुष्य हो अथवा मृत विचार हो, उपासना मत करो, उस जीवित आत्मा की पूजा करो, जो बिना नेत्रो के देखता है .तुम्हारी आत्मा का परमात्मा तथा परलोक-गत सन्त-महात्माओ के साथ मिलन ही तुम्हारा सच्चा स्वर्ग है, इसके अतिरिक्त

---

१ "भारत मे स्वर्ग का प्रकाश देखो' (१८८५) शीर्षक उपदेश से तुलना कीजिए।

२. प्रथम देवता जिसकी निन्दा की है, उसे समझाना अत्यन्त सुगम है : धातु, काष्ठ व पत्थर की मूर्तियों से ही उनका अभिप्राय है। दूसरे निन्दित देवता का इस प्रकार आगे और स्पष्टीकरण किया है : "आधुनिक सन्देहवाद, भाववाद, जड विकासवाद एव जीवकणिका आदि।" इस प्रकार यह वैज्ञा-निक व तार्किक व अद्वैतिक बुद्धिवाद है। परन्तु केशव वास्तविक विज्ञान की कभी निन्दा न करते थे, जैसा कि 'उन्नीसवी शताब्दी मे भागवत्-दर्शन (१८७९), शीर्षक व्याख्यान से स्पष्ट है।

और कोई स्वर्ग नही है...आत्मा के आध्यात्मिक उल्लास मे ही स्वर्ग की पवित्रता एव आनन्द का अनुभव करो.. तुम्हारा स्वर्ग कही दूर नही है, यह तुम्हारे अन्दर ही अवस्थित है । तुम्हे देश व जाति का पक्षपात त्यागकर सब देशो व सब युगो के समस्त मानव-परिवार के प्राचीन सदस्यो—भविष्यद्रष्टाओ, सन्तो, शहीदो, ऋषि-मुनियो, धर्म-प्रचारको, व मानवहितैषियो का सम्मान करना चाहिये और उनसे प्रेम करना चाहिये । तुम्हारे स्नेह व श्रद्धा के ऊपर केवल भारतीय पवित्र आत्माओ का ही एकाधिकार न होना चाहिए । सभी पैगम्बरो को उनका उचित आदर तथा स्नेह प्रदान करो । प्रत्येक श्रेष्ठ और महान् व्यक्ति किसी महान् सत्य एव ईश्वरीय ऐश्वर्य के किसी विशेष अश का एक मूर्तरूप है । सभी स्वर्गीय सन्देशवाहको के चरणो मे पणाम करो । ..उनका रक्त तुम्हारा रक्त हो, उनका मास तुम्हारा मास हो !. उनके अन्दर वास करो, और वे सदा के लिये तुम्हारे अन्दर वास करेंगे ।

इससे सुन्दर कौन-सी कल्पना सभव है ? विश्वव्यापी एकेश्वरवाद की यह सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है, जो कि योरोप के स्वतन्त्र एकेश्वरवाद के अत्यन्त निकट पहुँच जाती है । इसके लिए किसी ईश्वर-प्रेरित धर्म के प्रति बाधित निष्ठा की आवश्यकता नही है । इसकी भुजाएँ समग्र विश्व की भूत, वर्तमान व भविष्यत्कालीन पवित्र आत्माओ के स्वागत के लिए फैली हुई हैं, क्योकि केशव का सन्देह भगवत्प्रेरणा का अन्तिम शब्द होने का दावा नही करता । भारतीय धर्मशास्त्र बद पुस्तकें नही है ।[1] प्रत्येक वर्ष उनमे नये अध्यायो की वृद्धि होती है .. ईश्वर के प्रेम और ज्ञान मे हमेशा आगे बढे चलो ! . भगवान् दस वर्ष के अन्दर हमे किस नये ज्ञान का प्रकाश देंगे, यह उसके सिवाय और कौन जान सकता है ?

परन्तु पिछले वर्ष केशव ने ईसा के चरणो मे बैठकर जिस हीनता को स्वीकार किया था, उसके साथ इस स्थिर व प्रशान्त कण्ठस्वर से उच्चारित स्वतन्त्र एव विशाल एकेश्वरवाद की सगति किस प्रकार लगायी जा सकती है ?[2]

"मैं तुम्हे कहना चाहता हूं. कि ईसा की जीवन-लीला से मेरा सम्बन्ध है, और मैं उसमे एक मुख्य स्थान रखता हूँ । मैं ही वह अपव्ययी पुत्र हूँ, जिसके सम्बन्ध मे ईसा ने कहा था, और पाश्चात्ताप की भावना के साथ अपने पिता के पास लौटने का प्रयत्न कर रहा हूँ । यही नहीं, मैं इससे भी बढकर अपने विरो-

---

१ इसमे विवेकानन्द के एक प्रिय विचार का परिचय मिलता है ।

२, "हम, नव धर्म के प्रचारकगण" (१८८१) शीर्षक धर्मोपदेश से ।

वियो के सतोष और उन्हें गौरव प्रदान करने के लिए कहूँगा. . . .मैं ही वह नीच, जूडास हूँ, जिसने ईसा के साथ द्रोह किया था .वास्तविक जूडास, जिसने सत्य के विरुद्ध पाप किया था। और ईसा मेरे हृदय के अन्दर अधिष्ठित है। . "

ब्रह्मसमाज के उन सदस्यो पर, जो कि अब तक अपने नेता का अनुसरण करते चले आ रहे थे, इस प्रकाश्य स्वीकारोक्ति की कितनी भयानक प्रतिक्रिया हुई, यह कल्पना के योग्य है।[1]

परन्तु केशव तब भी अपने साथ तर्क-वितर्क मे लीन थे। उन्होंने ईसा को स्वीकार कर लिया था, परन्तु वह अपने-आपको "ईसाई"[2] न मानते थे। उन्होंने ईसा, सुकरात और चैतन्य को अपने देह व मन का अश मानकर एक अद्भुत तरीके से ईसा के साथ सुकरात और चैतन्य का मेल कराने की चेष्टा की।[3] तथापि उन्होंने ईसाई धर्म के वाह्य धर्मानुष्ठानो को भारतीय आचार व प्रथा का रूप देकर अपने समाज मे प्रचलित किया। मार्च सन् १८८१ को

---

१ यही कारण है (जहाँ तक मुझे मालूम है) कि उन्होंने अपनी पुस्तको मे केशव के सम्वन्ध मे आलोचना करते हुए इस प्रकार की किसी स्वीकारोक्ति का वर्णन न करने की सतर्कता का प्रयोग किया है।

२ "ईसा का सम्मान करो, किन्तु सर्वसाधारण जिसे ईसाई कहते है, वह मत वनो। ईसा ईसाई धर्म नही है। . सकीर्ण ईसाई धर्म के जनप्रिय साधारण रूपो को छोड़कर ईसा की विशालता मे अपने-आपको लीन करने की आकाक्षा करो।"

इसी समय लिखे 'Other Sheep have I' (मेरे पास और भेडे भी हैं) नामक एक अन्य प्रवन्ध मे :—

"हम किसी ईसाई सम्प्रदाय से सम्वद्ध नही है। हम ईसाई नाम को स्वीकार नही करने। क्या ईसा के तत्काल परवर्ती शिष्यो ने अपने-आपको ईसाई नाम से पुकारा था ? जो भी ईश्वर मे विश्वास करते हैं, और ईसा को ईश्वर का पुत्र मानने हैं, वे सभी ईसा के साक्षी व अनुयायी हैं। . 'और मेरे पास और भी भेडे हैं'—यह वाक्य कितना सुस्पष्ट है। नव धर्म के हम सव सदस्य ही वह अन्य भेडे हैं। गडरिया हमे जानता है ईसा ने हमे ढूँढ लिया है और स्वीकार कर लिया है। यही यथेष्ट है। क्या कोई ईसा की अपेक्षा महत्तर है ?"

३ "प्रभु ईसा मेरी इच्छा-शक्ति है, सुकरात मेरा मस्तिष्क है, चैतन्य मेरा हृदय है, हिन्दू ऋषि मेरी आत्मा हैं, मानवप्रेमी हावर्ड मेरा दायाँ हाथ है।"

उन्होंने रोटी और शराब के स्थान पर चावल और जल के[1] द्वारा पुण्य अनुष्ठान (Blessed Sacrement) का सपादन किया, और तीन महीने बाद बपतिस्मा का अनुष्ठान किया, जिसमे केशव ने स्वयं ही पिता, पुत्र व पवित्र आत्मा की पूजा का दृष्टान्त उपस्थित किया।

अन्त मे सन् १८८२ मे उन्होंने निर्णयात्मक कदम उठाया। ईसाई धर्म के रहस्यो मे ईसाई त्रिसत्ता ही एशियावासियो के लिए सबसे बडी रुकावट और उनकी घृणा व उपहास का पात्र बनी हुई है।[2] केशव ने न केवल इसे स्वीकार किया और ग्रहण कर लिया, अपितु खुशी के[3] साथ उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा भी की और उससे ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया। ईसाई धर्म का यह रहस्य उन्हें समस्त ईसाई आध्यात्मिक शास्त्र की विशाल इमारत व विश्व की उत्कृष्टतम धारणा की आधारशिला के समान प्रतीत होता था, और यह अकारण ही नही था "यह वह खजाना है जिसमे ससार के समस्त पवित्र साहित्य का रत्न-भण्डार—(समस्त मानवता के) दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र व काव्यशास्त्रो मे जो अमूल्य वस्तु है, व ससार की धार्मिक चेतना की उच्चत्तम अभिव्यक्ति है—वह सब सचित है।" मेरा विश्वास है कि उन्होंने एक कट्टर दृष्टिकोण के अनुसार तीनो सत्ताओ का स्वरूप निर्देश भी किया है।[4] क्या अब भी कोई ऐसी वस्तु रह जाती है, जो उन्हे ईसाई धर्म से पृथक् करती है ?

---

१. केशव ने सेण्ट ल्यूक से एक श्लोक पढकर प्रार्थना की कि "पवित्र आत्मा उनकी अमार्जित भौतिक सत्ता को शुद्धाचारी आध्यात्मिक शक्तियो मे इस प्रकार परिणत कर दे कि वे शक्तियाँ हमारे देह मे प्रवेश करने पर उसमे इस प्रकार घुल-मिल जाये, जिस प्रकार कि समस्त ऋषियो और महात्माओ का रक्त व मास ईसा मे मिल गया है।

२ वेदान्तवादी भारत का जहाँ तक सम्बन्ध है, वहाँ तक इसका कारण अस्पष्ट प्रतीत होता है। कारण भारत की भी अपनी एक त्रिसत्ता है . "सत्, चित्, आनन्द" (तीनो का समन्वय सच्चिदानन्द), और केशव ने इसी त्रिसत्ता को ईसाई त्रिमूर्ति के निकट लाने की चेष्टा की है।

३ 'That marvellous Mystry, 'The Trinity' (त्रिसत्ता का चमत्कारिक रहस्य) शीर्षक १८८२ के व्याख्यान मे।

४ यहाँ पर त्रिसत्ता का त्रिभुजाकार सम्पूर्ण चित्र अकित है। उसके शीर्षस्थान पर साक्षात् भगवान् जेहोवा है वहाँ से पुत्र अवतरण करता है ..और मानवता के भूमितल के एक छोर को स्पर्श करता है और पुन. पवित्र

हाँ, केवल एक वस्तु ही ऐसी है, जो उन्हे ईसाई धर्म से पृथक् करती है, और जो अपने-आपमे एक पृथक् ससार है, वह है उनका अपना सदेश या भारतीय "नव विधान", जिसका वह कभी परित्याग न कर सके। यह सत्य है कि उन्होंने ईसा को ग्रहण कर लिया था, परन्तु उसके बदले मे ईसा को भी भारतीयता एव ईश्वरवाद को ग्रहण करना पडा। "मूर्तिपूजा, दूर हो जाओ! मूर्तिपूजा के प्रचारको, विदा हो जाओ!,' (जिनका यह सम्बोधन पश्चिम को ही

आत्मा की शक्ति द्वारा अध पतित मानवता को अपनी ओर आकृष्ट करता है। ऐशीभाव (Divinity) जब मानवता की दिशा मे अवतरण करता है तो वह पुत्र हो जाता है, और वही ऐशीभाव जब मानवता को स्वर्ग की तरफ ले जाता है तो वह पवित्र आत्मा कहलाता है। यही मोक्ष का समस्त दर्शनशास्त्र है। स्रष्टा, शिक्षादाता एवं शुद्धिदाता, मैं ही हूँ, मैं ही प्यार करता हूँ, मैं ही रक्षा करता हूँ, मैं ही स्थिर, मैं ही गतिशील, और मैं ही प्रत्यावर्तनशील भगवान् हूँ "—केशवचन्द्र कैथोलिक रहस्यवाद के प्राचीन ग्रन्थो से तुलना कीजिए।

"जिस क्रिया द्वारा पिता पुत्र को उत्पन्न करता है, उसकी निर्गमन व बहिर्गमन शब्द द्वारा व्याख्या की जा सकती है' Exivi a Patie पवित्र आत्मा, प्रत्यावर्तन के पथ द्वारा जन्मलाभ करती है।... यह ईश्वरीय मार्ग है, और भगवान् के अन्दर ही विद्यमान है, इसी के द्वारा भगवान् पुन. अपने अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। ..इसी प्रकार सृष्टि द्वारा हम भगवान् के अन्दर से बाहर आते हैं। पुत्र के द्वारा ही पिता स्रष्टा कहलाने का अधिकारी होता है। और पुन. हम करुणा द्वारा जो कि पवित्र आत्मा का गुण है, उसी में वापस लौट जाते हैं।"

P. Clande Seguenot Condmite Oraison, १६३४ हैनरी ब्रैमन्ड द्वार उद्धृत। La Metaphysique des Saints, 1, PP. 116-117

यद्यपि यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, तथापि केशव बैरूलियन व सैनेशियन प्रार्थना दर्शन को जानते थे। ३० जून सन् १८८१ की Renunciaton of John the Baptist शीर्षक आलोचना मे उन्होंने फ्रासीसी दी सेल्स द्वारा मैडम दी शाताल को लिखित पत्रो का उद्धरण दिया है।

बैरूलियन व सैनेशियन . अर्थात् सत्रहवी शताब्दी के रहस्यवादी फ्रासीसी कैथोलिक बेरूल और फ्रासीसी दी सेल्स से सम्बन्धित।

लक्ष्य करके कहा गया था)। ईसा ही शाश्वत विश्व है। "प्रसुप्त शब्द के रूप मे ईसा जगत्पिता के वक्ष मे चिरकाल तक निष्क्रिय शक्ति के रूप मे विद्यमान था, हमारे इस संसार मे आने से बहुत, बहुत पहले से ही वह वहाँ मौजूद था।" ग्रीस और रोम मे देह धारण करने से पूर्व वह, मिस्र मे, भारत मे ऋग्वेद के ऋषियो मे, कन्फ्यूशियस मे व शाक्य मुनि मे प्रकट हुआ था और नवविधान के इस भारतीय सन्देशवाहक का कार्य उसके विश्वव्यापी व सच्चे अर्थ की घोषणा करना है। कारण 'पुत्र' के आगमन के बाद 'आत्मा' का आगमन हुआ था और "नवविधान का यह उपासना मन्दिर ..सर्वथा पवित्र आत्मा की ही प्रतिष्ठा-भूमि है और इस प्रकार यह पुरातन व नवीन दोनो टेस्टामेण्टो को पूर्ण करता है।"

और इसीलिए, ऊपर और नीचे से अनेक ऐसे भयानक आघातो के होने पर भी, जो कि इसके दुर्ग की जडो तक को भी हिला देते, इस हिमालय सदृश अटल एकेश्वरवाद का एक अश भी विनष्ट न हो सका। एक प्रचण्ड विचार चेष्टा द्वारा केशव इसमे ईसा का समावेश करने मे समर्थ हुए थे, और उन्होंने यह विश्वास करते हुए कि उन्हे पाश्चात्य ईसाइयो के सम्मुख ईसा का वास्तविक अर्थ प्रकट करने के लिए भेजा गया है, अपने नव धर्म को ईसा के नाम से मण्डित कर दिया।

अपनी मृत्यु से पूर्व 'योरोप के लिए एशिया का सन्देश' (सन् १८८३) शीर्षक अपने अन्तिम सन्देश मे केशव ने इस उद्देश्य की स्पष्ट घोषणा की थी। "मत-वाद से क्षत-विक्षत योरोप। अपने सकुचित विश्वास की मुक्त तलवार को मियान के अन्दर रख दो। इसे त्याग दो और परमात्मा के पुत्र ईसा के नाम पर सच्चे कैथोलिक और विश्वव्यापी उपासना-मन्दिर मे शरीक हो जाओ। "

' ईसाई योरोप ने ईसा की आधी वाणी को भी नहीं समझा है। उसने यह समझा है कि ईसा और परमात्मा एक हैं, परन्तु यह नही समझा कि ईसा और मानवता भी एक हैं। यह एक महान् रहस्य है, जिसे कि नवविधान विश्व के सम्मुख प्रकट करता है —केवल ईश्वर के साथ मनुष्य के पुर्नमिलन को नही, अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य के पुर्नमिलन को।. एशिया योरोप से कहता है: 'भाई, ईसा मे एक हो जाओ। जो कुछ भी सत्य एव सुन्दर है—हिन्दू एशिया विनयशीलता, मुसलमानो की सत्यता बौद्धो का त्याग और तितिक्षा जो कुछ भी पवित्र है वह सब ईसा का ही है।"

और इसके बाद एशिया मे नये रोम का नूतन पोप प्रायश्चित्त का सुन्दर

गान गाता है।[1]

परन्तु वह एक वास्तविक पोप थे, और उन्हे दृढ विश्वास था कि पुन-र्मिलित मानव-जाति का ऐक्य-साधन उनके मत के अनुसार ही होगा। इसकी रक्षा के लिए वह निरन्तर वज्रपाणि होकर सन्नद्ध रहते थे; भगवान् की एकता—ईश्वर के एकत्व (Unity of God) के सम्बन्ध मे वे किसी प्रकार के समझौते को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे।

'विज्ञान एक है। धर्म भी एक है।"

उनके शिष्य बी० मजूमदार ने उनमे भी उग्ररूप मे ईसा के तिरस्कारपूर्ण शब्दो का प्रयोग किया है·

"केवल एक ही मार्ग है। स्वर्ग के लिए कोई गुप्त मार्ग नही है। और जो कोई व्यक्ति सम्मुख मार्ग से प्रवेश नही करता, वह एक तस्कर व दस्यु है।"

परन्तु स्मित हास्य के साथ करुणा-मिश्रित शब्दो मे रामकृष्ण जिस भाषा का प्रयोग करते थे, वह इससे सर्वथा विपरीत है।[2]

---

१. "और प्रायश्चित का यह नवीन संगीत आज पृथ्वी की अनेक भाषाओ मे लक्ष-लक्ष कण्ठो द्वारा परम उत्साह के साथ गाया जा रहा है। लक्ष-लक्ष आत्माएँ ईश्वर-भक्ति व धर्माचरण के नाना विचित्र वर्णों से रंजित राष्ट्रीय परिधानो को धारण किए हुए जगन्नियन्ता के सिंहासन के चारो तरफ परि-क्रमा करते हुए नृत्य करेंगी, और अनन्त काल के लिए विश्व मे शान्ति और आनन्द का साम्राज्य होगा।"

२. एक दिन जब युवक नरेन (विवेकानन्द) ने कुछ धार्मिक सम्प्रदायो के घृणित आचार-अनुष्ठान से क्रुद्ध होकर, अपनी स्वभावगत असहिष्णुता के साथ उनकी निन्दा की, तो रामकृष्ण ने स्नेहपूर्वक उनकी तरफ देखकर कहा :—"वत्स! देखो, प्रत्येक घर मे ही एक पिछला दरवाजा रहता है। यदि कोई खिडकी के रास्ते से ही घर मे प्रविष्ट होना चाहता है, तो उसे अपने इस अधिकार से क्यो वंचित किया जाय! परन्तु निस्सन्देह, यह ठीक है कि सम्मुख द्वार ही प्रवेश के लिए सबसे उपयुक्त मार्ग है।"

और रामकृष्ण के जीवनी-लेखक लिखते हैं कि इन सरल शब्दो ने "ब्रह्मसमाजी होने के कारण विवेकानन्द का जीवन के सम्बन्ध मे जो संकुचित दृष्टि-कोण (Puritanical view of life) था, उसमे एकदम परि-वर्तन ला दिया। रामकृष्ण ने नरेन को सिखाया कि मनुष्य-जाति को दुर्ब-लता और शक्ति के (पाप और पुण्य के नहीं) उदारतर व सत्यतर आलोक

ऐक्यवादी अनुशासन की आन्तरिक आवश्यकता ने, जो धार्मिक विश्व-व्यापिता से मेल नही खाती, और जो कि प्राय अज्ञातरूप से आध्यात्मिक साम्राज्यवाद मे परिणत हो जाती है, अपने जीवन के अन्त मे केशव को नव-सहिता[1] नामक स्मृति (२ सितम्बर १८८३) का निर्माण करने के लिए बाध्य किया। इस सहिता मे केशवचन्द्र के ही शब्दो मे "भारत मे नव धर्म के अनुयायी आर्यो के राष्ट्रीय नियम...सुसस्कृत हिन्दुओ की विशेष आवश्यकताओ और चरित्र के अनुकूल और उनकी राष्ट्रीय भावनाओ एव परम्पराओ पर आश्रित परमात्मा के नैतिक नियम" का समावेश है। वस्तुत इसमे एक राष्ट्रीय एकेश्वर-वाद—एक ईश्वर, एक शास्त्र, एक दीक्षा, एक विवाह—तथा परिवार के लिए, गृहस्थ के लिए, व्यवसाय के लिए, शिक्षा के लिए, आमोद-प्रमोद के लिए, दान के लिए एव रिश्तेदारी आदि के लिए, समस्त आदेशो का एक लिपिबद्ध सग्रह है। परन्तु केशव का यह स्मृतिशास्त्र विशुद्ध रूप मे एक कल्पनात्मक वस्तु ही है, जो कि एक ऐसे भारतवर्ष के लिए है, जिसका अभी तक जन्म नही हुआ, और भविष्य मे भी जिसके जन्म की सभावना अत्यन्त सदिग्ध है।

परन्तु क्या केशव स्वय भी इस बारे मे असदिग्ध थे कि ऐसे भारत का जन्म कभी सभव है? इस स्वेच्छाकृत तर्क की समस्त इमारत का आधार ही उनकी पूर्व तथा पश्चिम मे विभक्त प्रकृतिरूपी अनिश्चित बुनियाद पर आश्रित था, जब उन पर बीमारी[2] का आक्रमण हुआ तो उन्हे जोडनेवाला मसाला ढीला पड गया। उस समय उनकी आत्मा किससे सम्बन्ध रखती? ईसा से या काली से? उनकी मृत्युशय्या पर रामकृष्ण, देवेन्द्रनाथ (उनके प्रथम गुरु जिनसे कि अब उनका मेल हो गया था) और कलकत्ता के बडे पादरी सभी उनसे मिलने के लिए आये। १ जनवरी सन् १८८४ को वे अन्तिम बार माँ काली के एक नवीन मन्दिर का उद्घाटन करने के लिए गये, परन्तु ८ जनवरी को उनकी मृत्युशय्या पर उनके ही आदेशानुसार उनके एक शिष्य ने गैथसेमन[3] मे ईसा की वेदना पर स्तोत्र-गान किया।

के अन्दर किस प्रकार पहिचाना जा सकता है।" (स्वामी विवेकानन्द का जीवन, खण्ड १, अध्याय ४७)।

१. सहिता = नाना विषयक सग्रह।

२ बहुमूत्र रोग। बगाल प्रान्त का यह एक अभिशाप है। विवेकानन्द भी इसी बीमारी मे मृत्यु को प्राप्त हुए थे।

३ गैथसेमन—यरूसेलम के पूर्व मे अवस्थित एक उद्यान। यहाँ पर सूली पर चढने से पूर्व ईसा शिष्यो के साथ रहे थे।

इस प्रकार निरन्तर मानसिक अस्थिरता के वीच किसी भी सरल आत्माओ के राष्ट्र के लिए अपने लिए पथ सन्धान करना असमव था। परन्तु इससे ही हम केशव के और निकट आ जाते हैं और .उनके प्रति और अधिक आकृष्ट हो जाते है, क्योकि हम उनके अन्तरतम भावो को पढ सकते हैं, और उनसे सम्वद्ध उनके मानसिक अन्तर्दाह को देख सकते हैं। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि रामकृष्ण की सकरुण व अन्तर्भेदी दृष्टि अन्य सवकी अपेक्षा इस तथ्य को अधिक अच्छी तरह समझती थी कि भगवान् की खोज मे क्षीण व परिक्लान्त इस मनुष्य को—जिसका देह अदृश्य विधाता का शिकार वना हुआ है[1]—प्रच्छन्न ट्रैजडी क्या है? परन्तु क्या एक जन्मसिद्ध नेता को, चाहे वह अपनी अन्तर्वेदना को अपने तक ही सीमित क्यो न रखे, अन्तिम समय मे इस प्रकार के अस्थिरता व दुर्वलता के वशीभूत होने का अधिकार प्राप्त है? ब्रह्मसमाज के लिए वे यह विरासत छोड गए हैं, और यद्यपि इससे उक्त समाज की आध्यात्मिक सम्पत्ति मे वृद्धि हुई है, तथापि भारतवर्ष मे, यदि सर्वदा के लिए नहीं तो दीर्घकाल के लिए ब्रह्म-समाज का प्रभाव शिथिल हो गया है। हम भी मैक्समूलर के समान यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या केशव के ईश्वरवाद का तार्किक परिणाम ईसाई धर्म मे नही पाया जाता[2]? और केशवचन्द्र की मृत्यु के तत्काल वाद उनके सव मित्र व शत्रु ठीक यही अनुभव करते थे।

पाश्चात्य विचारधारा से अनुप्राणित भारत तथा इगलैंड दोनो देशो के सर्वश्रेष्ठ विचारको ने उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया में समान रूप से भाग लिया। "वे पूर्व तथा पश्चिम को जोडनेवाली एक कडी थे।" और कडी एक वार टूट जाने पर फिर जुड नही सकती। उनके पश्चाद्वर्ती किसी भी भारतीय नैतिक व धार्मिक नेता ने इतनी लगन व निष्ठा के साथ पश्चिम के विचार व परमात्मा का अनुसरण

---

१. रामकृष्ण के साथ केशव के अन्तिम हृदयस्पर्शी साक्षात्कार, और मुमुर्षु व्यक्ति के गुप्त घावो पर शान्तिदायक प्रलेप के समान रामकृष्ण की ज्ञान-गभीर वाणी के सम्वन्ध मे मैं और भी आगे वर्णन करूँगा।

२. मैक्समूलर ने सन् १९०० मे, प्रतापचन्द्र मजूमदार से, जो कि केशव की मृत्यु के वाद ब्रह्मसमाज के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे, और जो अपने गुरु के ईसा केन्द्रिक विचारो से सहमत थे, प्रश्न किया था कि ब्रह्मसमाज स्पष्ट रूप से ईसाई नाम क्यो नहीं ग्रहण कर लेता, और ईसा के राष्ट्रीय धर्म-मदिर के रूप मे अपना सगठन क्यो नही करता? प्रतापचन्द्र मजूमदार और उन के कुछ तरुण शिष्यों ने उक्त विचार के प्रति अपनी सहमति प्रदर्शित की।

नही किया[1]। इसलिए मैक्समूलर का यह कथन यथार्थ ही था कि "भारत ने अपना श्रेष्ठतम पुत्र खो दिया है।" परन्तु भारतीय समाचार-पत्र एकस्वर से उनकी प्रतिभा की प्रशसा करते हुए भी यह कहने के लिए बाध्य थे कि "उनके अनुयायियो की सख्या उनकी योग्यता के अनुकूल न थी[2]।"

वास्तव मे केशवचन्द्र अपने देशवासियो की अन्तरात्मा से बहुत दूर थे। वे उन सबको एकदम अपनी उस बुद्धि की, जो कि योरोप के ईसा व आदर्शवाद मे पुष्ट हुई थी, विशुद्ध ऊँचाई पर उठा देना चाहते थे। सामाजिक क्षेत्र मे राम-मोहन राय को छोडकर उनके किसी अन्य पूर्ववर्ती ने भारत की उन्नति के लिए इतना प्रयत्न नही किया; परन्तु उस समय राष्ट्रीय चेतना का जो स्रोत आग्रह-

---

उनमे से ब्रह्मबान्धव उपाध्याय का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है, और उसका अध्ययन आवश्यक है, जिसने अपने सस्मरण सकलित किए हैं। वह 'नवधर्म विधान' से पहले आग्लिकन और अन्त मे रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए। केशवचन्द्र के जीवनी-लेखक मणीलाल पारीख भी एक उल्लेख योग्य व्यक्ति हैं, वह भी ब्रह्मसमाज से ईसाई धर्म मे दीक्षित हुए थे। इन दोनो का ही यह विश्वास था कि यदि केशवचन्द्र कुछ वर्ष और जीवित रहते तो वे अवश्य रोमन कैथोलिक धर्म स्वीकार कर लेते। मणीलाल पारीख ने कहा हैं, "सिद्धान्त की दृष्टि से केशवचन्द्र प्रोटेस्टेण्ट थे, परन्तु व्यवहार मे कैथोलिक थे . आध्यात्मिकता मे ईसाई थे, और मोनेटिज्म (पवित्र आत्मा की सर्वश्रेष्ठता) मे विश्वास रखते थे।" परन्तु मेरी सम्मति मे केशव उन व्यक्तियो मे से थे, जो कि अधखुले दरवाजे की देहली पर खडे हुए प्रतीक्षा करते हैं। परन्तु उनके अनुयायियो ने जो दरवाजे को पूरा खोल दिया है, यही घातक है।

१. 'दी इण्डियन एम्पायर' नामक पत्र ने केशवचन्द्र के सम्मान मे लिखा है कि "वे भारत मे अग्रेजी शिक्षा व पाश्चात्य सभ्यता की एक उत्कृष्ट बहार थे।"

भारतीय दृष्टिकोण से यह प्रशसा निन्दा का ही नामान्तर था।

२ दी हिन्दू पेट्रियट। सन् १६२१ मे तीनो ब्रह्मसमाजों की कुल सदस्य-सख्या ६,४०० से अधिक न थी (जिनमे से ४,००० सदस्य बगाल, आसाम-और बिहार व उडीसा मे थे)। यह सदस्य-सख्या आर्यसमाज सदस्यो की सख्या (जिसके बारे मे मैं आगे लिखूंगा) अथवा राधास्वामी सत्सग के समान नये रहस्यवादी सम्प्रदायो की सदस्य-सख्या की तुलना मे सर्वथा नगण्य थी।

पूर्वक देश मे ज्वार के समान उद्वेलित हो रहा था, उन्होंने उसके विरुद्ध जाने का प्रयत्न किया। भारत के तीस करोड देवता और तीस करोड प्राणी, जिनमे कि उन देवताओ ने मूर्तरूप धारण किया था—मनुष्य के स्वप्नो का वह विस्तृत अरण्य, जिसमे कि उनके पाश्चात्य दृष्टिकोण ने उन्हे दिशा व पथ से भटका दिया था—उनके विरुद्ध थे। केशव ने उन्हे अपने भारतीय ईसा मे विलीन होने के लिए आमन्त्रित किया, परन्तु उनके निमन्त्रण को किसी ने स्वीकार नही किया ऐसा प्रतीत होता था कि शायद उन्होंने उसे सुना तक भी नही।

केशवचन्द्र के जीवन-काल मे ही भारतीय धार्मिक विचारधारा ने केशव के ब्रह्मसमाज, एव पाश्चात्यीकरण को सब चेष्टाओ के विरुद्ध एक विशुद्ध भारतीय समाज की स्थापना कर दी थी, और उसके प्रतिष्ठाता दयानन्द सरस्वती[1] नामक एक अत्यन्त उच्चकोटि के व्यक्ति थे (१८२४-१८८३)।

वह सिह के समान तेजस्वी व्यक्ति उन व्यक्तियो मे से थे; जिन्हे योरोपवासी भारत के सम्बन्ध मे विचार करते हुए प्राय भूल जाते हैं, परन्तु अपने को हानि पहुँचाकर भी उन्हे सभवत. एक दिन उसे याद करना ही होगा। कारण दयानन्द उन महापुरुषो मे से थे, जिसमे कर्म की विचारशक्ति और नेतृत्व की प्रतिभा का अद्भुत सम्मिश्रण होता है—जैसा कि उनके बाद विवेकानन्द[2] मे पाया जाता है।

---

१. उनका जन्मनाम मूलशकर था, जिसे उन्होंने बाद मे छोड दिया था। 'सरस्वती' उनके गुरु की पदवी थी, जिन्हें वे अपने सच्चे पिता के समान मानते थे। दयानन्द की जीवनी के बारे मे जानने के लिए लाला लाजपतराय (भारतीय राष्ट्रीय नेता जिनकी हाल ही मे मृत्यु हुई है) रचित प्रामाणिक ग्रन्थ 'आर्यसमाज', सिडनी वैब ने जिसकी भूमिका लिखी है, वह देखिए। (लाँगमैन्स ग्रीन एण्ड को, लन्दन १९१५)

२ यद्यपि इन दोनो महापुरुषो मे ही प्रचार करने की अतुल शक्ति और जन-साधारण के लिए उनकी दुर्निवार प्रीति एक समान थी, तथापि विवेकानन्द मे आत्मा की गभीरता का आकर्षण, विशुद्ध ध्यान चिन्तन की इच्छा, आत-रिक सत्ता की अविराम ऊर्ध्वलोक मे जाने की चेष्टा—जिसके विरुद्ध कर्म की आवश्यकता को निरन्तर सग्राम करना पडता था—दयानन्द की अपेक्षा यह विशेष गुण थे। दयानन्द अपनी आत्मा की विभिन्नता की पीडा को न जानते थे, तथापि वह जिस कार्य के लिए पैदा हुए थे, उसे पूर्ण करने के लिए समस्त आवश्यक गुण उनमे विद्यमान थे।

जब कि वे सब धार्मिक नेता जिनका कि मैंने अब तक वर्णन किया है, व जिनके बारे मे मैं आगे कहूँगा, बगाल प्रान्त के रहनेवाले थे, दयानन्द उनसे एक सर्वथा विभिन्न भूमि—अरब समुद्र के उत्तर-पश्चिम तट पर अवस्थित प्रदेश—जिसने कि अर्द्धशताब्दी के बाद गाधी को जन्म दिया—मे पैदा हुए थे। उनका जन्म गुजरात प्रान्त की काठियावाड रियायत मे मोरवी नामक स्थान मे एक उच्चतम श्रेणी के धनी ब्राह्मण[1] परिवार मे, जो न केवल वैदिक शास्त्रो मे ही पारगत था, अपितु राजनैतिक व व्यापारिक दोनो प्रकार के सासारिक विषयो मे भी सर्वथा व्यवहार-पटु था, हुआ था। उनके पिता उक्त छोटी-सी देशी रियासत के शासन-कार्य मे नियुक्त थे। वे धर्मशास्त्रो के अक्षरश. कट्टर अनुयायी थे, और कठोर व प्रबल शासन करने वाले व्यक्ति थे। उन्होने अपने पुत्र को भी अपना यह अन्तिम गुण उत्तराधिकार मे दिया, जिसके कारण उन्हे अन्त मे स्वय कष्ट भोगना पडा।

सुतरा दयानन्द का बाल्यकाल ब्राह्मण समाज के कठोर रीति-नियमो मे ही व्यतीत हुआ। आठ वर्ष की अवस्था मे उनका उपनयन सस्कार हो गया, और उसके परिणामस्वरूप अपने परिवार के सब आवश्यक नैतिक नियमो के पालन के लिए उन्हे बाध्य किया गया।[2] ऐसा प्रतीत होता था, कि दयानन्द भी समय आने पर सनातन धर्म का एक सुदृढ स्तम्भ सिद्ध होगा। परन्तु इसके विपरीत सैम्सन के तुल्य उसने सनातन धर्म के मन्दिर के स्तम्भो को ही उखाड डाला। यह मानवीय प्रयत्नो की व्यर्थता के उन सैकडो उदाहरणो मे से एक उदाहरण है, जब कि वह यह सोचता है कि उदीयमान पीढी के मन के ऊपर जबर्दस्ती किसी प्राचीन शिक्षा प्रणाली को लादकर वह उसका अपनी इच्छानुसार निर्माण कर सकता है, और इस प्रकार भविष्य पर हावी हो सकता है। उसका निश्चित परिणाम विद्रोह के रूप मे प्रकट होता है।

अतएव दयानन्द की यह विद्रोह-कहानी उल्लेख योग्य है। जब वह चौदह वर्ष के थे, तब उनके पिता उन्हे शिवरात्रि का व्रत रखने के लिये मदिर मे ले गये। नियमानुसार दिन भर उपवास रखने के बाद वह सारी रात्रि उन्हे जागकर प्रार्थना करते हुए व्यतीत करनी थी। अन्य सब भक्तगण धीरे-धीरे सोने

---

१. सामवेदी, वैदिक ब्राह्मणो मे सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण।
२. ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, पवित्रता, अध्ययन काल मे अत्यन्त सादगी व गरीबी का जीवन, नित्य नियम से वेदमन्त्रो का पाठ, और कठोर अनुष्ठान व नियमो के अनुसार जीवन-यापन।

लगे। परन्तु वालक दयानन्द ने यत्नपूर्वक निद्रा को समीप न आने दिया। अचानक ही उसने देखा कि एक चूहा विल से निकलकर शिव की मूर्ति पर इधर-उधर दौडने लगा और देवता के प्रसाद को खाने लगा। वालक के हृदय मे एक नैतिक विद्रोह जगाने के लिए इतना ही पर्याप्त था। देवमूर्ति के प्रति उसका समस्त विश्वास एकदम विनष्ट हो गया। और वह तत्काल मन्दिर को छोडकर रात्रि मे ही अपने घर चला आया और उसके वाद से किसी भी धार्मिक अनुष्ठान मे भाग लेने से इनकार कर दिया।

यहाँ से पिता और पुत्र के बीच एक भयानक सघर्ष का सूत्रपात हो गया। दोनो ही अदमनीय व दुर्वर्ष इच्छाशक्तिशाली थे, इसीलिए उनमे किसी प्रकार के पारस्परिक समझौते की गुजाइश न थी। उन्नीस वर्ष की अवस्था मे उनके पिता द्वारा जवर्दस्ती उनका विवाह करने का प्रयत्न करने पर दयानन्द घर से भाग गये। उन्हें पकड लिया गया और कैद मे डाल दिया गया। परन्तु वह मौका देखकर फिर हमेशा के लिए भाग गये (१८४५) और फिर कभी अपने पिता से न मिले।

पन्द्रह वर्ष की दीर्घ अवधि तक धनी व्राह्मण की इस सर्वत्यागी सन्तान ने गेरुए वस्त्र पहनकर भिक्षा द्वारा जीवन-यात्रा करते हुए संन्यासी के वेश मे भारत के कोने-कोने मे भ्रमण किया। मानो यह विवेकानन्द के जीवन व तरुण अवस्था मे उनकी समस्त भारत की यात्रा का ही एक प्रथम सस्करण था। उनके समान ही दयानन्द ज्ञानियो व तपस्वियो की खोज मे फिरते थे, कही दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते थे, कही वेद पढते थे, और कही पर योगविद्या पढते व उसका अभ्यास करते थे। उनकी तरह ही दयानन्द ने भी भारतवर्ष के प्रायः सभी तीर्थ-स्थानो का पर्यटन किया था, और धार्मिक शास्त्रार्थो मे हिस्सा लिया था। उनके सदृश ही उन्होंने अनेक कष्ट झेलते हुए थकावट, अपमान व खतरो का मुकावला किया था, और अपनी मातृभूमि के साथ उनका यह सम्वन्ध विवेकानन्द के अनुभव की अपेक्षा चार गुना अधिक था। परन्तु विवेकानन्द से दयानन्द मे यह विभिन्नता थी कि वह इन दिनो केवल सस्कृत भाषा ही वोलते थे, और इसलिए जिस जनसाधारण मे से वे गुजरते थे, उसके निकट सम्पर्क मे न आ पाते थे। यदि विवेकानन्द श्री रामकृष्ण के सम्पर्क मे न आये होते, और उनके अत्यन्त दयालु गुरु ने उनकी कुलीनवशिता तथा विशुद्धाचारिता के अहकार को अपनी स्नेहमय कारुणिकता एव अगाध वुद्धिमत्ता से दमन न कर दिया होता, तो विवेकानन्द की जो अवस्था होती, वास्तव मे वही दयानन्द की अवस्था थी। दयानन्द को अपने चारो तरफ अन्धविश्वास, अज्ञान, नैतिक शिथिलता, गिराने-

वाले कुसस्कार, और लाखो की सख्या मे घृणित मूर्तियो के अतिरिक्त और कुछ दिखायी न देता था। अन्त मे सन् १८६० के लगभग मथुरा मे उन्होंने स्वामी विरजानन्द सरस्वती नामक एक वृद्ध जन्मान्ध सन्यासी को, जो कि ग्यारह वर्ष की अवस्था से ही ससार मे सर्वथा अकेले रहते थे, और जो अन्धविश्वासो के प्रति घृणा और दुर्बलता की निन्दा मे उनसे भी कही अधिक कठोर थे, अपना गुरु बनाया। वे एक विद्वान् परन्तु भयानक व्यक्ति थे। दयानन्द उनके आदेशानुसार कठोर संयम व तपस्या का जीवन व्यतीत करने लगे। इस तपस्या ने सत्रहवी शताब्दी के प्राचीन शाब्दिक अर्थो मे उनके शरीर व आत्मा को दग्ध कर दिया। दयानन्द ने ढाई वर्ष तक इस क्रोधी व अजेय व्यक्ति की शिष्य रूप मे सेवा की। इसलिए यह स्मरण रखना सर्वथा न्यायसगत होगा कि उन्होंने केवल अपने कठोर अन्ध गुरु की इच्छा को पूर्ण करने के लिए ही अपने भावी कर्मक्षेत्र मे प्रवेश किया, और अपने असली नाम को छोडकर उन्ही की पदवी भी धारण की। विरजानन्द ने शिष्य को विदा करते समय उससे यह वचन ले लिया था कि वह अपना समस्त जीवन सनातन धर्मविश्वासो मे प्रविष्ट रूढिगत कुसस्कारो को विनष्ट करने व महात्मा बुद्ध की पूर्ववर्ती धार्मिक रीतियो को पुन. प्रतिष्ठित करने तथा सत्य का प्रचार करने मे व्यतीत करेगा।

दयानन्द ने तत्काल ही उत्तर भारत मे प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया। परन्तु वह उन स्नेहशील भगवद्भक्तो के समान न थे, जो कि अपने श्रोताओ के सम्मुख स्वर्ग का सुन्दर दृश्य उपस्थित करते हैं, अपितु वे इलियड व गीता के नायक के तुल्य थे, जिसमे हरक्यूलिस[1] जैसा अतुल शारीरिक बल था, और जो अपने विचारो को ही एकमात्र सत्य विचार मानते हुए उनके अतिरिक्त अन्य सब विचार-धाराओ के विरुद्ध गर्जना करते थे। वह अपने प्रयत्न मे इतने सफल हुए कि पाँच वर्ष मे ही उन्होंने उत्तरी भारत का रूपान्तर कर दिया। इन पाँच वर्षों मे चार या पाँच बार उनकी हत्या का भी प्रयत्न किया गया—कई बार विष प्रयोग द्वारा भी। एक दफे एक धर्मान्ध जोशीले व्यक्ति ने उनके मुख पर शिव के नाम पर एक काला साँप फेंका, परन्तु उन्होंने उसे

---

१ दयानन्द के चमत्कार पौराणिक कथाओ के रूप मे प्रचलित है। उन्होंने दो तेज घोडो की भागती हुई गाडी को एक हाथ से रोक दिया था। उन्होंने अपने विरोधी के हाथ से नगी तलवार छीनकर उसके दो टुकडे करके फेक दिया था। इत्यादि। उनका वज्र घोष के समान कण्ठ-स्वर कितने ही शोर-गुल के ऊपर स्पष्ट सुनायी देता था।

पकडकर वही कुचल डाला। उन पर विजय पा सकना प्राय असमव था, कारण उनका संस्कृत व वेदो का ज्ञान अद्वितीय था, और उनके अग्निवर्षक शब्दवाण शत्रुओ को वेकार कर डालते थे। उनके प्रतिद्वन्द्वी नदी की वाढ से उनकी तुलना करते थे। शकर के वाद उन जैसा वेदो का कोई दूसरा पण्डित नही हुआ था। सनातनी पडितो ने पराजित होकर अपने रोम—काशी से उन्हे ललकारा। दयानन्द निर्भय होकर वहाँ पहुँचे, और नवम्बर १८६९ मे उनका होमरीय वाग्युद्ध हुआ। लाखो आक्रान्ताओ के सम्मुख, जो कि उन्हे नतजानु हुआ देखना चाहते थे, उन्होने सनातन हिन्दुओ की समस्त सुरक्षित सेना के तीन सौ चुने हुए पण्डितो की अग्रिम पक्ति के साथ अकेले ही घण्टो तक शास्त्रार्थ किया।[1] उन्होने सिद्ध किया कि वेदान्त का जिस रूप मे प्रचार किया जा रहा है, वह प्राचीन वेदशास्त्रो के एकदम विरुद्ध है। और दावा किया कि वे दो हजार वर्ष पूर्व के विशुद्ध नियम तथा सत्यवाणी का पुन. प्रचार करना चाहते हैं। परन्तु उन्हें सुनने का धैर्य उनके अन्दर नही था। इसलिए निन्दा व धिक्कार के साथ उन्हे जाति से च्युत कर दिया गया। उनके चारों ओर एक शून्य का निर्माण कर दिया गया, परन्तु इस वाग्युद्ध की प्रतिध्वनि महाभारत के समान सारे देश मे इस प्रकार फैल गयी कि उनका नाम सारे भारतवर्ष मे प्रसिद्ध हो गया।

वह १५ दिसम्वर सन् १८७२ से १५ अप्रैल सन् १८७३ तक कलकत्ते मे रहे। वही पर रामकृष्ण से उनकी भेट हुई। ब्रह्मसमाज मे भी उनका हार्दिक सत्कार हुआ। केशव व उनके अनुयायियो ने जानवूझकर उनके व अपने वीच के मतभेदो को ओझल कर दिया। वे कट्टरता, कुसस्कार और लाखो देवताओ के विरुद्ध अपने धर्मयुद्ध मे दयानन्द को अपना एक शक्तिशाली साथी समझते थे। परन्तु दयानन्द पाश्चात्य विचारो से अनुप्राणित धार्मिक दार्शनिको के साथ किसी प्रकार का समझौता करनेवाले व्यक्ति न थे। उनके राष्ट्रीय भारतीय ईश्वरवाद मे, जिसका लौहकठोर-विश्वास वेदो की विशुद्ध धातु से निर्मित था, उन पाश्चात्य सदेह-भावना से रजित विश्वासो से जो कि वेदो की प्रामाणिकता तथा पुनर्जन्म

---

१ एक ईसाई पादरी ने, जो कि इस शास्त्रार्थ के समय वहाँ उपस्थित थे, उसका अत्यन्त सुन्दर व निष्पक्ष वर्णन दिया है, जिसे कि लाजपतराय ने अपनी पुस्तक मे उद्धृत किया है। (Christian Intelligence, कलकत्ता मार्च, १८७०)।

के सिद्धान्त[1] से इनकार करते थे, कोई समानता न थी। परन्तु इनके साथ सपर्क मे आने मे वह अपने सघर्ष के लिये पहले से समृद्धतर[2] हो गये, क्योकि इनसे[3] ही उनको इस सीधे-सादे सत्य का, जिसकी ओर उनकी दृष्टि पहले न गयी थी, बोध हुआ कि जनसाधारण की भाषा मे प्रचार किये बिना उन्हे अपने लक्ष्य मे सफलता प्राप्त नही हो सकती। वह वहाँ से बम्बई गये, और कुछ समय बाद ही, ब्रह्मसमाज के तुल्य ही, परन्तु ब्रह्मसमाज की अपेक्षा उत्कृष्टतर सगठन-शक्ति के साथ उनका धर्मसम्प्रदाय भारत के सामाजिक जीवन मे अपनी जड जमाने लगा। १० अप्रैल सन् १८७५ मे, उन्होने बम्बई मे सिन्धु और गगा के विजेताओ के वशधर, विशुद्ध भारतीयो की, प्रथम आर्यसमाज या आर्यावर्त के आर्यों की सस्था, स्थापित की। और इन जिलो मे ही आर्यसमाज की जडे सबसे अधिक शक्तिशाली हो गई। सन् १८७७ से लेकर जब कि लाहौर मे इसके सिद्धान्त निश्चित रूप से लिपिबद्ध किये गये, सन् १८८३ तक दयानन्द ने उत्तरी भारत, राजपूताना, गुजरात, सयुक्तप्रदेश आगरा व अवध, और सबसे अधिक अपनी प्रियभूमि पजाब मे आर्यसमाजो का एक जाल बिछा दिया। केवल मद्रास ही एक ऐसा प्रान्त था,

---

१ आर्यसमाज के प्रमुख सदस्य लाला लाजपतराय के मतानुसार "यह दोनो वह मुख्य सिद्धान्त हैं, जो कि आर्यसमाज को ब्रह्मसमाज से पृथक् करते हैं।"

यहाँ यह स्मरणीय है कि दयानन्द से बीस वर्ष पूर्व (१८४४-४६) देवेन्द्रनाथ भी वेदो की निर्भान्तिता मे विश्वास करने के लिए प्रलुब्ध हुए थे। परन्तु बाद मे भगवान् के साथ सीधे व वैयक्तिक मिलन मे विश्वास के कारण उन्होंने अपना पूर्वमत त्याग दिया था। कहा जाता है कि ब्रह्मसमाज के अन्य सब नेताओ की अपेक्षा वे दयानन्द के अधिक निकट थे। परन्तु दोनो का एकमत होना असभव था। देवेन्द्रनाथ का आदर्श शान्ति व सगति था। इसलिए दयानन्द के तुल्य अविराम योद्धा के प्रति, जो कि आधुनिकतम सामाजिक सघर्षों मे भी कठोर शास्त्र-वाक्यो तथा विशुद्ध तार्किक अस्त्रो का प्रयोग करते थे, उनकी सहानुभूति कदापि सभव न थी।

२ सन् १८७७ मे विभिन्न धर्मों के नेताओ तथा उनके विभिन्न सिद्धान्तो के बीच एकता व सामजस्य स्थापित करने का अन्तिम प्रयत्न किया गया। केशव और दयानन्द परस्पर मिले, परन्तु कोई समझौता न हो सका, क्योकि दयानन्द किसी बात मे भी झुकनेवाले न थे।

३ बाबू केशवचन्द्र सेन।

जिसमे कि उनका कोई विशेष प्रभाव दिखायी न देता था।[1]

अपने पूर्ण यौवन मे ही एक आततायी द्वारा उनकी हत्या कर दी गयी। एक महाराज की रखेल ने, जिसकी ऋषि ने कठोररूप से भर्त्सना की थी, उन्हे विष दे दिया, जिससे ३० अक्तूबर सन् १८८३ को उनका अजमेर मे देहान्त हो गया।

परन्तु उनका कार्य सफलतापूर्वक अविराम रूप से जारी रहा। आर्यसमाज की सदस्य-सख्या, जो सन् १८९१ मे केवल ४०,००० थी, क्रमशः बढकर सन् १९०१ मे १००,०००, सन् १९११ मे २,४३,००० और सन् १९२१ मे ४,६८,००० तक पहुँच गयी।[2] कई श्रेष्ठतम हिन्दू व्यक्ति, विख्यात राजनीतिज्ञ, और महाराजा आर्यसमाज के सदस्य हैं। केशवचन्द के ब्रह्मसमाज के क्षीण प्रभाव की तुलना मे आर्य समाज को जो स्वाभाविक व स्फूर्तिमय सफलता प्राप्त हुई है, उससे दयानन्द की कठोर शिक्षाओ के साथ उनके देश के विचार और भारतीय राष्ट्रीयतावाद के प्रथम उद्बोधन का, जिसमे कि उन्होंने स्वय भी प्रमुख भाग लिया था, कितना मेल था, यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है।

इस राष्ट्रीय जागृति के जो कि इस समय पूरे यौवन पर विद्यमान है, मूल मे क्या कारण हैं, उनका स्मरण कराना शायद योरोपीय पाठको के लिये कुछ लाभप्रद होगा।

पश्चिमीकरण अपनी सीमा से बहुत आगे बढ चुका था, और प्रायः यह हमेशा अपने उत्कृष्टतम रूप मे प्रकट न होता था। बौद्धिक क्षेत्र मे यह एक उत्तरदायित्वशून्य तुच्छ मनोवृत्ति के रूप मे प्रकट होता था, जो कि स्वतन्त्र विचार की आवश्यकता को त्यागकर नवयुवको को अपनी अनुकूल परिस्थिति से उखाडकर नयी भूमि मे प्रतिष्ठित करता था, और उन्हें अपनी जाति की प्रतिभा व परम्परा से घृणा करना सिखाता था। किन्तु आत्मरक्षा की सहज प्रवृत्ति ने शीघ्र ही इसके विरुद्ध अपना सिर उठाया। दयानन्द के तुल्य उनकी समसामयिक पीढी ने भी चिन्ता, वेदना और उद्वेगपूर्वक इस बात का अनुभव किया कि जहाँ एक तरफ भारतीय आध्यात्मिकता से सर्वथा अनभिज्ञ, दिखावटी योरोपियन

---

१. यह और भी अधिक विस्मयकारक है, कारण, विवेकानन्द को मद्रास मे ही सबसे अधिक उत्साही व सगठित शिष्य-मण्डली प्राप्त हो सकी है।

२ इसमे से पजाब और देहली मे २२३,००० सयुक्त प्रान्त मे २०५,००० कश्मीर मे २३,००० और बिहार मे ४,५०० सदस्य हैं। सक्षेप मे, यह उत्तर भारत और उसके एक अत्यन्त शक्तिशाली अंश का ही निर्देश है।

युक्तिवाद धीरे-धीरे भारत की धमनियो मे प्रवेश करता जा रहा है, वहाँ दूसरी तरफ वह ईसाई धर्म भी जो पारिवारिक जीवन मे प्रवेश करने पर, केवल ईसा की इस भविष्यवाणी को पूरा करता है कि "वह पिता और पुत्र के बीच विरोध पैदा करने के लिए आता है," उसके अन्दर घुसता चला जा रहा है।

मेरा यह अभिप्राय कदापि नही है कि मैं ईसाई धर्म के प्रभाव को किसी नीच भावना से देखूं। मैं जन्म से ही कैथोलिक हूँ, और इसलिए चर्च व धर्म के समस्त बाह्य रूपो मे कोई आस्था न रखते हुए भी मैंने ईसा के रक्त का आस्वादन किया है, और महान् ईसाइयो के जीवन व धर्मग्रन्थो मे उद्घाटित ज्ञानगभीर जीवन के ज्ञानभण्डार का आनन्द प्राप्त किया है। इसलिए मैं ऐसे धर्म को किसी दूसरे धर्म से नीचा दिखाने का स्वप्न मे भी विचार नही कर सकता। आत्मा जब एक विशेष ऊँचाई पर[1] Acumen mentis (ऊर्ध्वतम शिखर पर) पहुँच जाती है, तो वह और आगे नही बढ सकती। दुर्भाग्य से एक देश का धर्म विदेशी जातियो पर हमेशा अपने उत्कृष्टतम तत्त्वो के माध्यम द्वारा ही कार्य नही करता। प्रायः मानवीय अहङ्कार के साथ पार्थिव विजय की भावना मिली रहती है, और यदि वास्तव मे विजय प्राप्त हो जाती है, तो यह कहा जाता है कि उद्देश्य सिद्धि उसके साधनो को भी न्यायसङ्गत साबित करती है। मैं तो यहाँ तक कहने का साहस करता हूँ कि किसी देश-विशेष के धर्म को चाहे कैसे ही उत्कृष्टतम रूप मे भी किसी विदेशी जाति के सम्मुख क्यो न उपस्थित किया जाय, परन्तु वह उस जाति की आत्मा को अपने गभीरतम सार के रूप मे, आत्मा के उस उच्चतम शिखर पर, जिसका कि मैंने अभी वर्णन किया है, नही ग्रहण कर सकता। वह कुछ अशो मे उसे अवश्य ग्रहण करता है जो कि पर्याप्त अर्थपूर्ण भी है, परन्तु फिर भी वह उतना महत्त्वपूर्ण नही। हममे से जिन्होंने ईसाई धर्म के विस्मयकारक आध्यात्मिक दर्शनशास्त्र का यत्नपूर्वक अध्ययन और उसकी गहराई मे पहुँचने का प्रयत्न किया है, वे जानते हैं कि ऊँचे उडनेवाली आत्मा के पक्षविस्तार के लिये वहाँ कितना असीम आकाश है, और प्रेममय परमसत्ता के जिस स्वर्गीय विश्व रूप की वे कल्पना करते हैं, यह वैदान्तिक असीम की कल्पना की अपेक्षा लेशमात्र भी अल्प-विस्तृत या अनुन्नत नही है। परन्तु यदि एक केशव ने इस सत्य की झाँकी देख ली, तो वह अपनी जाति मे

१. रिचर्ड दी सेण्ट विक्टर तथा पाश्चात्य रहस्यवादियो द्वारा फ्रैंकोपस दी सेल्स को कहे शब्दो मे (हेनरी ब्रेमण्ड The metaphysics of the Saints, देखिए)।

एक अपवाद मात्र है, और ऐसा प्रतीत होता है कि ईसाई धर्म का यह रूप हिन्दुओ के लिए प्राय· सर्वथा अनभिव्यक्त है। उनके सम्मुख इसे एक नीति और व्यावहारिक कर्तव्यो के स्मृतिशास्त्र, जैसे कि कर्म मे प्रेम, (यदि यह शब्द प्रयुक्त किया जा सके) के रूप मे ही उपस्थित किया जाता है। और यद्यपि यह उसका एक महत्त्वपूर्ण पहलू है, तथापि यह उसका सर्वश्रेष्ठ रूप[1] नही है। यह ध्यान देने योग्य है कि गभीर आध्यात्मिक चिन्तन मे निरत और आत्मा की साहसिक उडानो मे समर्थ व्यक्तियों की अपेक्षा कर्मिष्ठ एव शक्तिशाली व्यक्ति ही अधिकतर ईसाई धर्म मे दीक्षित हुए हैं[2]।

उपर्युक्त कथन सत्य हो या न हो, चूंकि यह अभी एक अत्यन्त विवादास्पद विषय है, तथापि यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि जिस समय दयानन्द के मन का निर्माण हो रहा था, उस समय भारत की उच्चतम धार्मिक चेतना इतनी दुर्बल हो चुकी थी, कि योरोप की धार्मिक चेतना उसका स्थान ग्रहण करने मे समर्थ न होने पर भी उसकी क्षीण दीपशिखा को बुझाने के लिए प्रयत्नशील थी। ब्रह्मसमाज इस बात से चिन्तित था, परन्तु उसके ऊपर इच्छित व अनिच्छित रूप से पाश्चात्य ईसाई धर्म की छाप पड चुकी थी। राममोहन राय ने जहाँ से प्रारम्भ किया था, वह प्रोटेस्टेण्ट एकेश्वरवाद था। देवेन्द्रनाथ के इससे स्वय अस्वीकार करने पर भी वह ब्रह्मसमाज मे उसके प्रवेश को न रोक सके। जब

---

१. मैं स्वत. अपनी अन्तरानुभूति के आधार पर स्वतन्त्र रूप से उसे सेलेशियन ईश-केन्द्रिकवाद (The Salesian Theo-centrism) का समर्थन करता हूँ जिसका हेनरी ब्रेमाण्ड ने ल आबे विन्सेट के धार्मिक नीतिवाद अथवा रहस्यवाद-विरोधीवाद के विरुद्ध अपने हाल के तार्किक विवाद मे प्रतिपादन किया है।

२ साधु सुन्दरसिंह, जिनका नाम योरोपीय प्रोटेस्टेण्टो मे काफी परिचित है, इसका एक सुन्दर उदाहरण है। वह एक पजाबी सिख हैं, जिनके पिता एक सरदार हैं और भाई फौज मे सेनानायक है। इस निर्भय व्यक्ति ने तिब्बत मे, वीरतापूर्वक शहीदो के अनुसधान का कार्य किया था, जहाँ उसने अफगान तथा सिख दो युद्धप्रेमी जातियो के ईसाई शहीदो के चिह्न उपलब्ध किये थे (मैक्स शैरर प्रणीत 'साधु सुन्दरसिंह' पुस्तक देखिए, १९२२, जूरिच) इस पुस्तिका मे अन्य भारतीय धर्मों के बारे मे उसने जो वक्तव्य दिये हैं, उनसे स्पष्ट यह प्रतीत होता है कि वह उनके हृदय तक कभी नही पहुँच पाया था।

उन्होने केशवचन्द्र की प्रभुता स्वीकार कर ली, तव उसका तीन चौथाई भाग मे प्रवेश हो चुका था। सन् १८८० मे ही केशव के एक समालोचक ने कहा था : 'जो केशव मे विश्वास करते हैं, वह एकेश्वरवादी कहलाने योग्य नही हैं, क्योकि वे ईसाई धर्म को तरफ ही अधिकाधिक झुके हुए हैं।" तथापि तृतीय व्रह्मसमाज (केशव से पृथक् साधारण व्रह्मसमाज) की स्थापना निश्चित रूप से भारतीय ईसाई धर्म के विरुद्ध ही हुई थी। और अर्धशताव्दी के स्वल्पकाल मे ही व्रह्म-समाज के दो वार विभिन्न दलो मे विभक्त हो जाने एव परवर्ती अर्धशताब्दी मे उसके सम्पूर्ण रूप से ईसाई धर्म मे विलीन हो जाने के खतरे के कारण भारतीय जनसाधारण का उसमे विश्वास नही रहा था।

ऐसी अवस्था मे यह वात आसानी से समझ मे आ जाती है कि प्राचीन भारत के समस्त शास्त्रो के पण्डित व उसकी आध्यात्मिकता से सुपरिचित एव एक महान् जाति मे उत्पन्न एक वेदवादी—वेदो के प्रचण्ड प्रचारक का क्योकर जनसाधारण ने अत्यन्त उत्साह व प्रेम के साथ हार्दिक स्वागत किया। उसने अकेले ही भारत पर आक्रमण करने वालो के विरुद्ध विरोध का झण्डा वुलन्द किया। दयानन्द ने ईसाई धर्म के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, और उसकी भारी, तीक्ष्ण तलवार ने अपने प्रहार के क्षेत्र व लक्ष्य का विना विशेष विचार किये उसे टुकडे-टुकडे कर डाला। उन्होंने वाइविल के उद्धरणो की उनकी पूर्वा-पर सगति का विचार न करके, व उनके वास्तविक व धार्मिक अर्थो को, यहाँ तक कि अक्षरार्थों को भी ठीक-ठीक न समझते हुए (क्योकि उन्होंने वाइविल का हिन्दी अनुवाद ही पढा था और वह भी वहुत जल्दी मे प्रतिशोध-भावना से प्रेरित होकर) अन्यायपूर्ण[1] व हानिकारक कटु आलोचना की। उनकी असि-धारा के सदृश तीक्ष्ण आलोचनाएँ जो कि वौल्टेयर व उसकी 'डिक्शनरे फिलो-सोफिक' की याद दिलाती है, अव तक कुछ आधुनिक हिन्दुओ[2] के घृणित ईसाई-धर्म-विरोधी प्रचार का शस्त्रागार वनी हुई हैं। तथापि वह आलोचनाएँ, जैसा ग्लैस्नैप ने ठीक ही लिखा है, योरोपियन ईसाइयो के लिए अत्यन्त उपयोगी

---

१ उनकी हिन्दी मे लिखित महान् पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश' मे यह आलोचना विद्यमान हैं।

२ विशेषत नव वौद्धधर्मी। यद्यपि इस पर एकाएक विश्वास नही होता कि वुद्ध का वह पवित्र व सुन्दर नाम, जो कभी अनासक्ति व विश्वशान्ति का प्रतीक था, वह आज अन्य धर्मों के विरुद्ध अश्रद्धा प्रकट करने व उन पर आक्रमण करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है।

हैं, कारण उनके एशियावासी विरोधियो ने उन्हे किस रूप मे प्रकट किया है, यह जानना उनके लिए आवश्यक है ।

दयानन्द के हृदय मे कुरान व पुराण के लिए भी कोई आदर न था, और उन्होंने सनातन ब्राह्मण धर्म को भी अपने पैरो से कुचल डाला । उनके हृदय मे किसी भी प्राचीन व नवीन, अपने ऐसे देशवासी के लिए जिसने एक समय समस्त देशो का सिरताज, भारतभूमि के सहस्र वर्ष व्यापी पतन में हिस्सा लिया हो, कोई दया का भाव न था ।[1] वह उन सब व्यक्तियो के, जिन्होंने उनके मतानुसार सच्चे वैदिक धर्म को विकृत व कलकित किया था, निर्मम समालोचक थे ।[2] वह लूथा के समान थे—जिसने अपने देश के विभ्रान्त व विपथ

---

१ उनका भारतीय इतिहास का वर्णन बडा मनोरञ्जक है, जो कि सत्रहवी शताब्दी की बौसट की प्रसिद्ध आवेगमयी रचना 'Discourse on Universal History" के समान है । इसमे मनुष्य जाति के जन्म व समस्त पृथ्वी पर (अमेरिका एव समुद्रवर्ती द्वीपो सहित) भारत के आधिपत्य का वर्णन है । (कारण उनके मतानुसार 'नाग' (सर्प) जाति और पुराणो की कथाओ मे वर्णित रसातलवासी दैत्य, दानव आदि जातियाँ पृथ्वी के विरोधी ध्रुवो की निवासी है, और असुरो और राक्षसो से युद्ध का अर्थ असीरियनो और निग्रो जाति के साथ युद्ध है) : दयानन्द समस्त पौराणिक गाथाओ को पृथ्वी पर होने वाली घटनाएँ मानते हैं । वह महाभारत मे वर्णित सहस्रवर्षीय युद्ध को ही, जिसमे भारत ने अपना सर्वनाश कर दिया था, भारत के समस्त दुर्भाग्य व वैदिक सभ्यता व सस्कृति के विनाश का कारण मानते हैं । • • वह न केवल उसके परिणामस्वरूप पैदा हुए भौतिकवाद से ही, अपितु जैनधर्म से भी घृणा करते थे। वह शंकराचार्य को आध्यात्मिक क्षेत्र मे भारतवर्ष के हिन्दू स्वतन्त्रता युद्ध का सबसे पहला गौरवान्वित यद्यपि असफल नेता मानते थे । शकराचार्य ने कुसस्कारो की वेडी को विनष्ट करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे उसमे सफल न हो सके । वह इस स्वतन्त्रता-युद्ध मे ही मारे गए, परन्तु वह स्वय जैनधर्मियो, विशेषत. माया के जाल मे फँस गए थे । परन्तु दयानन्द स्वप्नदर्शी न थे, वह कठोर वास्तविकतावादी व्यक्ति थे । इसलिए मायावाद ने उनके हृदय मे एक तीव्र घृणा का सचार कर दिया ।

२ वे सब प्रकार की मूर्तिपूजा को पाप समझते थे, और परमात्मामा के अवतार को असम्भव व धर्म-विरुद्ध कहते थे ।

परिचालित रोम के चर्च के विरुद्ध आक्रमण किया था।[1] और उनका प्रथम लक्ष्य यह था कि धार्मिक पुस्तको मे स्रोतो को मनुष्य मात्र के लिए खोल दिया जाए ताकि वह स्वय उनका रसपान कर सके। इसके लिए उन्होने वेदो की देशी भाषा[2] मे व्याख्याएँ लिखी—भारतवर्ष मे वास्तव मे वह एक नवीन युग का प्रारम्भ था, जव कि एक ब्राह्मण ने न केवल यह स्वीकार किया कि प्रत्येक मनुष्य को वेद पढने का अधिकार है, अपितु यहाँ तक जोर दिया कि वेदो का पठन-पाठन व प्रचार प्रत्येक आर्य का परम कर्त्तव्य है।[3]

---

१. वह 'ब्राह्मणो' को 'पोप' कहकर उनका तिरस्कार करते थे।

२ सन् १८७६ से १८८३ तक उन्होने एक पण्डित मण्डली को नियुक्त किया था। वह स्वय सस्कृत मे लिखते थे, और पण्डितगण उसका हिन्दी मे अनुवाद करते थे। तथापि मूलमत्र का वे स्वय अनुवाद करते थे। उनके अनुवाद मे पहले प्रत्येक मत्र का व्याकरणात्मक व मूलधात्वात्मक विश्लेषण, और उसके वाद साधारण भाव को समझाने वाली व्याख्या का समावेश है। परन्तु उनके पास इतना समय न था कि वे अनुवाद को पुनः सशोधित कर सकते।

३. लाहौर से प्रकाशित आर्य समाज के दस नियमो मे से तीसरा नियम : (१८७७) : "वेद सत्य ज्ञान के ग्रथ हैं। उनका पठन-पाठन प्रत्येक आर्य का मुख्य धर्म है।"

यह एक विचित्र आकस्मिक घटना थी कि दयानन्द ने ईसाई धर्म के वढते हुए प्रवाह के विरुद्ध, वैदिक धर्म की स्थापना के आधार पर, थियोसोफिकल सोसाइटी नामक एक पाश्चात्य सम्प्रदाय के साथ कई वर्ष तक (१८७६-१८८१) एक कूटनीतिक सम्वन्ध स्थापित किया। व्लैवस्टकी नामक एक रशियन महिला, और कर्नल आल्कौट नामक एक अमेरिकन व्यक्ति ने मिलकर सन् १८७५ मे दक्षिण भारत मे थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की थी—जिसका मुख्य ध्येय हिन्दुओ को अपने धर्मग्रन्थो, विशेषतः गीता और उपनिषदो के, जिन्हे ६ जिल्दो मे अल्कौट ने सस्कृत मे प्रकाशित किया था, पढने के लिए प्रोत्साहित करना था। इस सस्था ने भारतीय स्कूलो की स्थापना के लिए भी, विशेषतः लका मे, प्रयत्न किया, और "अछूतो" के लिए भी स्कूल खोलने का साहस किया। इससे भारत की राष्ट्रीय, धार्मिक व सामाजिक जागृति को प्रोत्साहन मिला, और ऐसा प्रतीत होता था कि दयानन्द इस सस्था के सहयोग मे कार्य करेंगे। परन्तु जव

यह ठीक है कि उनका अनुवाद एक प्रकार की व्याख्या है, और उसमे उन्होंने मूल पुस्तक से जो सिद्धान्त, व स्थापनाएँ प्रतिपादित की है, उनकी यथार्थना[1], तथा वेद, जिसे कि वह सृष्टि से पूर्व ईश्वर द्वारा दिया हुआ अपौरुपेय ज्ञान मानते थे, उसकी निर्भ्रान्तिता व स्वतः प्रामाणिकता का उनका दावा, और अन्य धर्मों के प्रति उनका अविश्वास व तिरस्कार प्रदर्शन, कर्म मे उनका अटल विश्वास, सग्राम मे उनकी पूर्ण आस्था[2] और सर्वोपरि उनका राष्ट्रीय भगवान्—

सोसाइटी ने उनके शब्दो पर विश्वास करके, वास्तव मे उनके नियमित सहयोग के लिए हाथ वढाया, तव उन्होंने उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, और इस प्रकार भारत मे थियोसॉफिकल सोसाइटी के आध्यात्मिक प्रभुत्व को एकदम असमव बना दिया। तब से इस सस्था का वह महत्त्व नही रहा है, परन्तु यदि यह सत्य है कि वनारस के हिन्दू कालेज की स्थापना मे एनी विसेण्ट का मुख्य हाथ रहा है, तो सामाजिक रूप से उसकी उपयोगिता अब भी है। इस सोसाइटी मे प्राच्य और पाश्चात्य के अद्भुत मिश्रण मे जो आग्ल व अमेरिकन प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है, उसने हिन्दू अध्यात्मविद्या के विशाल व उदार विषय को अपनी उदात्त परन्तु सकुचित व्यवहारवादी मनोवृत्ति से विकृत कर दिया है। इसके साथ यह भी उल्लेख योग्य है कि वह अपने-आपको एक पादरी के समान प्रामाणिक सभा मानती है, जिसके निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नही है, यद्यपि उसकी यह भावना पर्दे के अन्दर छिपी हुई है तथापि वह कम असहिष्णु नही है। विवेकानन्द के तुल्य स्वतन्त्र विचारको ने भी इसे अनुभव किया है, जैसा कि हम आगे देखेंगे, कि अमेरिका से लौटने के वाद उन्होंने इसकी तीव्र निन्दा की है।

इस विषय मे थियोसॉफिकल सोसाइटी के समर्थन मे, जी० ई० मोनोड, हरजन, ने "An Indo-European Influence, the Theosophical Society" (Feuilles de l' Inde, No १ पैरिस १६२८) लेख, और काउण्ट, एच०, के० सरलिङ् ने अपनी Table diary of a Philosopher १६१८ मे एक सुन्दर, विस्तृत व द्वेषपूर्ण अध्याय लिखा है।

१ परन्तु उसकी सच्ची निष्ठा नही, जो कि समस्त आक्रमणों के विरुद्ध उनकी रक्षक है।

२ दयानन्द ने अपनी पुस्तक सत्यार्थप्रकाश के अन्त मे जो नियम पालन करने के लिए लिखे हैं, उनमे उन्होंने आदेश किया है . "दुष्ट पुरुष चाहे अत्यन्त

मह सब ऐसी वस्तुएँ जिनमे वहुत कुछ समालोचना के योग्य[1] हैं।

दयानन्द के अन्दर हृदय की उच्छ्वास धारा न थी, मनुष्यो व उनके देवताओं को अपने स्फीतालोक से आप्लावित करने वाला आध्यात्मिकता का प्रशान्त सूर्य न था—उनके अन्दर रामकृष्ण के जीवन की समस्त सत्ता से विकीर्ण होने

शक्तिशाली चक्रवर्ती राजा भी क्यो न हो, उसका विरोध करो, उसे नीचे गिरा दो, व नष्ट कर दो। अनेक कष्टो को सहन करते हुए भी व अपने जीवन को खतरे मे डालकर भी हमेशा अन्याय की जड को उखाडने व सत्य की प्रतिष्ठा करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहो।"

१. "आर्य समाज वेदो में वर्णित केवल एक अद्वितीय ईश्वर की ही स्तुति, पूजा व उपासना करेगा · ईवर व विश्व के पदार्थों के सम्वन्व मे धारणा, केवल वेद व उन अन्य सत्य शास्त्रो पर ही आधारित है" जिनका कि उसने निर्देश किया है।

परन्तु अद्भुत प्रतीत होने पर भी (उस समय की आवोहवा एकता के लिए इतनी प्रवल थी) राममोहन राय व केशव के एकतावाद के समान ही दयानन्द के राष्ट्रीयतावाद मे भी एक विश्वव्यापिता की भावना थी।

"समस्त मनुष्य-जाति का मगल साधन ही समाज का उद्देश्य होना चाहिए" (१८५७ के प्रथम आर्य समाज के सिद्धान्त)।

समाज का प्रथम व मुख्य उद्देश्य मनुष्य-जाति की शारीरिक, मानसिक एव सामाजिक उन्नति द्वारा समस्त विश्व का कल्याण साधन करना है।" (१८७७ मे सशोधित लाहौर आर्य समाज के सिद्धान्त)।

"मैं विश्वव्यापी सिद्धान्तो पर प्रतिष्ठित एव मानव समाज जिसे अव तक सत्य मानकर ग्रहण करता चला आया है, और जिसे भविष्य मे भी उसी प्रकार सत्य मानेगा, उस सवका अपने अन्दर समावेश करने वाले धर्म मे विश्वास करता हूँ। इसे ही मैं धर्म मानता हूँ सनातन आदिम धर्म (क्योकि वह परस्पर विरोधी मानवीय विश्वासो से ऊपर है) · । केवल उसे ही, जिसमे कि सव मनुष्य सव युगो मे विश्वास कर सकते हैं, मैं ग्रहणीय मानता हूँ।" (सत्यार्थप्रकाश)

अन्य सव उत्साही धर्मविश्वासो के समान ही, यद्यपि सर्वथा सच्चे हृदय से वह सनातन और विश्वव्यापक 'सत्य' की धारणा को, जिसकी कि वह सेवा करने का दावा करते हैं, अपने वैयक्तिक विश्वास के साथ मिला देते हैं। सत्य की परीक्षा के लिए उन्होंने पाँच प्रारम्भिक कसौटियाँ दी हैं ·

वाली उष्ण कविता, व विवेकानन्द की प्रभावशाली कवित्व शैली भी न थी, परन्तु उनके अन्दर एक भयानक शक्ति थी, अटल निश्चय था तथा शेर का शोणित था। उनका ही उन्होंने भारत के क्षीण व निर्वल देह मे प्रवेश कराया। उनके शब्द वीरता की ध्वनि से गूंजते थे। उन्होंने भाग्य के आगे सिर झुकाने वाले निष्क्रिय, पार्थिव मनुष्य को यह स्मरण कराया कि उसकी आत्मा मुक्त है, और कर्म ही भाग्य का निर्माता है।[1] उन्होंने सव प्रकार के विशेषाधिकारो व कुसस्कारो के दुर्गम जजाल को तीक्ष्ण पाटल के निरन्तर प्रहारो से छिन्न-भिन्न कर

उनमे से प्रथम दो, वेदो की शिक्षा, और ईश्वर के स्वभाव व गुणो का जो वर्णन उन्होंने किया है, उसके साथ अनुकूलता है। वे समस्त मानवता के ऊपर वेदो को प्रतिष्ठित करने के अपने अधिकार मे क्योकर सन्देह कर सकते थे, जवकि वह यह मानते थे कि उनके अन्दर, जैसा अरविन्द घोष ने भी कहा है : 'धार्मिक, नैतिक व वैज्ञानिक सत्यो का पूर्ण प्रकाश विद्यमान है। इसकी धार्मिक शिक्षा एकेश्वरवादी है, और वेदो मे वर्णित देवताओ के अनेक नाम एक ही ईश्वर के विभिन्न गुणो को वर्णन करने वाले भिन्न-भिन्न नाम हैं, साथ ही वे प्रकृति मे कार्य करने वाली उसकी विभिन्न शक्तियो के ही सूचक हैं। और वेदो के सत्य ज्ञान के द्वारा हम उन सव वैज्ञानिक सत्यो को, जिनका आधुनिक अनुसधान द्वारा आविष्कार हुआ है, जान सकते हैं।" (वेद का रहस्य, आर्य, नवम्वर १६१४, पाण्डिचेरी)।

दयानन्द की वेदो की यह राष्ट्रीयतावादी व्याख्या प्राचीन भारत के दर्शन, अनुष्ठान, आचार-व्यवहार को पुनः जागृत व प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से अनेक पुस्तिकाओ के प्रवाह के रूप मे प्रकट हुई। पश्चिम के विचारो के विरुद्ध प्राचीन आदर्शों की एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई। (प्रवुद्ध भारत, नवम्वर १६२८ देखिए)।

१. "भाग्य के आदेश को मानने की अपेक्षा एक उत्साहमय कर्मशील जीवन अधिक श्रेष्ठ है। भाग्य कर्मों का ही परिणाम है। निर्विरोध आत्म-पराजय की अपेक्षा सत्कर्म ही श्रेयस्कर है।"

"आत्मा एक स्वतन्त्र सत्ता है, जो अपनी इच्छानुसार कार्य करने मे स्वतन्त्र है। परन्तु कर्मफल का भोग ईश्वर की करुणा पर निर्भर है।" (सत्यार्थ प्रकाश)

दिया। यद्यपि उनका आध्यात्मिक शास्त्र नीरस व अस्पष्ट[1] था, और उनका ईश्वरवाद सकुचित और मेरी सम्मति मे प्रतिगामी था, तथापि उनके सामाजिक कार्यों व आचार-व्यवहारो मे एक निर्भीक साहसिकता पाई जाती है। वास्तव मे वह क्रियात्मक रूप से ब्रह्मसमाज से और आज का रामकृष्ण मिशन भी जहाँ तक आगे बढने का साहस करता हैं, उससे भी आगे जा चुके थे।

उनकी सस्था, आर्यसमाज स्त्री-पुरुषो के समानाधिकारो के साथ, सब राष्ट्रो व जातियो के सब मनुष्यो के लिए एक समान न्याय के सिद्धान्त की स्थापना करता है। वह वशपरम्परागत वर्णव्यवस्था को अस्वीकार करता है, और समाज मे केवल मनुष्यो की रुचि के अनुसार विभिन्न पेशो व समुदायो के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इस प्रकार कर्मों के अनुसार जो विभिन्न वर्णों की सृष्टि होगी, उसमे धर्म का कोई दखल न होगा, केवल राष्ट्र ही जो कि कर्तव्य कर्मो का निर्धारण करता है, उसमे दखल दे सकेगा। राष्ट्र ही समाज के मगल की कामना से किसी व्यक्ति को पुरस्कार व दण्ड के रूप मे एक वर्ण से दूसरे वर्ण मे उठा व गिरा सकता है। दयानन्द चाहते थे कि प्रत्येक मनुष्य को इतना ज्ञान प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हो कि वह अपनी योग्यतानुसार समाज के उच्चतर शिखर पर पहुँच सके। सबसे बढकर, वह अस्पृश्यता के घृणित अन्याय के अस्तित्व को कदापि न सहन करते थे, और उनसे बढकर अस्पृश्यो के पददलित अधिकारो का अन्य कोई समर्थक न था। आर्यसमाज मे समानता के आधार पर उन्हे प्रविष्ट किया जाता था, कारण, आर्यसमाज कोई जाति व वर्ण न था। "उच्च व श्रेष्ठ सिद्धान्तो को माननेवाले मनुष्यो का नाम ही आर्य है। और जो मनुष्य दुष्टता व पाप का जीवन व्यतीत करते हैं, वे ही दस्यु हैं।"

---

१ ऐसा प्रतीत होता है, दयानन्द तीन शाश्वत सत्ताओ को मानते हैं: ईश्वर, आत्मा और प्रकृति, जो विश्व का भौतिक उपादान है। ईश्वर और आत्मा दो विभिन्न सत्ताएँ हैं, उनके गुण भी परस्पर विनिमय योग्य नही हैं, और उनमे से प्रत्येक कुछ विशेष-विशेष कार्य करते है। फिर वे परस्पर अवि-च्छेद्य हैं। सृष्टि, ईश्वरीय शक्ति की प्राथमिक तत्त्वो पर मूल क्रिया द्वारा होती है, जिन्हे वह परस्पर सयुक्त करती है, व व्यवस्था प्रदान करती है। आत्मा का पार्थिव बन्धन अज्ञान के कारण है। अज्ञान व भ्राति से मुक्ति, व परमात्मा की स्वतन्त्रता की प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है। परन्तु यह सामयिक ही होती है, और अवधि व्यतीत हो जाने पर आत्मा को पुनः शरीर धारण करना पडता है' इत्यादि।

भारत मे स्त्रियो की शोचनीय अवस्था को उन्नत करने के धर्मयुद्ध में भी दयानन्द कम उदार व साहसी न थे। उन्हे जो अन्याय व अत्याचार सहन करने पडते थे, उनके विरुद्ध उन्होंने विद्रोह की घोषणा की, और भारतवासियो को याद कराया कि भारत के स्वर्णयुग मे उन्हे भी समाज व परिवार मे मनुष्यो के समान आदर प्राप्त था। उनके मतानुसार उन्हे भी पुरुषो के समान शिक्षा की सुविधाएँ और विवाह[1] सम्बन्ध मे स्वतन्त्रता तथा गृहस्थी के प्रबन्ध व आर्थिक व्यवस्था में पूर्ण अधिकार प्राप्त होना चाहिए। दयानन्द वास्तव मे विवाह मे स्त्री और पुरुष का समान अधिकार मानते थे। विवाह को अविच्छेद्य मानते हुए भी वे विधवा-विवाह को शास्त्रसम्मत मानते थे, और यहाँ तक कहते थे कि विवाहित स्त्री के सन्तान न होने पर सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से स्त्रियो और पुरुषो का सामयिक सम्बन्ध भी शास्त्रविहित है।

अन्ततः आर्यसमाज ने जिसका आठवाँ नियम "ज्ञान विस्तार व अज्ञान का नाश करना था" भारत मे शिक्षा के प्रचार मे बडा हिस्सा लिया। विशेषकर पजाब तथा सयुक्तप्रान्त मे इसने बालक तथा बालिकाओ के अनेक स्कूलो की स्थापना की। उनके क्रियाशील छत्ते दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज लाहौर, और गुरुकुल काँगडी इन दो आदर्श सस्थाओ के चारो तरफ दो दलो मे फैले हुए हैं। यह दोनो सस्थाएँ हिन्दू शिक्षा के सुदृढ दुर्ग हैं, जहाँ पर जातीय शक्तियो के पुन-र्जागरण के साथ-साथ पश्चिम की बुद्धि व कला कौशल की भी शिक्षा दी जाती है।[2]

---

१ विवाह मे कन्या की आयु सोलह वर्ष तथा वर की वायु पच्चीस वर्ष होनी चाहिये। दयानन्द बालविवाह के सर्वथा विरोधी थे।

२ आज से दस वर्ष पूर्व लाजपत राय द्वारा प्रकाशित पुस्तक के आधार पर मैंने यह लिखा है। संभवतः उस समय से शिक्षा का आन्दोलन अब और भी अधिक विस्तृत हो गया है।

सन् १८८६ मे लाहौर में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज की स्थापना हुई थी। वहाँ सस्कृत, हिन्दी, फारसी, अँगरेजी भाषाओ के साथ पूर्वीय व पाश्चात्य दर्शनशास्त्र, इतिहास, राजनीति व अर्थशास्त्र, विज्ञान, कला एव शिल्प की शिक्षा दी जाती है। गुरुकुल की स्थापना सन् १९०२ मे हुई, वहाँ विद्यार्थियो को सोलह वर्ष तक त्याग, ब्रह्मचर्य, और संयम व अनुशासन का जीवन व्यतीत करने का व्रत लेना पड़ता है। इस विद्यालय का उद्देश्य नैतिक शक्ति द्वारा हिन्दू दर्शनशास्त्र व साहित्यिक सस्कृति को पुनर्जागृत

इसके साथ ही अनाथ आश्रम, बालक-बालिकाओ के लिए दस्तकारी के शिक्षणालय, विधवाश्रम, और महामारी, दुर्भिक्ष व बाढ आदि अन्याय जातीय विपत्ति के अवसरो पर समाज-सेवा आदि और भी अनेक जनहितकारी कार्य है, जिनमे आर्यसमाज ने पूरा-पूरा भाग लिया है, और यह स्पष्ट है कि आर्य-समाज भावी रामकृष्ण मिशन का प्रतिद्वन्द्वी है ।[1]

दयानन्द ने जनसाधारण की उन्नति के लिए कितना महान् प्रयास किया है, यह दिखाने के लिए मैंने नेता की आत्मा से युक्त इस कठोर सन्यासी के बारे मे काफी कहा है । वास्तव मे वह राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जन्म व पुनर्जागरण के क्षण मे भारत मे तात्कालिक व वर्तमान कर्म की सर्वापेक्षा प्राणवान् शक्ति थे । उनके आर्यसमाज ने ही उनकी इच्छा व अनिच्छा से ही[2], सन् १६०५ मे बगाल के विद्रोह का मार्ग प्रस्तुत किया था । वह राष्ट्रीय सगठन व पुर्ननिर्माण करनेवाले अन्यतम श्रेष्ठ ऋषि थे । मेरे विचार मे वही इसके एकमात्र रक्षक थे, परन्तु उनकी शक्ति ही उनकी दुर्बलता भी थी । उनके जीवन का आदर्श कर्म था और उस कर्म का लक्ष्य उनका देश व राष्ट्र था । जिस देश व जाति ने वृहत्तर विश्व का स्वप्न न देखा हो, उसके लिए कर्म का सम्पादन व राष्ट्र का निर्माण पर्याप्त हो सकता है । परन्तु भारत के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नही है—क्योकि उसकी इच्छा के सम्मुख आज भी वृहत्तर विश्व विद्यमान है । ०

करके आर्यों के चरित्र का निर्माण करना है । पजाब मे स्त्री-शिक्षा के लिए भी एक बडा कालेज है, जिसमे सस्कृत, हिन्दी और अँगरेजी इन तीन भाषाओ व अन्य मानसिक विकास करनेवाले विषयो की शिक्षा के साथ स्त्रियोपयोगी विषयो और गृहस्थ-अर्थ-नीति की भी शिक्षा दी जाती है ।

१ ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय मे विवेकानन्द व उनके शिष्य दयानन्द से आगे बढ गए हैं । लाजपत राय ने आर्य समाज के सबसे प्रथम जनहितकारी कार्य के रूप मे सन् १८६७-१८६८ के दुर्भिक्ष मे की गई सहायता का उल्लेख किया है । सन् १८६४ से लेकर विवेकानन्द के एक अन्यतम शिष्य अखण्डा-नन्द ने समाज सेवा मे अपना जीवन अर्पण कर दिया था । सन् १८६७ मे रामकृष्ण मिशन ने भी अपनी शक्ति का बहुत बडा भाग दुर्भिक्ष व मलेरिया को दूर करने व उससे अगले साल प्लेग से जनता की रक्षा करने मे लगाया ।

२ पब्लिक मे उन्होंने इस विद्रोह मे भाग लेने से इनकार किया था । वह अपने-आपको राजनीति से पृथक् व अँगरेजो का अविरोधी कहते थे । परन्तु ब्रिटिश सरकार ऐसा न सोचती थी । वह उसके सदस्यो की चेष्टाओ के कारण आर्य समाज को सदेह की दृष्टि से देखती थी ।

७ रामकृष्ण और भारत के महान् जननायकगण

जिस समय पर्वतमाला के ऊपर निर्मल महिमा मे रामकृष्ण के नक्षत्र का उदय हुआ, उस समय भारत का नेतृत्व करनेवाले जननायक इस प्रकार के थे ।[1]

---

१ मैंने केवल श्रेष्ठतम नेताओ का ही उल्लेख किया है । इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक नेता हुए हैं । भारतवर्ष मे भगवान् के सदेशवाहको, धर्मो व सम्प्रदायो के सस्थापको का कभी भी अभाव नही रहा है, और इस समय मे उनका निरन्तर आविर्भाव होता रहा है । हैलमुथ वौन ग्लैसनप द्वारा हाल ही में रचित 'Religiose Reformbewegungen im heutigen Indien (१६२८, लीपजिग, जे० सी० हिरनिच, मौर्गेनलैण्ड संग्रह) मे दो अत्यन्त अद्भुत सम्प्रदायो : प्रथम अनीश्वरवादी; अति मानव (Superman) के उपासक देव समाज, ओर दूसरे रहस्यवादी दिव्य शब्द ब्रह्म के उपासक राधास्वामी सत्संग* का वर्णन है । यहाँ इन दोनो का उल्लेख नही किया गया है, क्योकि वे अपेक्षाकृत परवर्ती काल के हैं । देवसमाज की स्थापना यद्यपि सन् १८८७ मे शिवनारायण अग्निहोत्री ने की थी, तथापि इसका "अतिमानव" अनीश्वरवाद यह नाम सन् १८९४ मे पडा था । और

---

*शब्द से तात्पर्य उस सर्वशक्तिमान् सत्ता के प्रतिनिधि रहस्यमय शब्द से है (और जो कि प्रसिद्ध वैदिक 'ओ३म्' के सदृश एक गौण स्थान का अधिकारी नही है)—जो दिव्य शब्द विश्व के अन्दर कम्पित व स्पन्दित हो रहा है—यह वह उद्घोषित संगीत हैं, जिससे (प्राचीन कालीन ग्रीक व रोमन भाषा की परिभाषा मे) तारामण्डल का सगीत ध्वनित होता है । मैत्रायणी उपनिषद के रहस्यवाद मे इसी का कुछ परिवर्तित रूप मे वर्णन है ।

रामकृष्ण इन चारो आचार्यों मे से प्रथम आचार्य राममनोहर राय से स्वभावतः अपरिचित थे, परन्तु अन्य तीनो से उनका वैयक्तिक परिचय था। जो दुर्निवार भगवत्पिपासा उन्हे हर समय बेचैन बनाए रखती थी, और उन्हे अपने आपसे यह प्रश्न करने के लिए हमेशा व्याकुल करती रहती थी कि "क्या

"अतिमानव" देवगुरु (स्वय इस मत के प्रतिष्ठाता व्यक्ति) ने युक्ति, नैतिकता व विज्ञान के नाम पर प्रारम्भ मे स्वय अपने आपको उपास्यदेवता बतलाकर ईश्वर के विरुद्ध जिस उत्कट सग्राम की घोषणा की थी, वह अब भी उसी प्रकार जारी है। राधास्वामी सत्सग की प्रतिष्ठा एक दूसरे के उत्तरवर्ती परन्तु आपस मे सर्वथा अनुरूप तीन क्रमिक गुरुओ द्वारा हुई है, जिनका क्रमशः १८७८, १८९८ व १९०७ मे देहावसान हुआ है। गत शताब्दी के अन्त से ही इस सम्प्रदाय का विशेष प्रचार हुआ है। अतएव मैंने अपनी इस आलोचना मे उसे स्थान नही दिया है। देवसमाज की प्रतिष्ठा भूमि लाहौर है, और इसके अनुयायी भी प्रायः सब पजाबी हैं। राधास्वामी सत्सग के मुख्य केन्द्र इलाहाबाद और आगरा यह दो नगर हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि ये दोनो ही स्थान उत्तर भारत मे हैं। दक्षिण भारत मे नव सम्प्रदायो के उद्भव के बारे मे ग्लैसनप ने कोई उल्लेख नही किया है, परन्तु वे भी सख्या से कम नही है। महागुरु श्रीनारायण स्वामी का धर्म ऐसा था कि चालीस वर्ष से भी अधिक समय तक उसके लोकहितकारी आध्यात्मिक कार्यों ने ट्रावनकोर रियासत के कई लाख विश्वासी मनुष्यो के जीवनो पर अपना प्रभाव डाला है। (सन् १९२८ मे उसकी मृत्यु हुई है)। उसके सिद्धान्त शकर के अद्वैतवादी दर्शन से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, परन्तु वह कर्म के प्रति प्रेरणा करने वाले हैं, और इस कर्मानुराग के कारण ही बगाल के रहस्यवाद से उसका मतभेद है, और वह उसके भक्ति के आवेगो को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। यह कहना युक्तिसगत होगा कि वह कर्म के ज्ञान का, एक महान् बौद्धिक धर्म का, जिसने सर्वसाधारण जनता, व उसकी सामाजिक आवश्यकताओ को ठीक तरह समझा था, प्रचार करता था। दक्षिण भारत मे दलित जातियो के उद्धार मे इसने महान् कार्य किया है, और इस विषय मे इसके प्रयत्न गाधीजी से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। (सन् १९२८ के दिसम्बर मास व उसके बाद के कुछ महीनो मे जेनेवा के 'दी सूफी क्वार्टर्ली' पत्रिका मे श्रीनारायण के शिष्य पी० नटराजन के लेख देखिये)।

अन्य कोई ऐसे जलस्रोत नही है, जिन्हें कि उन्होंने पाया है, पर जिनका रसपान मैं नही कर सका हूँ ?" उससे प्रेरित होकर ही वह पहले पहल उनसे मिले थे। परन्तु उनके अभ्यस्त नेत्र प्रथम दृष्टि मे ही उन्हे पहचान लेते थे। उनकी आलोचना शक्ति हमेशा अक्षुण्ण रहती थी। जब वह पिपासाकुल भक्ति के साथ उनका जलपान करने के लिए उनके पास जाते थे, तो वे प्राय- व्यग मिश्रित हँसी के साथ यह शब्द कहते हुए वापिस आ जाते थे कि 'उनका अपना स्रोत ही इससे बेहतर है।' वह बाहरी चमक-दमक, टीपटाप और वाक्चातुर्य मे चकाचौंध हो जाने वाले व्यक्ति न थे। उनकी मुद्रित आँखे अन्दर की गहराई मे से चमकनेवाले ज्योतिर्मय भगवान् के मुखमण्डल के प्रकाश के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के सम्मुख न झपकती थी उनके नेत्रो की दृष्टि देह के प्राचीर को भेदकर मानो खिडकी के मार्ग से भीतर प्रविष्ट होकर उत्सुकता व कौतूहल के साथ हृदय का कोना-कोना टटोल डालती थी। परन्तु वहाँ पर वह दृष्टि जो कुछ देख पाती थी, उससे कभी-कभी उनके अन्दर एक आकस्मिक प्रशान्त हास्य का उदय होता था परन्तु उसमे किसी प्रकार के द्वेष व ईर्ष्या की भावना का लेशमात्र न होता था।

प्रभावशाली देवेन्द्रनाथ टैगोर के साथ अपनी मुलाकात का जो वर्णन रामकृष्ण ने स्वय दिया है, वह हास्य रस का एक सुन्दर चुटकला है, जिसमे महागुरु "राजर्षि जनक" के प्रति "छोटे भाई" का आलोचनात्मक व्यग्य-हास्य तथा भश्रद्धापूर्ण श्रद्धा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

एक दिन[1] एक प्रश्नकर्ता ने उनसे पूछा : "क्या ससार और भगवान् का सामंजस्य समव है ? महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर के बारे मे आपकी क्या सम्मति है ?"

रामकृष्ण ने धीरे से कहा : "देवेन्द्रनाथ टैगोर देवेन्द्रनाथ, देवेन्द्र" .. यह कहकर उन्होंने कई बार सिर झुकाकर नमस्कार किया। और फिर बोले :—

"क्या तुम जानते हो वे कौन हैं ? एक समय का किस्सा है कि एक आदमी बडी धूमधाम के साथ दुर्गापूजा का त्यौहार मनाया करता था। प्रातःकाल से लेकर रात तक बकरो की बलि दी जाती थी। परन्तु कुछ वर्षों के बाद बलि की

१ केशवचन्द्र सेन। ए० कुमार दत्त नामक एक प्रत्यक्षदर्शी ने इस कथोपकथन का वर्णन किया है (स्वामी रामकृष्ण की जीवनी)।

वह धूमधाम नही रही । किसी व्यक्ति ने उस आदमी से पूछा कि 'वलि इतनी कम क्यो कर दी गई है ?' उसने उत्तर दिया : "अव मेरे दाँत गिर गये हैं ।"

और श्रद्धारहित कथावाचक ने अपना कथन जारी रखते हुए आगे कहा . "यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि इस वृद्धावस्था मे देवेन्द्रनाथ योगाभ्यास करते हैं ।[1] यह कहकर वे कुछ देर रुके और फिर एक वार नतमस्तक होकर कहने लगे : "निस्सन्देह वे एक आदर्श मनुष्य हैं ।" इसके वाद उन्होंने उनके साथ अपनी मुलाकात का इस प्रकार वर्णन किया[2] :—

---

१. यह स्वीकार करना पडता है कि रामकृष्ण का यह व्यग देवेन्द्रनाथ के प्रति एक घोर अन्याय का सूचक है । समवतः न जानने के कारण ही, रामकृष्ण ने महर्पि को पूर्ण निस्वार्थता और उनके अनेक वरसरव्यापी उदार व कठोर आत्मत्याग का कोई वर्णन नही किया है । इसमे एक उच्च कुलीन व्यक्ति के प्रति जनसाधारण के मनोभाव का ही परिचय मिलता है ।

शशि भूषण घोप ने अपनी वगाली स्मृति-कथा मे (पृष्ठ २४५-२५७) इसका जो विवरण दिया है, उसमे रामकृष्ण की गम्भीर अन्तर्भेदी दृष्टि शक्ति की अक्षुण्णता को कायम रखते हुए, उक्त व्यग की कटुता को कम कर दिया गया है, जिससे राजर्पि के प्रति अधिक न्याय हुआ है ।

रामकृष्ण ने कहा, कि देवेन्द्रनाथ से उनका परिचय इन शब्दो के साथ कराया गया : "यह एक भगवत्-उन्मत व्यक्ति हैं ।" मुझे ऐसा मान हुआ कि देवेन्द्रनाथ एक अहकारी व्यक्ति हैं, और इतने ज्ञान, इतने सम्मान, इतनी सम्पत्ति और इतनी श्रद्धा के अधिकारी होकर वह, अहकार से मुक्त भी किस प्रकार हो सकते थे ? परन्तु मैंने यह जान लिया कि उनके जीवन मे योग और भोग (भौतिक वासना-तृप्ति) साथ-साथ चल रहे हैं । "मैंने उनसे कहा : 'इस कलियुग मे आप एक सच्चे राजा जनक हैं । जनक दोनो पार्श्वों को ही एक साथ देखते थे । इसी तरह आपने भी अपनी आत्मा को भगवान् के अर्पण कर दिया है, जबकि आपका शरीर भौतिक जगत मे विचरण करता है अतएव मैं आपके दर्शन के लिए आया हूँ । मुझे परमात्मा के वारे मे कुछ वताइये ।' "

२ उस समय रवीन्द्रनाथ टैगोर केवल चार वर्ष के थे । रामकृष्ण के पृष्ठपोषक माथुर वावू देवेन्द्रनाथ के सहपाठी थे, और उन्होंने ही देवेन्द्रनाथ के साथ रामकृष्ण का परिचय कराया था । इस साक्षात्कार का कौतूहलोद्दीपक विशद वर्णन हमारे योरोपीय देह-मनोवैज्ञानिको के लिए एक मनोरजन की

"जब मैंने पहले पहल उन्हे देखा तो मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि वे एक अहकारी व्यक्ति हैं। और यह सर्वथा स्वाभाविक ही था। क्योकि उनके पास इतनी अच्छी-अच्छी वस्तुएँ थी : उच्चवश, सम्मान, मर्यादा, धन-सम्पत्ति सभी कुछ था. . अकस्मात् मैं उस अवस्था मे आ गया जबकि मैं किसी मनुष्य के अन्तस्तल को देख सकता था। उस अवस्था मे मैं महान् से महान्, धनी मे धनी व पण्डित से पण्डित व्यक्ति को भी यदि उसमे भगवान् का प्रकाश नही पाता तो, उसे तृण के समान देखता हूँ .और मुझे अकस्मात् हँसी आ गई. .क्योकि मैंने देखा कि यह व्यक्ति सांसारिक जीवन का आनन्द लेने के साथ ही धार्मिक जीवन भी व्यतीत कर रहा है। उनके अनेक सन्ताने थी, और सब छोटी आयु की थी। अतएव एक महान् ज्ञानी होते हुए भी उन्हे संसार से सम्बन्ध रखना पड़ता था। मैंने उनसे कहा : "आप इस युग के राजर्षि जनक हैं। ससार से सम्बन्ध रखते हुए भी आपने उच्चतर उपलब्धि प्राप्त की है। आपका शरीर ससार मे हैं, परतु आपका मन भगवान् के ऊर्ध्वलोक मे है। मुझे भगवान् के विषय मे कुछ बताइए।'

देवेन्द्रनाथ ने वेद[1] से कुछ सुन्दर मन्त्र पढकर उन्हें सुनाए, और चिर-परि-

---

वस्तु हो सकती है। प्रथम परिचय होने के साथ ही रामकृष्ण ने देवेन्द्र को अपनी छाती खोलकर उन्हे दिखाने के लिए कहा। देवेन्द्रनाथ ने किसी प्रकार के विस्मय का भाव न प्रकट करते हुए वैसा ही किया। उनकी त्वचा का रंग लाल था। रामकृष्ण ने उसकी परीक्षा की। छाती की यह स्थायी रक्तिमा कुछ विशेष प्रकार की योगसाधनाओ का विशेष लक्षण है। रामकृष्ण हमेशा योगाभ्यास की शिक्षा देने व उससे इनकार करने से पूर्व अपने शिष्यो की छाती, उनकी नि.श्वास-प्रश्वास क्षमता, और उनके रक्त-सचार की स्वस्थता की परीक्षा किया करते थे।

१. "यह विश्व झाडफानूस के समान है। हममे के प्रत्येक उसकी एक-एक बत्ती के सदृश है। यदि हम ज्वलित न हो तो सारा झाडफानूस ही अन्धकारमय हो जाय। परमात्मा ने अपनी महिमा प्रदर्शन के लिए ही मनुष्य की सृष्टि की है।. .."

शशि के वर्णनानुसार रामकृष्ण ने सरल रूप मे इस प्रकार अपना विचार प्रकट किया ·

"बडे आश्चर्य की बात है! जब मैं पञ्चवटी (दक्षिणेश्वर के उद्यान) मे बैठकर ध्यान करता था तो मुझे भी एक प्रकार का झाड़फानूस दिखाई देता था। देवेन्द्रनाथ अवश्य ही एक गम्भीर ज्ञानी हैं।"

चित व्यक्तियो के समान उनमे वातचीत होने लगी। देवेन्द्रनाथ अपने अतिथि के नेत्रो के तेज को देखकर वहुत प्रभावित हुए और अगले दिन उन्हें भोजन के लिए आमन्त्रित किया। परन्तु उन्होंने साथ ही यह अनुरोध किया कि यदि वे आना चाहें तो "अपने वदन को कुछ ढककर आवे" कारण रामकृष्ण का कपडो की तरफ कोई ध्यान नही था। रामकृष्ण ने नि:सकोच भाव से विनोदपूर्वक उत्तर दिया कि 'मैं यह आश्वासन नही दे सकता। मैं जैसा हूँ, वैसा ही हूँ, और वैसे ही आऊँगा।' इस प्रकार वे हार्दिक सद्भावना के साथ एक-दूसरे से विदा हो गए। परन्तु अगले दिन प्रात.काल ही कुलाभिमानी देवेन्द्रनाथ ने रामकृष्ण को एक सौजन्यपूर्ण सक्षिप्त पत्र द्वारा यह सूचना दी कि वे आने का कष्ट न करे और इस प्रकार सारा खेल समाप्त हो गया। कुलीनता अपने पजे के एक ही स्नेहसिक्त आघात के वाद पीछे आदर्श-वाद के स्वर्ग की सुरक्षित गुफा मे चली गई।

दयानन्द के वारे मे और भी सक्षेप मे रामकृष्ण ने अपना यह निर्णय प्रकट किया कि यह और भी निम्नतर कोटि के व्यक्ति हैं। यह अवश्य स्वीकरणीय है कि सन् १८७३ के अन्त मे, जव कि उक्त दोनो महापुरुषो को परस्पर भेंट हुई, तव तक आर्यसमाज की स्थापना न हुई थी—और समाज-सुधारक दयानन्द अपने कर्मजीवन के वीच मे ही थे। जव रामकृष्ण ने उनकी परीक्षा[1] की, तो उन्होंने उनमे 'कुछ शक्ति' पाई, जिससे उनका अभिप्राय 'भगवान् के साथ वास्तविक

---

१ रामकृष्ण ने दयानन्द के वक्ष मे भी रक्तिमा की परीक्षा की थी। महेन्द्रनाथ गुप्त ने २८ नवम्वर सन् १८८३ को (रामकृष्ण वचनामृत मे) दयानन्द के वारे में रामकृष्ण द्वारा कथित एक विशेष मन्तव्य का उल्लेख किया है। केशवचन्द्र वैदिक देवताओ मे विश्वास न करते थे। रामकृष्ण ने सुना था कि उसका प्रतिवाद करते समय दयानन्द ने उत्तेजित होकर कहा था कि "परमात्मा ने इतने सारे पदार्थ वनाए हैं, तो क्या वे देवताओ को न वना सकते थे ?" परन्तु अनेकेश्वरवाद के कट्टर शत्रु, दयानन्द, जिस मत का प्रचार करते थे, उसके साथ इसका कोई सामञ्जस्य नही है। क्या दयानन्द का कथन गलत रूप मे उनके सम्मुख पेश किया गया था, अथवा दयानन्द ने देवताओ के सम्वन्ध मे ऐसा न कहकर वेदो मे वर्णित यज्ञाग्नि के सम्वन्ध मे, जिनमे कि वेदो की प्रामाणिकता मे दृढ निश्चय के कारण विश्वास था, ऐसा कहा था ? दोनो ही अवस्थाओ मे इस प्रकट विरोध का कोई सन्तोष-दायक समाधान मुझे दिखाई नही देता।

सम्पर्क' से है। रामकृष्ण की दृष्टि मे दयानन्द का उत्पीडित व उत्पीडनकारी चरित्र, वेदो के रक्षक का सग्रामोन्मुख पौरुष, और उनका उत्तेजनापूर्ण यह आग्रह कि केवल वही सच्चे हैं, और इसलिए उन्हें अपनी इच्छा को दूसरो के ऊपर लादने का अधिकार है, यह सब बाते उनके आदर्श के ऊपर एक धब्बे के समान थी। वह दयानन्द को दिन-रात धर्म-शास्त्रो के बारे मे विवाद करते हुए, उनके अर्थों को तोडते व मरोडते हुए और किसी प्रकार भी एक नए सम्प्रदाय की स्थापना के लिए निरन्तर प्रयास करते हुए देखते थे। परन्तु इस प्रकार की वैयक्तिक व सासरिक सफलता की लालसा भगवत्प्रेम को दूषित कर देती है, इसलिए वे दयानन्द से दूर हट गए।

केशवचन्द्र के साथ उनका सम्बन्ध सर्वथा और ही प्रकार का था। वह अत्यन्त घनिष्ठ, स्नेहमय व चिरस्थायी था।

इन दोनो के सम्बन्ध मे कुछ कहने से पूर्व मैं दु ख के साथ यह प्रकट करना चाहता हूँ कि उन दोनो के ही शिष्यो ने पक्षपातपूर्ण विवरण दिये हैं। प्रत्येक के शिष्यो ने दूसरे भगवद्भक्त को अपने गुरु का अनुगत सिद्ध करने की चेष्टा की है। रामकृष्ण के शिष्य फिर भी केशवचन्द्र को सहानुभूति की दृष्टि से देखते हैं, और परमहस के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन के कारण उन्हे धन्यवाद देते हैं। परन्तु केशवचन्द्र के कुछ शिष्य, रामकृष्ण को, उनके गुरु पर उनके वास्तविक या काल्पनिक प्रभाव के कारण, क्षमा करने को सर्वथा उद्यत नही हैं। इसलिए ऐसे किसी प्रभाव को अस्वीकार करने के उद्देश्य से वे रामकृष्ण और केशव के बीच विचारो की एक दुर्लंघ्य दीवार खडी कर देते हैं। वे घृणापूर्वक रामकृष्ण के वास्तविक मूल्य को छिपाने की कोशिश करते हैं, और उनके सन्देशो का प्रचार करनेवाले, व उनकी ख्याति को चिरस्थायी बनाने वाले—विवेकानन्द को भी उन्होंने अपनी निन्दा का पात्र बना दिया है।[1]

---

१ मैं मुख्यतया बी० मजूमदार रचित 'Professor Max Muller on Ramkrishna, और The World on K Chunder Sen (१९०० कलकत्ता) पुस्तक के सम्बन्ध मे कह रहा हूँ। उक्त पुस्तक के निम्न अध्याय देखिए :—द्वितीय अध्याय 'Absurd Inventions and Reports made to Max Muller by the Disciples of Ramkrishna," तृतीय अध्याय "Differences between the two Doctrines," और सबसे बढकर अपमानजनक पचम अध्याय "Concerning Vivekanand, the Informant of Max Muller"। स्वामी विवेकानन्द ने अपने प्रचण्ड

परन्तु केशवचन्द्र की रचनाओ मे कुछ सुन्दर व सजीव पृष्ठो को पढकर, जिनमे कि विवेकानन्द के विचारो व कर्मों का स्पष्टरूप से पूर्वाभास मिलता है, मैं इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि रामकृष्ण मिशन ने ब्रह्मसमाज को जिस नीरवता व विस्मृति के गर्त मे डाल दिया है, उससे कुछ ब्राह्मगण विक्षुब्ध हो उठे हैं। मैं अपनी शक्ति के अनुसार इस अन्याय को दूर करने का प्रयत्न करूँगा—क्योकि मेरा विश्वास है, कि उन्होंने जान-बूझकर ऐसा नही किया है। परन्तु वे सब ब्रह्मसमाजी जो रामकृष्ण के प्रति केशवचन्द्र के नि.स्वार्थ स्नेह को छिपाना व उसे अपनी सकीर्ण सीमाओ मे आवद्ध रखना चाहते है वे केशवचन्द्र की स्मृति को ही लाछित करते हैं। केशव ने अपने समस्त सम्मानास्पद व श्रद्धेय जीवन मे, अपने यश के उच्चशिखर व विचार की उच्चकोटि पर आरूढ होते हुए भी शुरू से लेकर अन्त तक दक्षिणेश्वर के इस क्षुद्र व्यक्ति के प्रति, जो कि उस समय सर्वथा अज्ञात व अप्रसिद्ध था, जिस स्नेह और श्रद्धायुक्त सम्मान का परिचय दिया है, उससे वढकर इस महापुरुष के जीवन मे हमारे लिए और कोई अधिक प्रिय वस्तु नही है। इस भगवत्प्रेम मे पागल व्यक्ति के साथ श्रेष्ठतम विचारशील केशवचन्द्र के घनिष्ठ स्नेह-सम्वन्ध के कारण ब्रह्मसमाजी अपने स्वाभिमान को ठेस पहुँची अनुभव कर रामकृष्ण के भावावेश[1] के प्रति केशव की अश्रद्धा को प्रमाणित करने के लिए उनकी रचनाओ मे से जितने ही अधिक ऐसे उद्धरण पेश करने की चेष्टा करते हैं कि जिनमे उन्होंने उच्छृङ्खल व विकृत भावावेश की निन्दा की है, रामकृष्ण के साथ केशव के वास्तविक सम्वन्ध मे उतना ही अधिक विस्मयकारक विरोध है।

यह सत्य है कि भारत के अधिकाश धर्मप्राण व्यक्ति जिस प्रकार अपने व

धार्मिक तर्कों मे जिन अमेरिकन व अग्रेज पादरियो पर तीव्र प्रहार किया था—इस अध्याय मे पुस्तक लेखक ने उनसे हाथ मिलाने मे भी कोई सकोच नही किया है।

१ वी॰ मजूमदार लिखित उपर्युक्त पुस्तक का द्वितीय अध्याय देखिए। योग के वारे मे केशव ने अपने एक निवन्ध मे लिखा है "ज्ञान और भक्ति परस्पर एक दूसरे के स्थान मे व्यवहारयोग्य (पर्यायवाची) शब्द हैं। ज्ञानी के लिए ही भक्ति सभव है, अज्ञानी भक्त एक असभव वस्तु है।" परन्तु इससे रामकृष्ण के धार्मिक भावावेशो की निन्दा नही होती। कारण उसके लिए पहले यह प्रमाणित करने की आवश्यकता है कि रामकृष्ण के भावावेशो में एक उच्चतर ज्ञान का समावेश नही था। इससे केवल इतना ही प्रकट होता है

परमात्मा[1] के बीच एक मध्यस्थ गुरु को स्वीकार करते है, केशव ने इस प्रकार किसी व्यक्ति को अपना गुरु न माना था, और इसलिए रामकृष्ण के शिष्यो[2]

कि केशव की ध्यान-धारणाओ का रूप कुछ भिन्न प्रकार का है । उनके मतानुसार सनातन पुरुष के साथ मन का वह मिलन ही सर्वोच्च अवस्था है, जिसमें जीवन, समाज एव गृह के अनेक विभिन्न कार्यों के बीच भी मनुष्य की व्यावहारिक बुद्धि लुप्त नही होती । केशव के विचार ब्रह्मसमाज की आध्यात्मिक परम्परा के ही अनुसार थे । आगे तृतीय अध्याय मे मजूमदार ने केशव का यह उद्धरण दिया है : "जो योगी सिर्फ योग के लिए सर्वस्व त्याग कर देता है, उसे सौ वार धिक्कार है । . ..भगवान् ने जिनके पालन का भार हमारे ऊपर सौंप दिया है, उन्हें त्याग देना महापाप है ।" मजूमदार इन शब्दो मे रामकृष्ण के प्रति तिरस्कार की गन्ध देखते हैं, क्योकि उन्होंने अपनी पत्नी के प्रति अपने कर्तव्यो का उचित रूप से पालन नही किया । परन्तु यह कथन सर्वथा असत्य है कि रामकृष्ण ने अपनी पत्नी के प्रति कर्तव्य की अवहेलना की है । अपनी पत्नी के प्रति उनका प्रेम न केवल सर्वथा विशुद्ध व गम्भीर था, अपितु उन्होंने अपनी पत्नी मे भी उस प्रेम को उद्‌बुद्ध किया, जो कि उसके लिए निरन्तर शान्ति व प्रसन्नता का स्रोत था । रामकृष्ण ने अपनी पत्नी के प्रति अपने दायित्व को किस जिम्मेदारी के साथ निवाहा, और अपने शिष्यो को वे किस प्रकार उनके ऊपर आश्रित वृद्ध माता-पिता, पत्नी और वालको के प्रति अपने कर्तव्यपालन की निरन्तर शिक्षा देते थे—यह मैं पहले भी निर्देश कर चुका हूँ ।

१, केशवचन्द्र ने लिखा : "हे ईश्वर ! अपने धार्मिक जीवन के प्रारम्भ से ही मैंने तुमसे शिक्षा ग्रहण की है !... "

२ यह प्रसन्नता का विषय है कि जिस दृष्टिकोण का मैंने प्रतिपादन किया है, केशवचन्द्र के ईसाई शिष्य मणीलाल सी० पारीख ने भी अपने विश्वासोज्ज्वल सुन्दर ग्रन्थ "ब्रह्मर्षि केशवचन्द्र सेन" मे उसी की पुष्टि की है । (यह पुस्तक सन् १९२६ मे, ओरियण्टल क्राइस्ट हाउस, राजकोट, वम्बई से प्रकाशित हुई है) मणीलाल सी० पारीख ने स्पष्टतया यह वात स्वीकार की है कि केशव के प्रति रामकृष्ण जितने ऋणी थे, केशव उसकी अपेक्षा रामकृष्ण के कही अधिक ऋणी थे । परन्तु मेरे ही समान मणीलाल भी इसमे केशवचन्द्र की विशाल आत्मा और उदार हृदय की प्रशसा का ही एक अन्य कारण देखते हैं ।

के विरोधी दावे के बावजूद, किसी को भी उन्हे रामकृष्ण का शिष्य कहने का अधिकार नही है, तथापि उनकी उदार आत्मा महत्ता का आदर करने के लिए हर समय तत्पर रहती थी, और सत्य के प्रति उनका प्रेम इतना विशुद्ध था कि उनके अन्दर किसी प्रकार के अहङ्कार की कोई गुजायश ही न थी। इसलिए यह शिक्षक स्वय शिक्षा ग्रहण करने के लिए भी सदा तैयार रहता था[1], और अपने बारे मे कहा करता था : "मैं जन्मजात शिष्य हूँ।. ..सब पदार्थ मेरे शिक्षक हैं। प्रत्येक वस्तु से मैं शिक्षा ग्रहण करता हूँ[2]।" ऐसी अवस्था मे वे भगवत्प्रेमी रामकृष्ण से शिक्षा ग्रहण किए बिना कैसे रह सकते थे ?

सन् १८७५ के प्रारभ के केशवचन्द्र अपने कुछ शिष्यो के साथ कई महीने तक दक्षिणेश्वर के निकटवर्ती एक आरामगृह मे रह रहे थे। रामकृष्ण उनसे मिलने के लिए गये और कहने लगे : "मैंने सुना है कि आपने ईश्वर का दर्शन किया है, मैं भी उसके बारे मे जानने के लिए आया हूँ।"

यह कहकर वह काली का एक प्रसिद्ध स्तोत्र गाने लगे, और बीच मे ही भावाविष्ट हो गए। युक्तिवादी हिन्दुओ के लिए भी यह कोई असाधारण दृश्य न था, और केशव भी, जिसके बारे मे मैं पहले ही निर्देश दे चुका हूँ कि वे

---

१ परन्तु वह यह भी कहते थे : "प्रत्येक मनुष्य के गुणो को ग्रहण करने की इच्छा-शक्ति परमात्मा ने मेरे अन्दर उत्पन्न की है।"

२ रामकृष्ण ने केशव को सबसे पूर्व सन् १८६५ मे देखा था, जबकि युवक केशव आदि ब्रह्मसमाज मे देवेन्द्रनाथ के सहकारी थे। केशव के मुख ने रामकृष्ण को उसी समय आकृष्ट कर लिया था। यह जल्दी से भूलने योग्य वस्तु न थी। केशव का कद लम्बा, मुख डिम्बाकार, व "उसका वर्ण एक इटैलियन के समान स्वच्छ था।" (मुखर्जी)। और यद्यपि उसका मन उसके चेहरे के समान पश्चिम के प्रशान्त सूर्यालोक से उद्भासित था, तथापि उसकी अन्तरात्मा सर्वथा भारतीय थी। ध्यानस्थ केशव को लक्ष्य करने मे रामकृष्ण ने भूल नही की थी। सन् १८६५ की मुलाकात का वर्णन करते हुए रामकृष्ण कहते हैं . "ब्रह्मसमाज के सभामच पर अनेक व्यक्ति ध्यान-मग्न थे। सबके बीच मे केशव समाहित अवस्था मे था। वह काष्ठ की तरह निश्चल था। उस समय उसकी युवावस्था थी, परन्तु उसके काँटे मे ही मछली फँस रही थी . " (यह एक अत्यन्त प्रचलित अलङ्कार है, जिसका अर्थ है कि परमात्मा केवल उसी की प्रार्थना सुन रहे थे।—रामकृष्ण कथामृत, द्वितीय भाग, पृष्ठ २०७।)

भक्ति की इस प्रकार की एक तरह की रुग्ण अभिव्यक्ति को सन्देह की दृष्टि से देखते थे, इससे प्रभावित न होते, यदि अपने भतीजे[1] के उपचार मे समाधि अवस्था से वापस आते ही रामकृष्ण अद्वितीय और अनन्त भगवान् के वारे मे प्रवाह रूप मे कुछ अत्यन्त प्रभावकारी शब्द न कहते। इस भगवत्प्रेरित उद्-गार मे भी उनकी व्यंगात्मक विचारबुद्धि स्पष्ट दृष्टिगोचर होती थी, और इसने केशव को विस्मित कर दिया। केशव ने अपने शिष्यो को विशेष रूप से इसे लक्ष्य करने की प्रेरणा की। कुछ समय वाद उन्हे इस वात मे कोई सन्देह नही रहा कि वे एक असाधारण व्यक्ति के सम्पर्क मे आये हैं, और वे इस असाधारणत्व का अनुसन्धान करने लगे। वे दोनो मित्र बन गए। केशव राम-कृष्ण को ब्रह्मसमाज के अनुष्ठानो व उत्सवो मे निमन्त्रित करने लगे, और उनके मन्दिर मे आकर उन्हे भ्रमण के लिए गगातट पर अपने साथ ले जाने लगे। और चूंकि उनकी उदार आत्मा अपने अनुसन्धान का फल दूसरो तक पहुँचाने के लिए सदा उत्सुक रहती थी, इसलिए वह प्रत्येक स्थान पर, अपने उपदेशो मे, अँगरेजी व देशी भाषा के पत्र व पत्रिकाओ मे अपने लेखो मे, रामकृष्ण का जिक्र करने लगे। केशवचन्द्र ने अपनी ख्याति को रामकृष्ण के भरोसे पर छोड दिया : और रामकृष्ण की प्रसिद्धि, जो कि अव तक दो-एक अपवादो को छोड कर, सर्वसाधारण धर्मभीरु समाज तक न पहुँच सकी थी, उसे केशव ने थोडे ही समय मे वगाल और उसके वाहर मध्यवित्त वुद्धिजीवियो की श्रेणी तक पहुँचा दिया।

ब्रह्मसमाज के इस विख्यात नेता ने जो विद्या, वुद्धि, सम्मान और मर्यादा मे सव प्रकार वढा-चढा था, इस ग्रन्थ-विद्या-विहीन, सस्कृत भाषा से अनभिज्ञ, लिखने-पढने मे अपटु, अज्ञातनामा मनुष्य के सामने नत होकर जिस विनयशीलता का परिचय दिया है, वह वास्तव मे प्रशसनीय है। परन्तु रामकृष्ण की अन्तर्भेदी दृष्टि ने केशव को भ्रान्त वना दिया और वे एक शिष्य के सदृश उनके चरणो मे वैठ गये।

---

१ योरोपीय विज्ञान की जानकारी के लिए यहाँ यह उल्लेख योग्य है कि राम-कृष्ण को भावाविष्ट समाधि अवस्था से जागृत करने का एकमात्र उपाय भावावेश की तीव्रता व प्रकार भेद के अनुसार उनके कान मे ईश्वर के किसी नाम विशेष या मन्त्र का उच्चारण करना ही था। आत्मिक अभि-निवेश के लक्षण उस समय अत्यन्त स्पष्ट हो जाते थे, और किसी तरह के प्रारंभिक शारीरिक विकार की कल्पना असभव थी, आत्मा पर पूर्ण नियत्रण हमेशा वना रहता था।

परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि केशवचन्द्र ने रामकृष्ण को शिष्यता स्वीकार की थी, जैसा कि रामकृष्ण के कुछ उत्साही शिष्य दावा करते हैं। यह भी सत्य नही है, कि अपने कोई मौलिक विचार उन्होंने रामकृष्ण से लिये थे। कारण, वे सब विचार रामकृष्ण के साथ उनके प्रथम साक्षात्कार से पूर्व ही बन चुके थे। हम देख चुके हैं कि सन् १८६२ के बाद केशवचन्द्र विभिन्न धर्मों के समन्वय व उनकी प्रारम्भिक एकता के सम्बन्ध मे विचार करने लग गए थे। सन् १८६३ मे उन्होंने कहा था : "सारे ही सत्य सबके लिए समान हैं, क्योकि सारे सत्य भगवान् के ही सत्य हैं। सत्य जिस प्रकार केवल योरोपीय नही है, उसी प्रकार वह केवल एशियाई भी नही है, जैसे केवल तुम्हारा नही है, उसी तरह केवल मेरा भी नही है।" सन् १८६९ मे 'भावी धर्म' के सम्बन्ध मे व्याख्यान देते हुए केशव ने सब धर्मों की एक विशाल स्वरसगति की कल्पना की थी, जिसमे प्रत्येक धर्म अपने विशिष्ट लक्षण, अपने वाद्ययन्त्र के स्वतन्त्र स्वर और स्वतन्त्र ध्वनि की रक्षा करते हुए भी परमपिता भगवान् और भ्राता मानव के विश्वव्यापी जयगान मे सम्मिलित होते हैं। दूसरी तरफ यह कथन भी मिथ्या है कि केशव को जगदम्बा के विचार पर पहुँचने के लिए रामकृष्ण की सहायता की आवश्यकता थी, यह धारणा भारत मे प्रत्येक युग मे इसी प्रकार विद्यमान चली आई है, जिस प्रकार पाश्चात्य जगत् में जगत्पिता की धारणा प्रचलित रही है। रामकृष्ण ने इसे जन्म नही दिया है। रामकृष्ण के स्मृतिभण्डार मे सचित रामप्रसाद के स्तोत्रो मे नाना स्वरो में माँ का ही स्तुतिगान है। देवेन्द्र के आचार्यत्व काल मे ही ब्रह्मसमाज मे भगवान् के मातृत्वरूप का प्रवेश हो चुका था। इसलिए केशव के शिष्य अपने गुरु की रचनाओ मे से मातृवन्दना के उदाहरण उद्धृत करने मे कठिनाई अनुभव नही करते।[1]

---

१ सन् १८६२ मे जबकि केशवचन्द्र देवेन्द्रनाथ के आदि ब्रह्मसमाज के पुरोहित थे, उस समय यह मातृवन्दना का गीत गाया जाता था : "माँ की गोदी मे बैठकर" इत्यादि।

सन् १८६६ : ब्रह्मसमाज की भजनावलि : "ओ! दिव्य माँ! अपनी करुणा से मुझे बाँध लो" "ओ! माँ! मेरे समीप आओ।"

सन् १८७५ . "मैं आनन्दित हूँ! मैं माँ के हृदय मे निमग्न हूँ, मैं उसकी सन्तानो के बीच में हूँ, माँ अपनी सन्तानो के साथ नृत्य करती है • "

परन्तु इस अन्तिम तारीख से पूर्व केशव के साथ रामकृष्ण की भेट हो चुकी थी। बी० मजूमदार रचित पूर्वोक्त ग्रन्थ, तृतीय परिच्छेद, देखिए।

जगदम्बा, और उनके भक्तो का भ्रातृभाव यह दोनो ही विचार निस्सन्देह अत्यन्त सुन्दर थे, उनके अभिव्यक्ति के साधन व अनुष्ठानो के रूप चाहे जो भी क्यो न हो। और विचार के रूप मे केशव मे वे पहले से ही विद्यमान थे, और उनके निष्कपट विश्वास के कारण पुनरुज्जीवित हो गये थे। परन्तु रामकृष्ण में इन दोनो धारणाओ को जीवित व चेतन अवस्था मे पाना एक सर्वथा अद्भुत ही वस्तु थी। यह क्षुद्र निरीह व्यक्ति कल्पना व सिद्धान्तों के साथ माथापच्ची नही करता था: उसका अस्तित्व ही सब कुछ था। उसका अस्तित्व देवताओ का भक्तो के साथ मिलन था, वह 'माँ' और उसका प्रेमी दोनो ही था, उसने 'माँ' के दर्शन किये थे। उसके द्वारा 'माँ' का दर्शन हो जाता था उसे स्पर्श किया जा सकता था। केशव के लिए हृदय की उस प्रतिमा का आविष्कार, जो कि अपने सम्पर्क मे आने वालों को माँ के उष्ण निःश्वास व उसकी सुन्दर भुजाओ की छाया का अनुभव कराती थी, कितना अपूर्व था। और उसने जोकि स्वय एक भक्त था, और प्रेम मे विश्वास करता था, उसके निकट सम्पर्क के प्रभाव को किस गहराई के साथ अनुभव किया होगा।[1] ··केशवचन्द्र के अन्यतम जीवनी-लेखक चिरजीव शर्मा ने लिखा है—"रामकृष्ण की मधुर, सरल, मोहक एवं बालसुलभ प्रकृति ने केशव की धर्म-सम्बन्धी पवित्र धारणा व उसके योगाभ्यास को रजित कर दिया था।"

और केशवचन्द्र के अन्यतम धर्मप्रचारक शिष्य गिरीश बाबू ने लिखा है :[2]

"शिशु के समान सरल वात्सल्य के साथ भगवान् को 'माँ' के नाम से पुकारने की भावना केशव ने रामकृष्ण से ही ली थी"···।[3]

---

१. प्रमथलाल सेन कहते है कि केशव प्रतिदिन भगवत् उपासना करते थे। "उपासना ही तुम्हारा प्रधान कर्तव्य हो। एकान्त मे समाहित होकर निरन्तर सच्चे हृदय से प्रार्थना करो, तुम्हारे जीवन का यही एकमात्र लक्ष्य हो।"

२. 'धर्मतत्त्व' पत्रिका मे प्रकाशित 'रामकृष्ण का जीवन व उनके उपदेश' शीर्षक लेख।

३. रामकृष्ण के अनुयायियो ने अपने पक्ष के समर्थन मे बाबू गिरीशचन्द्र सेन और चिरजीव शर्मा के जो उद्धरण दिये हैं, उनमे केशव के ब्रह्मसमाज के ऊपर रामकृष्ण के प्रभाव को निश्चित रूप से अतिरजित करके कहा गया है। अत्यधिक प्रमाण-सग्रह का प्रयत्न मनुष्य को सदेह का पात्र बना देता है। उदाहरण के लिए चिरजीव शर्मा का यह कथन कि माँ के रूप मे भग-

उपर्युक्त उद्धरणो मे अन्तिम उद्धरण के वारे मे कुछ आलोचना आवश्यक है। कारण, मैं पहले यह दिखला चुका हूँ कि भगवान् को माँ रूप मे आह्वान करने के लिए केशव को रामकृष्ण की प्रतीक्षा की आवश्यकता न थी। तथापि रामकृष्ण के सम्पर्क ने उनके अन्दर स्नेह के नवजागरण, आशु निश्चय एव एक वालक की सरल-हृदयता को ला उपस्थित कर दिया। इसलिए सन् १८७५ मे जव केशवचन्द्र यह प्रचार करने लगे कि उनका पथ रामकृष्ण के पथ को अतिक्रमण कर उससे आगे वढ जाता है,[1] तो यह "नव विधान" का एक आविष्कार न था, अपितु वह केशव के धर्म-विश्वास और आनन्द का दुर्निवार उद्गार था, जिसने उसे विश्व के सम्मुख अपना सन्देश घोषित करने के लिए वाध्य किया।

वान् की पूजा रामकृष्ण के प्रभाव का फल था' तथ्यो के विरुद्ध है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि रामकृष्ण के दृष्टान्त से ब्रह्मसमाज मे मातृपूजा की धारणा समृद्ध हो गई। ब्राह्म धर्म एक कठोर धर्म था। गिरीशचन्द्र की उपमा के अनुसार "रामकृष्ण की छाया ने उसे नरम वना दिया।"

१ तथापि केशवचन्द्र के सहानुभूतिपूर्ण जीवनी-लेखक प्रतापचन्द्र ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि रामकृष्ण के साथ केशवचन्द्र के साक्षात्कार के फलस्वरूप "नवविधान" के मूलभूत एकेश्वरवादी रूप मे कोई परिवर्तन न होने पर भी, केशवचन्द्र को अपने एकेश्वरवाद को पहले की अपेक्षा अधिक परसतोषकारी व सहज ग्राह्य रूप मे उपस्थित करने के लिए प्रेरणा मिली।

रामकृष्ण ने हिन्दू-धर्म को अनेकेश्वरवाद की मूल धारणाओ को अपनी रुचि के अनुसार चुनकर आध्यात्मिकता के मौलिक ढाँचे मे सगृहीत किया था इस अद्भुत चुनाव ने केशवचन्द्र के गुणग्राही मन मे अपने धर्मान्दोलन के आध्यात्मिक गठन को और विस्तृत करने का विचार उत्पन्न किया। ईश्वरीय गुणो की हिन्दू धारणाएँ केशव को स्वभावतः अत्यन्त सुन्दर व सत्य प्रतीत हुईं, और अपने देश मे अपने धर्म के प्रचार को सहज-गम्य वनाने का वही एकमात्र निश्चित साधन प्रतीत होने लगी। निस्सन्देह केशव ने अपने एकेश्वरवाद के सरल विश्वव्यापी आधार को अक्षुण्ण वनाए रखा। परन्तु मजूमदार ने दुःख के साथ लिखा है कि ईश्वर के अनेक गुणो के साथ एकेश्वरवाद की इस प्रकार की व्याख्या का अर्थ ही लोकप्रिय मूर्ति-पूजा के पक्ष मे लगाया जाने लगा है।

ब्रह्मसमाजियो के लिए रामकृष्ण एक अद्‌भुत शक्ति के स्रोत थे। यह पैण्टेकौस्ट[1] के उत्सव पर धर्मप्रचारको[2] के सिर पर नाचती हुई उस अग्निशिखा के समान थे, जो कि जलाने के साथ-साथ उन्हे प्रकाश भी देती थी। वह उनके सच्चे मित्र थे। परन्तु साथ ही उनके विचारक भी थे। वह जिस प्रकार उस पर स्नेह की वर्षा करते थे, उसी प्रकार उनकी कठोर आलोचना करने से भी न चूकते थे।

रामकृष्ण जब पहली दफे ब्रह्मसमाज के मन्दिर मे गये तभी, उनकी अन्तर्भेदी व कौतूहलमयी दृष्टि ने तत्काल ब्रह्मसमाज के श्रेष्ठ सदस्यो की प्रथागत भक्ति के रूप को ताड लिया था। उनके अपने ही श्लेपमय शब्दो मे उसका इस प्रकार वर्णन है।[3] :—

"आचार्य ने कहा : 'आओ परमात्मा की उपासना करे'। मैंने सोचा . 'शायद अब वे अन्तर्जगत् मे जायेगे और पर्याप्त समय तक वही रहेगे।' परन्तु कुछ ही मिनटो मे उन सबने आँखे खोल दी। मुझे बडा आश्चर्य हुआ। क्या इतने-से ध्यान से कोई उसे पा सकता है? जब सब अनुष्ठान समाप्त हो गया और हम अकेले रह गये तो मैंने केशव से कहा · 'उपासना सभा मे जब सब सदस्यो ने नेत्र बन्द कर लिए, तो मैंने उन्हे गौर मे लक्ष्य किया। तब मेरे मन मे क्या विचार उत्पन्न हुआ, जानते हो? दक्षिणेश्वर मे मैंने कई दफे बन्दरो के झुण्ड को इसी प्रकार एकदम निश्चल व सर्वथा निर्दोष की तरह बैठे देखा है। परन्तु मन ही मन वे थोडी ही देर बाद किसी बगीचे के फलो को लूटने व पौधो को उखाडने, व अन्य खाद्य पदार्थों को झपटने की चिन्ता मे मग्न थे। तुम्हारे सदस्य आज जो उपासना कर रहे थे, वह भी उससे बढकर न थी।"

ब्रह्मसमाज के एक उपासना स्तोत्र मे यह पद आता है :—

"दिन के प्रत्येक क्षण मे उसका ही विचार करो, उसकी ही पूजा करो।"

रामकृष्ण ने गायक को रोककर कहा : "तुम्हें इस पद को इस प्रकार बदल

---

१. पैण्टेकौस्ट उत्सव : मिस्र ने यहूदी जाति के प्रत्यावर्तन के स्मृतिदिवस के रूप मे यहूदी लोग वसन्त मे जो 'पास ओवर' उत्सव मानते हैं, उसके पचास दिन बाद वह इस उत्सव को मानते हैं। ग्रीक भाषा मे 'पैण्टेकौस्ट' शब्द का अर्थ है पचास। —अनुवादक

२ धर्मप्रचारक से तात्पर्य यहाँ पर ईसा के प्रथम बारह प्रचारको से है।

३ धनगोपाल मुखोपाध्याय रचित "The face of Silence" (मौन का मुख) देखिए। शारदानन्द ने भी ब्रह्मसमाज व रामकृष्ण के बारे मे इसी के अनुरूप वर्णन दिया है।

देना चाहिए 'दिन मे केवल दो वार उसकी प्रार्थना व पूजा करनी चाहिए ।' वही कहो जो कि तुम वास्तव मे करते हो। भगवान् के सम्मुख मिथ्या क्यो वोलते हो ?"

इगलैड के चर्च अनुयायियो के समान केशवचन्द्र के ब्रह्मसमाजी जव अपने धर्म की प्रशसा करते हैं, तो वे जान-वूझकर एक दुर्बोध्य, गम्भीर व क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे मूर्तिपूजा के सन्देह के विरुद्ध सर्वदा सतर्क रहते हैं।[1] रामकृष्ण व्यगपूर्वक उन्हे नरमदल के मूर्तिपूजक कहा करते थे, उनका यह कथन सर्वथा अयुक्तिसगत भी न था। एक दिन रामकृष्ण ने प्रार्थना मे केशव को भगवान् के समस्त गुणो की गिनती करते हुए सुना।

रामकृष्ण ने पूछा · "यह सव गणना क्यो करते हो ? क्या पुत्र अपने पिता को कभी यह कहता है कि 'ए पिता ! तुम्हारे पास इतने मकान, इतने वगीचे व इतने घोडे हैं, इत्यादि ?' पिता के लिए अपनी समस्त सम्पत्ति को पुत्र के हाथ मे दे देना स्वाभाविक ही है। यदि तुम भगवान् व उसके गुणो को कोई असाधारण वस्तु समझते हो, तो तुम कभी भी उसके घनिष्ठता सम्पादन नही कर सकते, उसके निकट नही पहुँच सकते। यह मत सोचो कि वह तुमसे वहुत दूर है। उसे अपना निकटतम समझो ! तभी वह तुम्हे अपना स्वरूप उद्-

---

१ रामकृष्ण वचनामृत मे उद्धृत ब्रह्मसमाज की प्रार्थना का एक नमूना इस प्रकार है :

"ओ३म् ! तुम हमारे पिता हो। हमे ज्ञान दो ! हमे विनाश से वचाओ !

"ओ३म् ! ब्रह्म ! सत्य ! ज्ञान ! अनन्त ! वह आनन्दमय है । वह अमर है ! वह प्रकाशमान है ! वह शान्तिमय है ! वह सत्य है ! वह अद्वितीय है !.

"हे परम पुरुष ! हे समस्त विश्व के आदि कारण ! हम तुम्हे प्रणाम करते हैं ! . हे ज्ञान के प्रकाश के दाता ! हे सकल विश्वो को धारण करने हारे प्रभु ! हम तुम्हे नमस्कार करते हैं।

"हे प्रभु ! हमे असत्य से सत्य की तरफ, अन्धकार से प्रकाश की तरफ और मृत्यु से अमरत्व की तरफ ले चलो ! हमारी आत्मा के अन्दर प्रविष्ट हो जाओ ! हे भयकर प्रभु ! अपने करुणामय मुखमण्डल के द्वारा हमेशा हमारी रक्षा करो।"

घाटित करेगा। ..क्या तुम यह नही सोचते कि यदि तुम उसके गुणो पर मुग्ध होकर भावाविष्ट हो जाते तो तुम मूर्तिपूजक बन जाते हो।[1]"

अपने दुर्बल स्थान पर आघात पाकर केशव ने उसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि वह मूर्तिपूजा से घृणा करते हैं, जिस परमात्मा की वे पूजा करते हैं, वह निराकार परमात्मा है। रामकृष्ण ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया :

"परमात्मा साकार भी है, निराकार भी है। मूर्ति व अन्य प्रतीक उतने ही सत्य है, जितने तुम्हारे गुण हैं। और यह गुण मूर्तिपूजा से भिन्न नही हैं, अपितु केवल उसी के कठोर व जडीभूत रूप हैं।"

और फिर कहने लगे :—

"तुम कठोर व एकपक्षीय होना चाहते हो . ..परन्तु मेरी यह उत्कट अभिलाषा है कि मैं भगवान् की, जितने भी रूपो मे सभव हो, पूजा कर सकूँ, तथापि मेरे हृदय की अभिलाषा कभी तृप्त नही होती। मैं फल-पुष्पो की भेंट से उसकी पूजा करना चाहता हूँ, एकान्त मे उसका पवित्र नाम जप करना चाहता हूँ, उसका ध्यान करना चाहता हूँ, उसकी स्तुति मे स्तोत्रगान करना चाहता हूँ, और उसके आनन्द मे पागल होकर नाचना चाहता हूँ। . ..जो भगवान् को निराकार बतलाते हैं, वह भी उसे उसी प्रकार पाते हैं, जैसे कि भगवान् की साकार उपासना करने वाले उसे पाते हैं। केवल विश्वास और आत्मसमर्पण यह दो ही आवश्यक वस्तुएँ हैं। "

मैं केवल उनके विवर्ण शब्दो को ही दोहरा सकता हूँ, परन्तु उनकी जीवित उपस्थिति, उनके व्यक्तित्व का प्रकाश, उनकी ध्वनि का स्वर, उनकी दृष्टि व मोहन हास्य, इन सबका वर्णन मेरी सामर्थ्य से बाहर है। जो व्यक्ति रामकृष्ण के सपर्क मे आया है, वह उनके इन गुणो के प्रभाव का प्रतिरोध नही कर सका है। सबसे बढकर दर्शकगण को प्रभावित करने वाली वस्तु उनका जीवित विश्वास था। उनके लिए भाषा एक ढीला-ढाला आलकारिक परिधान न था, जो कि जीवन की गहराइयो को जितना अभिव्यक्त करने का दावा करती है, उतना ही उन्हें छिपा भी लेती है। उनके अन्दर जीवन की गभीरताएँ साक्षात् कुसुमित होकर प्रकट हो रही थी, और वह भगवान् जो कि अधिकांश धार्मिक व्यक्तियो के लिए भी केवल मात्र एक विचार की वस्तु है, जो "अज्ञात् महासृष्टि"[2] के

१. वनगोपाल मुकर्जी रचित ग्रन्थ व 'श्री श्रीरामकृष्ण लीला प्रसङ्ग' का ३६५ पृष्ठ देखिए।
२. प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक बाल्जक के मशहूर उपन्यास की तरफ निर्देश है।

ऊपर एक अभेद्य आवरण डाल देता हैं, वह भगवान् उनके अन्दर प्रत्यक्ष दिखलाई देता था। कारण, जब वे भगवान् की कथा कहते थे तो वे एक गोताखोर के सदृश, जो कि समुद्र मे गोता लगाकर कुछ ही क्षणो मे सामुद्रिक शैवाल की गन्ध, व लवण के स्वाद के साथ ऊपर आ जाता है, भगवान् के अन्दर डूब जाते थे। इस गन्ध और आस्वाद के दुर्वार प्रलोभन की कौन उपेक्षा कर सकता है? पश्चिम की वैज्ञानिक बुद्धि निस्सन्देह इनका विश्लेषण कर सकती है। परन्तु इसके चाहे जो भी मूल उपादान हो, इसकी सश्लिष्ट सत्ता कभी सन्देह का विषय नही रही है। कट्टर से कट्टर सन्देहवादी भी, जब गोताखोर अपने समाधिस्वप्न से वापस आ जाता है, तब उसे स्पर्श कर सकता है। और उसके नेत्रो मे समुद्रतलवर्ती शैवाल का प्रतिविम्ब देख सकता है। केशव व उनके कुछ शिष्य इसे देखकर विमुग्ध हो गए थे।

जाह्नवी के वक्ष पर ऊपर-नीचे जाते हुए केशव के बजरे मे बैठे हुए इस भारतीय प्लेटो के कथोपकथन पढने योग्य हैं[1]। इनका वर्णन करने वाले, जो बाद मे रामकृष्ण के एक श्रेष्ठ प्रचारक हो गए हैं, वे पहले पहल इन सर्वथा विपरीत मानसिक गठन के व्यक्तियो के आकस्मिक मेल को देखकर विस्मित हो गए, और सोचने लगे, इस भगवत्-उन्मत्त मनुष्य के साथ मिलने के लिए उस ससारी, बुद्धिवादी, अग्रेज-उन्मत्त व देवताओ की निन्दा करने वाले केशव का कौन-सा समान आधार हो सकता है? बजरे के कमरे के दरवाजे पर केशवचन्द्र के शिष्य मधुमक्षिकाओ के झुण्ड के समान दोनो सन्तो के चारो तरफ इकट्ठे हो जाते थे। और जब रामकृष्ण के ओष्ठाधर से मधुस्रवित होने लगता था, तो मधुमक्षिकाएँ उसकी मधुरता मे डूब जाती थी।

"यह आज से प्रायः पैंतालीस वर्ष पूर्व की घटना है, तथापि उस समय परमहस ने जो बाते कही थी, वह आज भी मेरे स्मृति-पट पर अमिट रूप मे अङ्कित हैं। मैंने आज.तक किसी अन्य व्यक्ति को इस प्रकार बात करते नही सुना है.. जब वह कहना प्रारम्भ करते थे, तो केशव के निकटतर हो जाते थे, और अन्त मे केशव सर्वथा निश्चल बैठे रहते थे, और जरा भी इधर-उधर हटने की कोशिश न करते थे।"

---

१ श्री श्री रामकृष्ण कथामृत के लेखक 'म' (महेन्द्रनाथ गुप्त) के २७ अक्टूबर सन् १८८२ के विवरण मे दो कथोपकथनो का वर्णन है। एक अन्य प्रत्यक्ष-द्रष्टा नगेन्द्रनाथ गुप्त ने सन् १८८१ के एक और साक्षात्कार का वर्णन दिया है। (मॉडर्न रिव्यू, कलकत्ता मई, १९२७ देखिए)।

रामकृष्ण अपने चारो तरफ बैठे हुए शिष्यो के मुख पर स्नेहपूर्ण दृष्टिनिक्षेप करते हुए क्रमशः उनकी आँखो, उनके ललाट, दाँत व कानो को देख-देखकर वारी-वारी से प्रत्येक के चरित्र का वर्णन कर रहे थे। इन अङ्गो की भाषा को रामकृष्ण अच्छी तरह जानते थे। अपनी मधुर व आकर्षक कुछ-कुछ तोतली वोली मे वोलते हुए वे निराकार ब्रह्म के विषय पर आ गए :

"उन्होंने दो-तीन दफे निराकार शब्द का उच्चारण किया, और चुपचाप शान्त भाव से अथाह समुद्र मे गोता लगाने वाले गोताखोर के समान समाधि मे लीन हो गए। हम मनोयोगपूर्वक उनकी तरफ देखते रहे। उनका समस्त शरीर शिथिल और कुछ कठोर हो गया। देह की मासपेशियो व धमनियो मे किसी प्रकार के आकुञ्चन का भाव तथा अन्य अङ्गो मे किसी प्रकार की गति व स्पन्दन दिखाई न देता था। अञ्जलिवद्ध दोनो हाथ उनकी गोदी मे पडे थे। वैठने का तरीका सरल परन्तु सर्वथा निश्चल व स्थिर था। मुख ईषत् उन्नत व विश्राम की मुद्रा मे था। नेत्र सर्वथा वन्द न होने पर भी प्राय. वन्द थे। नेत्रो के तारक ऊपर की तरफ घूर्णित या पार्श्व की तरफ हटे हुए न थे, अपितु एकदम स्थिर थे। एक सुन्दर, अवर्णनीय मृदुहास्य के साथ अधरोष्ठ ईषत् विस्फारित थे, जिनमे से शुभ्र दाँतो की आभा दृष्टिगोचर होती थी। हास्य मे कोई ऐसी विस्मयकर वस्तु थी, जिसे कभी भी किसी चित्र मे अङ्कित नही किया जा सकता[1]।"

एक स्तोत्र पाठ द्वारा उनकी समाधि भङ्ग की गई।...

"उन्होंने अपने नेत्र खोले, और अपने चारो तरफ इस प्रकार देखा कि मानो किसी अज्ञात व अपरिचित स्थान पर वैठे हो। गाना समाप्त हो गया। परमहस ने हमारी तरफ देखते हुए कहा 'यह सव लोग कौन हैं?' तत्पश्चात् उन्होंने अपने मस्तिष्क पर कई वार हाथ से जोर-जोर से आघात करके उच्च-स्वर से कहा 'उतरो! उतरो!'...परमहस पूर्णरूप से सचेतन हो गए और मधुर स्वर मे काली का स्तोत्र गाने लगे।"

उन्होंने जगदम्वा और परम पुरुष की एकता का गान गाया। उन्होंने गाया

---

१. नगेन्द्रनाथ गुप्त।

'म' ने एक और भावावेश का वर्णन किया है, जिसमे रामकृष्ण माँ को लक्ष्य करके कहते हैं : "ओ! माँ! वे सव सीखचो के अन्दर कैद हैं, वे स्वतन्त्र नही हैं, क्या उन्हे कैद से मुक्त नही किया जा सकता?"

कि माँ ने आत्मा की पतङ्ग को ऊपर उडा रखा है, जो वह परमानन्द मे उड रही है। किन्तु माँ माया की डोरी से उसे अपने साथ बाँधे हुए है[1]।

"यह ससार माँ की क्रीडा-भूमि है। उसकी इच्छा होने पर वह हजारो पतङ्गो मे से एक-दो पतङ्गो को माया की डोरी से मुक्त कर देती है। यह उसका खेल है। वह आँख की झपक के साथ विश्वासपूर्वक मानवात्मा को कहती है 'जव तक मैं तुम्हे और कुछ करने का आदेश नही करती, तव तक तुम संसार मे जाकर रहो।'.."

और इसके वाद माँ का अनुकरण करते हुए सहास्य श्लेप के साथ रामकृष्ण केशवचन्द्र के शिष्यो से कहने लगे :—

"तुम ससार मे हो। वही रहो। उसका त्याग तुम्हारे लिए नही है। विशुद्ध स्वर्ण और मिलावटी स्वर्ण, चीनी और शीरा जिस हालत मे तुम हो, उसी मे ठीक हो। हम कभी-कभी एक खेल खेला करते हैं, जिसमे जीतने के लिए सत्रह पायण्ट वनाने पडते हैं। मैं उस सीमा से आगे वढ गया हूँ, और इसलिए हार गया हूँ। परन्तु तुम चतुर खिलाडी हो, और तुमने काफी पायण्ट नही जीते है, इसलिए तुम अपना खेल जारी रख सकते हो। चाहे तुम परिवार मे रहो या ससार मे रहो, जव तक भगवान् का साथ नही छोडते, तव तक तुम्हारा कुछ नही विगड सकता।"

रामकृष्ण के इन स्वगत भाषणो मे विचार, भावोच्छ्वास, श्लेषात्मक साधारण व्यवहार-वुद्धि, और उच्चतम कल्पना अद्भुत रूप मे मिश्रित रहती थी। परमहस द्वारा व्यवहृत अनेक घाटो वाले भगवान्रूपी तालाव, तथा मकडी सदृश काली माँ की जो सुन्दर उपमाएँ ऊपर उद्धृत की गई हैं, वे सब इन्ही भापणो मे प्रयुक्त हुई हैं। वह वास्तविकता को खूव अच्छी प्रकार समझते थे, और अपने श्रोताओ के गभीर अन्तस्तल का प्रत्यक्ष दर्शन करते थे। अतएव वह यह कल्पना भी न करते थे, कि वह अपने श्रोतागण को भी अपनी मुक्त आत्मा

---

१ पतङ्ग की उपमा, जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, रामप्रसाद के 'दिव्य माँ और मुक्त आत्मा' शीर्षक स्तोत्र मे, जो रामकृष्ण को अत्यन्त प्रिय था, पाई जाती है। नरेशचन्द्र के एक गान मे भी जो कि रामकृष्ण वचनामृत मे उद्धृत है, यह उपमा मिलती है। प्राय सभी उपमाएँ, विशेपत. जीवनसमुद्र मे गोता लगाने वाले गोताखोर की उपमा कुछ-कुछ परिवर्तन के साथ वँगला के ग्राम्यगीतो व काव्यो मे प्राय. पद्रहवी शताव्दी से व्यवहृत होती चली आई हैं।

की ऊँचाई तक पहुँचा देगे। वह उनकी वुद्धि और सामर्थ्य का पूरा-पूरा अन्दाजा लगाकर, उनसे उनके पूर्ण उपयोग की अपेक्षा करते थे। सवसे वढकर रामकृष्ण ने केशव व उनके शिष्यो का व्यापक वौद्धिक सहिष्णुता के साथ-साथ, जिससे कि वे उन सर्वथा विरोधी दृष्टिकोणो मे भी, जिनमे कि वे किसी प्रकार के समन्वय को पहले सर्वथा असभव समझते थे, सत्य का दर्शन कर सके, जीवन की भावना व उत्पादक प्राणशक्ति का दान किया। उन्होंने तर्क की लीक मे पडकर कठोर हुए व जडता प्राप्त उनके वौद्धिक अगो को मुक्त कर दिया, और उन्हे नरम व लचीला वना दिया। उन्होंने उन्हे नीरस व शुष्क विवादो से छुडाकर 'जीवन, प्रेम और सृजन' का मन्त्र पढाया, जिससे उनकी धमनियो मे पुन. रक्तसचार होने लगा।

उन्होंने अन्तहीन व निरर्थक विवादो मे व्यस्त केशव को कहा : "सृजन करने का अर्थ है भगवान् के सदृश होना। जव तुम समस्त सत्ता के सार से पूर्ण हो जाओगे, तव तुम जो कुछ भी कहोगे, वही सत्य हो जाएगा। कवियो ने सद्‌गुणो व सत्य की प्रशसा की है, परन्तु क्या उससे अनेक पाठक सद्‌गुणी व सच्चे हो गए हैं ? जव कोई नि.स्वार्थ व्यक्ति हमारे वीच मे रहता है, तो उसका प्रत्येक कार्य सद्‌गुणो का हृदयस्पन्दन हो जाता है। वह दूसरो के लिए जो कुछ भी करता है, उससे उनके निकृष्टतम स्वप्न भी उन्नत हो जाते हैं। वह जिसे भी स्पर्श करता है, वह पवित्र व सत्य हो जाता है। वह वास्तविकता का जनक हो जाता है।[1] वह जिस वस्तु की सृष्टि करता है, वह कभी काल के गर्त मे विलीन

---

१ महात्मा गाधी से तुलना कीजिए। वह भी लेख व भाषण द्वारा धार्मिक प्रचार के विरोधी हैं। जव उनसे पूछा गया, "तो हम अपने अनुभवो को दूसरो तक किस तरह पहुँचा सकते है ?" उन्होंने उत्तर दिया, "हमारे आध्यात्मिक अनुभव हमारे जाने व अनजाने ही दूसरो तक पहुँच जाते हैं। परन्तु वे हमारे शब्दो द्वारा नही, जोकि एक अत्यन्त दुर्वल माध्यम हैं, अपितु हमारे जीवन व दृष्टान्त के द्वारा पहुँचते हैं। आध्यात्मिक अनुभव विचार की अपेक्षा गभीरतर वस्तु हैं। हमारे जीवन के दृष्टान्त से ही आध्यात्मिक अनुभव स्वतः उत्सारित होते है। परन्तु यदि तुम अपने आध्यात्मिक अनुभवो को जान-वूझकर दूसरो तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हो, तो तुम अपने वीच मे एक वौद्धिक दीवार खडी कर लेते हो।" (१५ जनवरी सन् १६२८ को सावरमती सत्याग्रह आश्रम मे 'काउन्सिल आफ दी फेडरेशन आफ इन्टरनेशनल फेलोशिप' के एक सम्मेलन मे अनुष्ठित एक आलोचना से उद्धृत)।

नही होती । मैं चाहता हूँ कि तुम भी वैसा ही करो । तिरस्कार व परनिन्दा का यह भौंकना बन्द कर दो । परम सत्ता के हाथी को सब पर अपने आशीर्वाद की घोषणा करने दो । तुम्हारे अन्दर भी वह शक्ति विद्यमान है, क्या तुम उसका उपयोग करोगे ? अथवा केवल दूसरो को दोष दे-देकर व उनका तिरस्कार करके ही अपना जीवन नष्ट कर दोगे ?''[1]

केशवचन्द्र ने रामकृष्ण के इस उपदेश को श्रवण किया, और विश्वसत्ता के रस से स्नात इस उष्ण जीवित मृत्तिका मे अपनी जडे छोड दी । रामकृष्ण ने उन्हे अनुभव करना सिखाया, कि मानवीय विचार के क्षुद्रतम पौधे मे भी इस रस का विन्दुमात्र भी कभी व्यर्थ नही जाता । केशव का मन सब धार्मिक विश्वासो के प्रति सहिष्णु व उदार हो गया, यहाँ तक कि कुछ ऐसे अनुष्ठानो के प्रति भी, जिन्हें कि वह पहले सर्वथा निषिद्ध बतलाते थे । भगवान् के विभिन्न गुणो के अभिव्यजक के रूप मे वह शिव, शक्ति, सरस्वती, लक्ष्मी, हरि आदि नामो से भगवान् को पुकारने लगे । दो वर्ष तक वे ईसा, बुद्ध और चैतन्य और परमात्मा के श्रेष्ठ अवतारो द्वारा प्रचारित विभिन्न धर्मों के बीच निमग्न रहे । यह तीनो महापुरुष उनके निकट एक दर्पण के ही विभिन्न पार्श्व थे । वह इन सब धर्मों के समन्वय द्वारा एक विश्वव्यापी आदर्श को उपलब्ध करने की इच्छा से इनमे से प्रत्येक को वारी-वारी से आत्मसात् करने का प्रयत्न करने लगे । अपनी अन्तिम रुग्णावस्था मे वे विशेषरूप से रामकृष्ण के भक्ति के स्वरूप—आवेगमय मातृ-प्रेम—के प्रति आकृष्ट हुए । जब रामकृष्ण अन्तिम दिनो मे उनसे मिलने के लिए आए, तो केशव के शिष्यो ने उनसे कहा कि "एक वडा परिवर्तन हो गया है ।" "वे प्राय जगदम्वा के साथ वाते करते दिखाई देते हैं, वे माँ की प्रतीक्षा करते हैं, और उसके लिए रोते हैं ।" रामकृष्ण यह सवाद सुनकर आनन्द-विभोर होकर भावाविष्ट हो गए । इस अन्तिम साक्षात्कार[2] के समस्त विवरण मे इससे बढकर और कोई मर्मस्पर्शी घटना नही है कि भयानक खाँसी के दौरे मे काँपते हुए गिरते-पडते मुमूर्षु केशव दीवारो व कमरे के अन्दर रखे हुए मेज-कुर्सी आदि का सहारा लेते हुए रामकृष्ण के चरणो मे प्रणाम करने के लिए आते हुए दिखाई दिए । रामकृष्ण उस समय भी अर्धसमाधिस्थ मुद्रा मे थे और अपने आप ही

---

१. मुकर्जी ।
२ श्रीरामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पचम खण्ड, प्रथम और द्वितीय परिच्छेद । यह २८ नवम्बर सन् १८८३ के सायकाल की घटना है, जबकि रामकृष्ण अपने कुछ शिष्यो के साथ केशवचन्द्र के घर गये थे ।

यह समझ सकना अत्यन्त सुगम है कि इस आदर्शवादी ने, जो परमात्मा, युक्ति, कल्याण, न्याय और सत्य मे विश्वास करता था, अपने वेदगामय अन्तिम दिनो मे किस प्रकार यह जान लिया कि वह परमपुरुष भगवान् से, अनधिगम्य परमात्मा से कितनी दूर है, और उसके निकट पहुँचने के लिए, उसका स्पर्श करने के लिए, उसे देखने या श्रवण करने के लिए और अपनी अस्वस्थता मे शक्तिलाभ करने के लिए उसे रामकृष्ण की पगधूलि की ही आवश्यकता है। सार्वभौम अनुभव इसकी पुष्टि करता है। परन्तु यही कारण है कि जिसमे केशव के कुछ अभिमानी शिष्य रामकृष्ण को क्षमा नही कर पाते। दूसरी तरफ मैं रामकृष्ण के अनुयायियो से भी यह अनुरोध करूँगा कि वे इसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व न दे, और अपने सरल प्रेमगुरु के ही चरणो का अनुसरण करे। जब केशव इन अन्तिम साक्षात्कार के बाद उनके पास से चले गए, तब रामकृष्ण ने श्रेष्ठतम सामाजिक व बौद्धिक व्यक्तियो तथा अपने जैसे सरल विश्वासियो द्वारा समानरूप से आदृत केशव की महानता की विनयपूर्वक प्रशसा की और ब्रह्मसमाज के प्रति हमेशा अपना आदर-भाव प्रकट करते रहे।[1] श्रेष्ठतम ब्रह्म-

---

कुछ नही जानता 'उसकी माँ सब कुछ जानती है।'''सब उसी की इच्छा के अनुसार होता है। 'ए! जगदम्बे! तुम अपनी इच्छा पूरी करो, और अपने कार्य का सम्पादन करो। मूर्ख मनुष्य कहता है : "मैंने ही यह किया है।"

इसके अतिरिक्त जब केशव यन्त्रणाकातर अवस्था मे अपनी जन्मदात्री, पार्थिव माता को सान्त्वना दे रहे थे, तो उन्होंने कहा : "परम दिव्य माँ ही मेरी भलाई के लिए सब कुछ भेजती है। वह मेरे साथ कभी इस पार्श्व से और कभी दूसरे पार्श्व से खेल करती है।"

१. सन् १८७८ मे ब्रह्मसमाज के अन्दर पुनः नूतन दल की सृष्टि होने पर केशव के कुछ शिष्यो ने उनका साथ छोड दिया, परन्तु रामकृष्ण केशव के प्रति अनुरक्त बने रहे। परन्तु उन्होंने ब्रह्मसमाज की तीनो पृथक् शाखाओ मे कोई भेदभाव स्वीकार नही किया, और तीनो प्रार्थनाओ मे समान रूप से सम्मिलित होते रहे। 'रामकृष्ण कथामृत' मे रामकृष्ण की ब्रह्मसमाज मे कतिपय उपस्थितियो का उल्लेख है, विशेषत २८ अक्टूबर सन् १८८२ का, जब कि केशव के ब्रह्मसमाज के वार्षिकोत्सव पर उन्हें निमन्त्रित किया गया था और वे उसमे उपस्थित हुए थे। वहाँ उत्सुक जिज्ञासुओ ने उन्हे चारो तरफ से घेर लिया और धार्मिक समस्याओ पर उनसे अनेक प्रश्न पूछे,

समाजी भी उसी प्रकार रामकृष्ण को श्रद्धा व सम्मान की दृष्टि से देखते रहे और उनकी सगति से लाभ उठाते रहे। रामकृष्ण के प्रभाव ने उनकी बुद्धि व हृदय को विशालता प्रदान की और पाश्चात्य विज्ञान के प्रथम प्रवाह को ठीक तरह से ग्रहण न कर सकने के कारण, ब्रह्मसमाजियो[2] का उत्कृष्ट भारतीय विचारधारा से जो सम्बन्ध विच्छेद हो चला था तथा भारतीय जन-साधारण उन्हे जिस आशका की दृष्टि से देखने लगे थे, उनकी उस आशका को दूर करने व ब्रह्मसमाजियो के हृदय मे उच्च भारतीय विचारो के प्रति पुन: श्रद्धा जागृत करने मे भी उसने सबसे बढकर भाग लिया।

एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। उनके महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द, ब्रह्मसमाज के ही एक सदस्य थे, और वे उन कट्टर सदस्यो मे से थे, जो कि एक समय हिन्दू परम्पराओ के विरुद्ध पाश्चात्य तर्क के नाम पर एक मूर्तिभजक के

जिनके उन्होंने स्वभावसिद्ध उदारता के साथ उत्तर दिये। उन्होंने भजनो (कबीर के भजन) व धार्मिक नृत्यो मे भी भाग लिया। वहाँ से लौटने से पूर्व उन्होंने ब्रह्मसमाज सहित भक्ति के सभी रूपो के लिए इस प्रकार सम्मान प्रदर्शित किया : "ज्ञानी के चरणो मे प्रणाम हो! भक्त के चरणो मे प्रणाम हो! साकार ब्रह्म के उपासक को प्रणाम हो! निराकार ब्रह्म के उपासक को प्रणाम हो! पुरातन ब्रह्मज्ञानियो को प्रणाम हो! आधुनिक ब्रह्मसमाज के ज्ञानियो को मेरा प्रणाम हो!"

ब्रह्मसमाज के अन्य दो दल उनके प्रति बहुत कम श्रद्धा रखते थे। सबसे उत्तरवर्ती साधारण समाज, केशव पर उनके प्रभाव के कारण उनके प्रति द्वेषभाव तक रहता था। देवेन्द्रनाथ के आदि ब्रह्मसमाज मे तो वह नि.सन्देह एक निम्न श्रेणी के व्यक्ति गिने जाते थे। २ मई सन् १८८३ को जब वे आदि ब्रह्मसमाज के एक अधिवेशन मे गये थे, तब उनके प्रति जो व्यवहार किया गया, उसे कदापि सौजन्यपूर्ण नही कहा जा सकता। उस समय बालक रवीन्द्रनाथ टैगोर भी वहाँ उपस्थित थे और सभवत. उन्हें उक्त घटना का स्मरण भी हो—श्री श्री रामकृष्ण कथामृत देखिए।

२ विशेषत: केशवचन्द्र के उत्तराधिकारी प्रतापचन्द्र मजूमदार और विजयकुमार गोस्वामी, जिन्होंने बाद मे ब्रह्मसमाज का परित्याग कर दिया था। केशवचन्द्र प्रतिष्ठापित ब्रह्मसमाज के विख्यात सगीतकार व गायक त्रैलोक्यनाथ सान्याल कहते हैं कि उनके बहुत से गानो की प्रेरणा उन्हे रामकृष्ण के भावावेशो से ही मिलती है।

कुछ-कुछ बोल रहे थे। केशव चुपचाप थे, और उनके उन रहस्यमय शब्दो को, जो कि जगदम्बा के ही कण्ठ से उच्चरित प्रतीत होते थे, पान कर रहे थे। इन शब्दो ने केशव के सम्मुख कठोर परन्तु सान्त्वनाकारी शान्ति के साथ उनकी यन्त्रणा और समासन्न मृत्यु का अर्थ प्रकट कर दिया।[1] "केशवचन्द्र के धार्मिक विश्वास और अधीर प्रेममय जीवन के बीच जो गुप्त विभ्रान्ति विद्यमान थी, रामकृष्ण किस गभीर अन्तर्भेदी दृष्टि से उसे समझ रहे थे।

उन्होंने मधुर स्वर मे कहा : "तुम बीमार हो, इसमे एक गभीर अर्थ है। तुम्हारे शरीर मे से भगवान् की खोज मे अनेक भक्ति की लहरे गुजरी हैं। तुम्हारी बीमारी इसकी साक्षी है। जिस समय वे उत्पन्न होती हैं, उस समय वे शरीर को कितनी हानि पहुँचाती हैं, यह कह सकना असभव है। गगा के तट के साथ-साथ एक नाव बिना किसी का ध्यान आकृष्ट किए गुजर जाती है। परन्तु कभी-कभी कुछ समय बाद कोई बडी लहर, उस नाव के गुजरने के कारण स्थानभ्रष्ट होकर नदी तट से जाकर टकराती है और उसके एक भाग को गिरा देती है। जिस समय भगवत् साक्षात्कार की अग्नि नश्वर शरीररूपी घर मे प्रवेश करती है, तो वह पहले काम, क्रोध आदि रिपुओ का नाश करती है, फिर अहकार को दग्ध करती है, और अन्त मे वह सब वस्तुओ को स्वाहा कर देती है। . तुम अभी तक अन्तिम लक्ष्य पर नही पहुँचे हो। भगवान् के चिकित्सालय के रजिस्टर मे तुमने अपना नाम क्यो लिखाया था? जब तक तुम्हारे नाम के

---

१ रामकृष्ण का भावावेश उस समय भी पूर्णतया दूर न हुआ था, उन्होंने सुन्दर फर्नीचर व दर्पणो से सुसज्जित बैठक के सामान पर दृष्टि डाली और मन्द मुसकान के साथ अपने आप ही कहने लगे : "हाँ, कुछ समय पूर्व इन सब वस्तुओ की आवश्यकता थी, परन्तु अब वे सब बेकार हैं माँ तुम स्वय ही यहाँ आ गई हो। माँ! तुम कितनी सुन्दर हो! " इसी समय केशव कमरे मे दाखिल हुए और रामकृष्ण के पैरो मे गिर पडे।

केशव ने कहा : "मै आया हूँ" रामकृष्ण ने केशव की तरफ दृष्टि-निक्षेप किया, परन्तु ऐसा प्रतीत होता था कि वे उन्हे ठीक तरह पहिचान न सके, और माँ और मानवीय जीवन के सम्बन्ध में अपना एकाकी भाषण जारी रखा। यद्यपि रामकृष्ण केशव के स्वास्थ्य की खबर लेने आए थे, परन्तु इस बारे मे उन दोनो ने एक शब्द भी नही कहा। जो शब्द मैंने ऊपर उद्धृत किए है, वे भी उन्होंने कुछ देर बाद उच्चारित किए थे।

आगे 'रोगमुक्त' यह शब्द न लिखा जाएगा, तब तक तुम्हे बाहर आने की इजाजत नही मिल सकती।"

उसके बाद उन्होंने एक सुन्दर उपमा के रूप मे कहा कि भगवान् एक माली के समान कीमती गुलाब के पौधे की जडो को चारो तरफ से खोदते हैं ताकि वह रात्रि की ओस का पान कर सके।[1]

"बीमारी तुम्हारी जडो के चारो तरफ की मिट्टी को खोद रही है।"

केशव ने शान्ति के साथ सुना और मुसकराये। रामकृष्ण की मुसकान ने इस घर में मृत्यु के अन्धकार और रोगी की यन्त्रणा के ऊपर एक प्रकार की रहस्यमय शान्ति का प्रकाश बिखेर दिया था। जब तक केशव थककर, उठकर भीतर जाने न लगे, तब तक रामकृष्ण के स्वर मे कोई गम्भीरता लक्षित न होती थी। तब उन्होंने मुमूर्षु केशव से कहा कि उसे अन्दर के घर मे स्त्रियो व बालको के साथ अधिक न रहकर एकाकी भगवान् के साथ ही रहना उचित है।

और यह कहा जाता है कि मृत्यु-यन्त्रणा मे केशव के अन्तिम शब्द थे "माँ! 'माँ! '।"[2]

---

१ "माली यह जानता है कि साधारण गुलाब के पौधे की किस प्रकार रक्षा की जाती है, और बसरा के गुलाब की किस प्रकार परवरिश की जाती है। वह उसकी जड की चारो तरफ की मिट्टी को खोदकर भुरभुरी बना देता है, ताकि वह रात्रि की ओस का उपभोग कर सके। ओस गुलाब को ताजगी व शक्ति देती है। इसी प्रकार यह तुम्हारे सम्बन्ध मे है। भगवान्-रूपी माली यह जानता है कि तुम्हारे साथ किस तरह व्यवहार करना चाहिए। वह तुम्हारे चारो तरफ जडो तक खोद रहे है ताकि उनकी ओस तुम्हारी जडो तक पहुँच सके और तुम पवित्रतर बन सको तथा तुम्हारा कार्य भी महत्तर व अधिक चिरस्थायी हो सके।" (श्रीरामकृष्ण कथामृत, प्रथम भाग, पञ्चम खण्ड, द्वितीय परिच्छेद)

२ इस अन्तिम साक्षात्कार के समय रामकृष्ण के शब्दो का केशव के अन्तिम विचारो के ऊपर जो प्रभाव व प्रतिक्रिया हुई, वह मेरे विचार मे पहले कभी नही देखी गई थी।

रामकृष्ण बहुत देर तक उनके साथ जगदम्बा के सम्बन्ध मे बाते करते रहे और कहा: "वह अपने बच्चो की देखभाल करती है वह जानती है कि उन्हे वास्तविक ज्ञान व मुक्ति किस प्रकार मिल सकती है ' बालक

समान विद्रोह के लिए खडे थे, परन्तु वाद मे वे उन्ही का सम्मान व पक्षपोषण करने लगे। इस हिन्दू जागृति से पश्चिम के वास्तविक विचार को कोई हानि नही पहुँची। अव पूर्व की विचारधारा स्वतन्त्र हो गई है, और इसलिए एक सभ्यता दूसरी सभ्यता को पराधीन और पददलित न करेगी, अपितु दोनो विचार-धाराओ मे समान व स्वतन्त्र व्यक्तियो के समान बरावरी के दर्जे पर परस्पर सधि स्थापित हो सकेगी।

८ | शिष्यों की पुकार

रामकृष्ण और ब्रह्मसमाज के परस्पर मिलन से भारत को क्या लाभ हुआ, यह अत्यन्त आसानी से देखा जा सकता है। रामकृष्ण को उससे क्या लाभ हुआ, यह सुनिर्दिष्ट होने पर भी इतना स्पष्ट नही है। इसके फलस्वरूप ही रामकृष्ण पहले-पहल अपने देश की शिक्षित व मध्यवित्त श्रेणी के सम्पर्क मे आये और उनके द्वारा प्रगति और पाश्चात्य विचारधारा के अग्रदूतो से उनका परिचय हुआ। इससे पहले वह उनकी मनोवृत्ति के सम्बन्ध में वास्तव मे कुछ न जानते थे।

वह एक सकीर्ण व कट्टर भक्त के समान न थे, जो कि अपने कक्ष के वातायनो को जल्दी से बन्द करने के लिए तैयार रहता है। इसके विपरीत उन्होंने उन्हे खुला छोड रखा था। रामकृष्ण के अन्दर जीवन-वृक्ष के प्रत्येक फल का आस्वादन लेने की लालसा, और मानवसुलभ अतृप्त कौतूहल इतना प्रवल था कि वह उन नवीन फलो का पूर्ण स्वाद लिए बिना न रह सकते थे। उनकी खोज करने वाली दृष्टि दरारो व छिद्रो मे से घर के अन्दर घुस जाने-वाली लता के समान अन्दर प्रविष्ट होकर अपने आतिथ्यकर्ता के गृह के विभिन्न अशो और उसके अन्दर निवास करने वाली विभिन्न आत्माओ का अध्ययन कर लेती थी, और उन्हे और भी अच्छी तरह समझने के लिए वे उनके साथ एकदम घुल-मिल जाते थे। वह उनकी दुर्बलताओ (और उनके महत्त्व) को भी समझ लेते थे, और प्रत्येक आत्मा को उसकी प्रकृति व योग्यता के अनुसार उसके जीवन का आदर्श और कर्त्तव्य निर्देश करते थे। वे किसी भी मनुष्य के ऊपर उसकी प्रकृति के विरुद्ध किसी आदर्श व कर्त्तव्य को लादने की कल्पना भी न करते थे। व्यक्तिगत रूप से उनके निकट त्याग ही एकमात्र तात्कालिक व अन्तिम सत्य वस्तु थी। तथापि उन्होंने इस बात को जान लिया कि प्रायः अधिकतर मनुष्य इस सत्य को ग्रहण नही कर सकते, और इस खोज से न तो उन्हें कोई आश्चर्य हुआ और न किसी प्रकार का विषाद ही। मनुष्य जिन

मतभेदो को कँटीली बाड के समान अपने बीच मे खडे करने मे व्यस्त है, वे उन के सम्मुख एक ही मैदान मे फूलनेवाली उन झाडियो के अतिरिक्त, कुछ नही थे। जो कि दृश्य को विविधता प्रदान करती हैं[1]। वे उन सभी से प्यार करते थे। वे उनमे से प्रत्येक के लक्ष्य व उस तक पहुँचने के मार्ग को देख सकते थे, और प्रत्येक को उसके अनुसरण करने योग्य मार्ग पर चलने का निर्देश करते थे। वह जब किसी व्यक्ति से बात करते थे, तो दर्शकगण यह देखकर विस्मित हो जाते थे कि वे तत्काल उसी व्यक्ति द्वारा अपने विचारो को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त की जानेवाली शब्दावली व शैली का प्रयोग करने लगते थे। यह केवल सर्वतोमुखिता ही न थी। उनकी आत्मा डाँड पर अपना पूरा काबू रखती थी, यदि वह मनुष्यो को तट के एक स्थान से किसी दूसरे स्थान पर ले जाती थी, और तो वह हमेशा भगवान् रूपी तट ही होता था। वे उन्हे अपनी शक्ति से ही पार उतरने मे अज्ञात रूप से सहायता करते थे। चूँकि वे विश्वास करते थे कि समस्त प्रकृति भगवान् की ही है, इसलिए प्रत्येक प्रकृति को उसका निर्दिष्ट पथ दिखाकर उसकी अन्तिम परिणति तक पहुँचा देना ही वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनके अन्दर आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन की शक्ति विद्यमान है, इस तथ्य की उपलब्धि उन्हें बिना किसी इच्छा व प्रयत्न के ही हो गई थी। इटैलियन पुनर्जागरण के युग मे आदर्श के रूप मे प्रयुक्त की जानेवाली एक पश्चिमी कहावत है कि : "इच्छा करना ही समर्थ होना है।" जिन नवयुवको को अभी प्रत्येक चीज करनी शेष है, उनके लिए यह एक सुन्दर नारा है। परन्तु अपेक्षाकृत प्रौढ मनुष्य, जो कि केवल शब्दो से सन्तुष्ट नहीं होते, और[2] जो कर्म पर बल देते है, वे इस मन्त्र को इस प्रकार उलटकर कहते हैं कि : "समर्थ होना ही इच्छा करना है।"

रामकृष्ण को अचानक ही अपनी शक्ति, और उसके उपयोग के लिए विश्व की पुकार का बोध हुआ। भारत के कुछ श्रेष्ठतम मनीषियो पर भी उनका प्रभाव व आधिपत्य उन मनीषियो की दुर्बलता, उनकी अतृप्त आकांक्षा, उन्हे

---

१ किसी व्यक्ति ने उनसे पूछा कि ब्रह्मसमाजियो व अन्य हिन्दुओ मे क्या अतर है ? उन्होंने उत्तर दिया · "कोई विशेष अन्तर नही है। शहनाई बजाते समय एक व्यक्ति ऊँचा स्वर बजाता है, दूसरे उससे नीचे स्वर बजाते हैं। ब्राह्मगण हमेशा एक ही स्वर—ब्रह्म के निराकार रूप—को ही बजाते रहते हैं। परन्तु हिन्दू परमात्मा के विभिन्न रूपो का स्वर बजाते हैं।"

२. मूल कहावत है "Vouloir, c'est pouvoir" जिसका यह शब्दार्थ है।

विज्ञान से प्राप्त होनेवाले उत्तरो की अपूर्णता और रामकृष्ण के हस्तक्षेप की आवश्यकता को प्रकट करता है। सगठन की कितनी शक्ति है, और कुछ आध्यात्मिक चेतना-सम्पन्न नवयुवको का एक दल जब अपने बड़े भाई के चारो ओर एकत्रित होकर, समवेत भाव से अपनी प्रेमपात्री माँ के चरणो मे अपने प्रेम का अर्घ्य अर्पण करता है, तो उसका क्या सौन्दर्य है, यह सब रामकृष्ण ने ब्रह्म-समाज मे देखा था।

इसके फलस्वरूप उनका आदर्श जो कि अभी तक अनिर्दिष्ट था, वह तत्काल स्फटिक की भाँति सुस्पष्ट हो उठा। पहले यह एक निर्णयगर्भित सचेतन विचार के रूप मे एकाग्र हुआ और पुन. कार्य रूप मे परिणत हो गया।

सबसे पहले उसने परमात्मा के साथ अपने सम्बन्धो पर पूर्णरूप से गौर किया। उसने देखा कि उसके अन्तर्वर्ती यह परमात्मा[1] अन्य साधको की तरह केवल व्यक्तिगत मुक्ति मे सन्तुष्ट नही हो सकता। परन्तु यह उससे मनुष्य-जाति के प्रति प्रेम व सेवा की अपेक्षा करता है।[2] उसके आध्यात्मिक सघर्ष, उसके भावावेश, उसकी उपलब्धियाँ आदि कोई भी वस्तु केवल उसके अपने लाभ के लिए नही है।

---

१ भैरवी ब्राह्मणी ने जो पहले यह घोषणा की थी कि रामकृष्ण एक अवतार हैं, रामकृष्ण ने भी अब उसे स्वीकार किया। परन्तु इस सम्बन्ध मे वह किसी प्रकार की चर्चा पसन्द न करते थे, और अपने सम्मुख इस प्रकार का उल्लेख सहन न करते थे। साधारणतया आत्मप्रशसा उन्हे कभी अच्छी न लगती थी। वह जन-साधारण के सम्मुख अपने अन्दर किसी विशेष आध्यात्मिक शक्ति की बात कभी स्वीकार न करते थे। इससे उनके कुछ अनुयायी, जो कि उनमे स्वय भी हिस्सेदार होना चाहते थे, उनसे असन्तुष्ट भी हो जाते थे। आन्तरिक कर्म व गुप्त प्रकाश मे ही उनका दृढ विश्वास था, जिसका वह कभी प्रदर्शन न करते थे। मैं अपने पश्चिमदेशीय पाठको से एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ—जो कि सभवत उन्हें अप्रिय प्रतीत हो—कि किसी आदर्श मे वह तीव्र, आवेगमय विश्वास, जो कि हमारे महापुरुषो पर विचार व कर्म का गुरुतर भार सौंपता है, क्या वह ठीक इसी प्रकार की अन्तर्दृष्टि, व्यक्तित्व की सीमाओ को अतिक्रान्त करने वाली सत्ता की पूर्णता के ही अनुरूप नही है? हम उसे चाहे जिस नाम से भी पुकारे, उस से कुछ अन्तर नही आता।

२ 'सेवा' शब्द जो कि रामकृष्ण के शिष्यो ने अपने मिशन के साथ जोड़ा है,

"कार्य करो, परन्तु अपने लिए नही ।"[1]

वे सब मानव उन्नति और आध्यात्मिक उपलब्धि के नवयुग के लिए मार्ग-निर्माण करने के साधन के रूप मे थे। अन्य पुरुषो को मोक्ष की इच्छा व आशा का अधिकार है, परन्तु उसे नही। वह उसे अपना लक्ष्य नही बना सकता प्रत्येक शताब्दी में जब-जब भी मनुष्य-जाति पर विपत्ति आई है, उसने उनकी सहायता के लिए जन्म धारण किया है।[2]

और अपने समसामयिक मनुष्यो को एक झण्डे के नीचे एकत्रित करने के लिए वे जिस मोक्ष की वाणी का प्रयोग करते थे, वह इस प्रकार है[3] :—

१—मूलत और अपने विश्वासियो के अकपट आन्तरिक विश्वास की दृष्टि से सभी धर्म सत्य धर्म है। इस सार्वभौम सत्य को रामकृष्ण ने अपनी साधारण बुद्धि और अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त किया था, और पृथ्वी पर उसके अवतरण का यही मुख्य लक्ष्य था।

२—द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और विशुद्ध अद्वैतवाद आध्यात्मिक विद्या के यह तीनो वाद परमसत्य के मार्ग की तीन मंजिले हैं। वे परस्परविरोधी नही हैं, अपितु एक दूसरे की पूरक हैं। एक विशेष स्तर के व्यक्तियो के मानसिक गठन की अनुकूलता की दृष्टि से इन विशेष स्तरो की उपयोगिता है। जन-साधारण के लिए, जो कि इन्द्रियो द्वारा आकृष्ट होते हैं, बाह्यानुष्ठान, सगीत,

---

रामकृष्ण ने स्पष्टतः उसका व्यवहार नही किया था। परन्तु आत्म-त्याग करके भी दूसरो की सेवा के लिए प्रेम की जिस शिक्षा का उन्होंने प्रचार किया है, वह मूलत सेवा की ही शिक्षा है। स्वामी अशोकानन्द ने स्पष्ट ही दिखलाया है कि सेवा ही इसकी प्रेरक शक्ति है। (The Origin of Swami Vivekanands' Doctrine of service) प्रबन्ध देखिए, प्रबुद्ध भारत पत्रिका, अलमोडा, फरवरी १९२८) हम अगले खण्ड मे इस सम्बन्ध में और आलोचना करेंगे।

१. वर्जिल द्वारा व्यवहृत एक पद जिसका अर्थ है, "तुम कर्म करो, परन्तु अपने लिए नही।"

२ यहाँ पर एक अद्भुत बात उल्लेख करना चाहता हूँ। ऐसा सुना जाता है कि रामकृष्ण ने उत्तर पश्चिम दिशा की तरफ सकेत करते हुए कहा था कि दो सौ वर्ष पश्चात् वे पुन. उस स्थान मे अवतार रूप मे प्रकट होंगे। (रूस मे ?)

३ श्री रामकृष्ण जीवनी—पृष्ठ ३४२-३४७।

मूर्ति और प्रतीकयुक्त द्वैतवादी धर्म ही श्रेयस्कर है। विशुद्ध बुद्धि ही विशिष्टाद्वैतवाद तक पहुँच सकती है। यह जानती है कि इससे परे भी कोई वस्तु है, परन्तु यह उसकी उपलब्धि नही कर सकती। उस परम की उपलब्धि के लिए एक अन्य स्तर है, और यौगिक साधना द्वारा ही उस अनिर्वचनीय, निराकार व अव्यय परब्रह्म का पूर्वास्वाद मिल सकता है। वह शब्द और मन के तार्किक साधनो से अगम्य है। यह "उपलब्धि" का अन्तिम शब्द है। यह अद्वितीय सत्ता के साथ ऐक्य सपादन है।

३—इस विचारधारा की श्रेणी के समानान्तर स्वभावत. एक कर्तव्यो की श्रेणी भी है। साधारण मनुष्य ससार मे रहता है, और वही रहते हुए अत्यन्त उत्साह व प्रेम के साथ अनासक्त रहकर अपने कर्तव्यो का पालन कर सकता है व करता है, जिस प्रकार कि एक साधु नौकर यह जानते हुए भी कि घर उसका नही है, फिर भी उस घर की हिफाजत करता है। पवित्रता और प्रेम के द्वारा उसे अपनी इच्छाओ व वासनाओ से मुक्त होना है। परन्तु यह धीरे-धीरे और धैर्य तथा विनय के साथ ही हो सकता है।

"केवल उन्ही कर्मों का दायित्व ग्रहण करो जो तुम्हारे पवित्र विचारो व स्वप्नो मे आते है। विराट् कार्यों का दायित्व लेकर अपनी चापलूसी मत करो। जिन छोटे-छोटे कार्यों को तुम भगवान् को अर्पण कर सकते हो, उन्ही का दायित्व लो। तब ज्यो-ज्यो तुम्हारी नि.स्वार्थता व पवित्रता की अभिव्यक्ति होगी—और आत्मा के गुणो का विकास बहुत शीघ्रता से होता है—त्यो-त्यो यह अपने आप ही भौतिक जगत् मे अपना मार्ग बना लेगी और दूसरो को लाभ पहुँचाएगी, जिस प्रकार हिमालय की कठोर चट्टानो से निकलकर गगा ने हजारो मील भूमि को जलधारा द्वारा सिंचित किया है।"[1]

जल्दबाजी मत करो, धीरे-धीरे अपनी ताकत के अनुसार कदम बढाओ। तुम निश्चय ही अपने लक्ष्य पर पहुँच जाओगे, इसलिए भागने की जरूरत नही है। परन्तु रुको मत। "धर्म वह पथ है, जो परमात्मा तक पहुँचा देता है, परन्तु एक मार्ग एक घर नही है। " "और क्या यह बहुत लम्बा भी हो सकता है ?" —"हाँ, अवस्था के अनुसार। पथ की दूरी सबके लिए समान है। परन्तु लक्ष्य तक पहुँचने मे कुछ व्यक्तियो को अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है।"

"कुम्हार धूप मे अपने बर्तन सुखाता है। कुछ पहले ही पके हुए बर्तन है और कुछ कच्चे है। कभी-कभी कोई जानवर आकर उनके ऊपर से गुजर

---

१ धनगोपाल मुकर्जी रचित पूर्वोक्त ग्रन्थ देखिए।

जाता है, और उन्हे तोड डालता है। (तव मृत्यु आ जाती है)...कुम्हार कच्चे वर्तनो को फिर इकट्ठा करता है, और उनमे जल देकर मुलायम करके फिर चाक पर चढाता है, वह उन्हें वेकार नही जाने देता। परन्तु जव परमात्मा रूपी सूर्य तुम्हारा पाक परिपूर्ण कर देता है, तो कुम्हार उसके अवशेपो को वैसे ही छोड़ देता है, क्योंकि फिर वह माया के उपयोग की वस्तु नही रहते। अपवाद-स्वरूप केवल एक-दो परिपक्व वर्तनो को ही वह मनुष्य जाति की सेवा के लिए नमूने के तौर पर माया जगत् मे रहने देता है।"[1]

रामकृष्ण एक ऐसे ही व्यक्ति थे, और जो व्यक्ति उनसे एक पडाव पीछे थे,[2] उनकी खोज करना, और माँ की इच्छा पूर्ण करने के लिए उनके साथ एक ऐसे शिष्य-समाज का संगठन करना, जो कि विश्व मे उनके सन्देश का प्रचार कर सके व उनकी समस्त सत्यो का समावेश करनेवाली वाणी की शिक्षा दे सके, यही उनका लक्ष्य था। यह सन्देश सार्वभौम था—परमात्मा के सव पार्श्वो, प्रेम और ज्ञान के सव प्रकाशो, और मनुष्य-जाति के सव रूपो के समन्वय व एकता का सन्देश था। इससे पूर्व किसी भी व्यक्ति ने परम सत्ता के एक पार्श्व से अधिक की उपलब्वि का प्रयत्न न किया था। सभी पार्श्वो की उपलब्वि आवश्यक है। यही इस युग का कर्त्तव्य है। और जिस व्यक्ति ने अपने आपको अपने जीवित भाइयो मे से प्रत्येक के साथ एकाकार करके, अपने अन्दर उनके नेत्रो, उनकी इन्द्रियो, उनके मस्तिष्क व हृदय को धारण करके उस उपलब्वि को पूर्ण किया था, वह ही इस नवयुग का सर्वश्रेष्ठ नायक व पथप्रदर्शक है।[3]

रामकृष्ण ने जैसे ही अपने इस आदर्श का साक्षात्कार किया, वैसे ही उसे क्रियान्वित करने के लिए उनके अन्दर तीव्र अभिलाषा प्रज्वलित हो उठी।[4]

---

१. वंकिमचन्द्र चटर्जी से साक्षात्कार ता० ६ दिसम्वर सन् १८८४।
२. उन्होंने कहा था, "जो अपने अन्तिम जन्म मे हैं।"
३. स्वामी अशोकानन्द का पूर्वोल्लिखित प्रवन्ध देखिए।
४. रामकृष्ण को सन् १८६३ मे यह अन्तर्वोध हुआ कि व‸त-सी विश्वासी व पवित्र हृदय आत्माएँ उनके पास आएँगी। (श्री रामकृष्ण जीवनी, पृष्ठ १०३ देखिए)। परन्तु सन् १८६६ से पूर्व रामकृष्ण ने इस पर कोई विशेष ध्यान नही दिया। शारदानन्द के लेखानुसार इस वर्ष की दीर्घ समाधि के वाद ही अपने भावी शिष्यो के लिए उनके हृदय में प्रवल इच्छा का उदय हुआ। प्रति सायकाल वे उनके आने के लिए जोर-जोर से प्रार्थना करते थे। अगले छः वर्षों के अन्त के लगभग (१८६६-१८७२) यह सकट अपनी

एक पक्षियो के जादूगर के समान उन्होंने अन्य पक्षधारी आत्माओ को अपनी छतरी के चारो ओर एकत्रित होने के लिए शून्य मे अपना व्याकुल आमत्रण भेज दिया। समय वहुत हो चुका था। वह अधिक प्रतीक्षा न कर सकते थे। उन्हे अपने दल को एकत्र करना था। दिन-रात उन्हे अपने इन प्रिय साथियो का विचार सताने लगा। उनका मन उनके लिए चीत्कार करने लगा

"मेरी तीव्र अभिलाषा का कोई अन्त न था। वुरा या अच्छा उसी दिन उसे मुझे पूरा करना था। मेरे चारो तरफ कोई क्या चाहता था, मुझे इसका कुछ पता न था। मेरे मन मे वही वसे हुए थे। मैं उन्हे देख सकता था। मैंने पहले ही यह निश्चय कर लिया कि अमुक-अमुक को क्या कहना है। दिन के अन्त तक उनका विचार ही मेरे मन का बोझा बनकर सवार हो गया। ' एक दिन और गुजर गया, पर वे तव तक भी न आए। घण्टा बजा, शखध्वनि हुई। प्रकाश धीरे-धीरे म्लान हो चला। मैं क्षत-विक्षत हृदय के साथ छत पर चढ-कर चीत्कार करने लगा : 'मेरे वालको। आओ। तुम कहाँ हो ? मैं तुम्हारे विना जिन्दा नहीं रह सकता ...' मैं उन्हे अपनी माँ, दोस्त व प्रेमी से भी वढ-कर प्यार करता था। मैं उन्हे दिल से चाहता था और उनके विना मरा जा रहा था।"

रात्रि की निस्तब्धता मे यह आत्मा का आर्तनाद पवित्र सर्प की तरह ऊपर उड चला। और पक्षधारी आत्माओ के ऊपर इसके आकर्षण का असर हुआ। किसका आदेश व किसकी शक्ति उन्हे आकृष्ट कर रही है, यह न जानते हुए भी चारो दिशाओ से वह यह अनुभव करने लगे कि उन्हे कोई अपनी ओर खीच रहा है, मानो वे किसी अदृश्य सूत्र मे बँधे हुए खिचे चले जा रहे हैं। वे चक्कर काटने लगे, समीप आने लगे और अन्त मे जल्दी ही एक-एक करके उनके पास आ गए।

पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। शिक्षक के गुरु दायित्व को ग्रहण करने के लिए समर्थ होने और उस समय के भारत की आध्यात्मिक अवस्था को हृदयगम करने के लिए उन्हे भी कुछ और समय की आवश्यकता थी। इस समय के अन्त मे उन्हे स्वप्न मे अपने शिष्यो के दर्शन हुए। (स्वामी विवेकानन्द की जीवनी, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३६० देखिए)। उन्होंने सर्वप्रथम सन् १८७८ के अन्त मे व सन् १८७५ के प्रारम्भ मे, जव उनका केशव से परिचय हुआ था, तभी अपना प्रचार कार्य आरम्भ किया था। उनका प्रचार काल १८७४ से सन् १८८६ के अगस्त मास तक वारह वर्ष के लगभग जारी रहा।

सबसे पहले जो शिष्य आये (यह सन् १८७९ की घटना है) वे कलकत्ता के मध्यवित्त श्रेणी के दो बुद्धिजीवी व्यक्ति थे। वे दोनो परस्पर चचेरे भाई थे। उनमे से एक कलकत्ता मेडिकल कालेज मे डाक्टरी का अध्ययन कर रहा था, और कट्टर भौतिकवादी तथा निरीश्वरवादी था। उसका नाम रामचन्द्र था। दूसरा व्यक्ति मनमोहन मित्र विवाहित, व एक परिवार का अभिभावक था। ब्रह्मसमाज पत्रिका मे रामकृष्ण के सम्बन्ध मे कुछ पंक्तियाँ देखकर उनका ध्यान उनकी तरफ आकृष्ट हुआ था। वे आये और रामकृष्ण ने उन्हे अपने वशवर्ती कर लिया। उन्होंने ससार त्याग नही किया, न रामकृष्ण ने उन्हे इसके लिए कभी उत्साहित किया। किन्तु इस असाधारण व्यक्ति के चरित्र व मधुर व्यवहार से ही वे मुग्ध हो गए। वे ही रामकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ दो शिष्यो को उनके सम्पर्क मे लाए—एक ब्रह्मानन्द, (राखालचन्द्र घोष), जो रामकृष्ण मठ के सर्वप्रथम मठाध्यक्ष हुए, और दूसरे विवेकानन्द (नरेन्द्रनाथ दत्त) जिसकी प्रतिभा व विलक्षण बुद्धि ने समस्त भारत व विश्व को ज्ञान का प्रकाश दिया।

मुख्य व्यक्तियो के सम्बन्ध मे आलोचना करने से पूर्व जो शिष्य सन् १८७९ से १८८५[1] तक रामकृष्ण के चारो तरफ आकर एकत्रित हुए थे, उनमे सबसे अधिक परिचितो के नाम, और साथ ही उनके जन्म व व्यवसाय के सम्बन्ध मे यथासभव सक्षिप्त विवरण नीचे देता हूँ :—

१८७९ : १ और २ डाक्टर रामचन्द्र दत्त और उसका भतीजा मनमोहन मित्र

३—रामचन्द्र बाबू का नौकर लाटू। बिहार के साधारण घर मे उसका जन्म हुआ था। बाद मे आश्रम मे उन्हे अद्भुतानन्द नाम दिया गया।

४—सुरेन्द्रनाथ मित्र। यह एक अँगरेजी फर्म के एक धनी कर्मचारी थे। गृहस्थ व ब्रह्मसमाज के सदस्य थे।

१८८१ :

५—राखालचन्द्र घोष। एक जमीदार के पुत्र थे। बाद में ब्रह्मानन्द के नाम से रामकृष्ण मठ के प्रथम अध्यक्ष नियुक्त हुए।

६—गोपाल, ज्येष्ठ भाई, एक कागज-विक्रेता (बाद मे अद्वैतानन्द)

६—नरेन्द्रनाथ दत्त, एक बुद्धिमान् युवक। इनका एक क्षत्रिय परिवार मे जन्म हुआ था। (बाद मे विवेकानन्द)

---

१. शारदानन्द के अनुसार रामकृष्ण के सभी शिष्य सन् १८८४ से पूर्व ही उनके पास आ गए थे, और उनमे से अधिकतर सन् १८८३ और १८८४ के मध्य मे आये थे।

१८८२ :

८—महेन्द्रनाथ गुप्त । यह कलकत्ता श्याम बाजार के विद्यासागर हाईस्कूल के प्रधान शिक्षक थे । बाद मे इन्होंने 'म' इस संक्षिप्त नाम से 'श्री श्री रामकृष्ण कथामृत' की रचना की । और यदि मैं भूल नही कर रहा हूँ तो इन्होंने ही 'मौर्टन इन्स्टीट्यूट' की स्थापना की थी व वही उसके परिचालक हैं ।[1]

९—तारकनाथ घोषाल । यह एक वकील के पुत्र व ब्रह्मसमाज के सदस्य थे । और शिवानन्द नाम से आजकल रामकृष्ण-मठ के अध्यक्ष हैं ।[2]

१०—जोगेन्द्रनाथ चौधरी । दक्षिणेश्वर के एक कुलीन ब्राह्मण परिवार मे इनका जन्म हुआ था । बाद मे योगानन्द नाम से प्रसिद्ध हुए ।

१८८३ :

११—शशिभूषण । (परिवर्ती नाम—रामकृष्णानन्द)

१२—शरच्चन्द्र चक्रवर्ती (बाद मे शारदानन्द) । यह पच्चीस वर्ष से भी अधिक समय तक रामकृष्ण मिशन के मंत्री रहे हैं । इन्होंने रामकृष्ण की विख्यात जीवनी लिखी है । और यह दोनो जन्म से ब्राह्मण और ब्रह्मसमाज के सदस्य थे ।

१३—कालीप्रसाद चन्द्र । यह एक अँगरेजी भाषा के प्राध्यापक के पुत्र थे । (बाद मे अभेदानन्द)

१४—हरिनाथ चट्टोपाध्याय । यह जाति से ब्राह्मण थे । (बाद मे तुरीयानन्द नाम से परिचित हुए)

१५—हरिप्रसन्न चैटर्जी । एक विद्यार्थी थे । (विज्ञानानन्द)

१८८४ :

१६—गङ्गाधर घटक । यह चौदह वर्ष के एक नवयुवक विद्यार्थी थे । (बाद मे अखण्डानन्द)

१७—गिरीशचन्द्र घोष । यह एक प्रसिद्ध अभिनेता व नाटककार थे । यह आधुनिक बङ्गाली रङ्गमञ्च के प्रतिष्ठाता, और कलकत्ता स्टार थिएटर के डायरेक्टर भी थे ।

१८८५ :

१८—सुबोध घोष । एक सत्रह वर्ष का छात्र । इनके पिता ने कलकत्ता मे काली के एक मन्दिर की स्थापना की थी । (बाद मे सुबोधानन्द)

१-२. अर्थात् १९२८ मे जबकि लेखक ने मूल पुस्तक लिखी ।

—अनुवादक

१६—पूर्णचन्द्र घोष। यह रामकृष्ण के छः मुख्य शिष्यो मे से एक थे, और तेरह वर्ष की अवस्था मे ही उनके छ शिष्य हो गए थे।

निम्नलिखित व्यक्तियो का रामकृष्ण के साथ कब प्रथम परिचय हुआ, इसके सम्बन्ध मे ठीक तारीखो का निश्चय नही कर पाया हूँ।

२०—धनी जमीदार बलराम वसु। यह एक प्रौढ वयस्क और अत्यन्त धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे। रामकृष्ण मठ की प्रतिष्ठा मे इन्होंने बहुत आर्थिक सहायता दी है।

२१—प्रेतविद्या की प्रक्रिया का तरुण माध्यम नित्य निरञ्जन घोष। रामकृष्ण ने अपनी शक्ति द्वारा उसका प्रेततत्त्वो में से विश्वास हटाया था।[1] (बाद मे उसका नाम निरञ्जनानन्द हुआ।)

२२—देवेन्द्र मजूमदार। यह एक वृद्ध, विवाहित भद्र व्यक्ति थे, जो एक बङ्गाली जमीदार के कर्मचारी थे, और बँगला कवि सुरेन्द्रनाथ के भाई थे।

२३—बाबूराम घोष। यह बीस वर्ष की आयु के एक छात्र थे। (बाद में प्रेमानन्द)

२४—तुलसीचरण दत्त। एक अट्ठारह वर्षीय विद्यार्थी। (निर्मलानन्द)

२५—दुर्गाचरण नाग। यह रामकृष्ण के ससारी शिष्यो मे सबसे मुख्य थे। यह पुरातन स्वर्णीय दन्त कथाओ मे वर्णित सच्चे महात्मा के समान थे।

इत्यादि।[2]

ऊपर की तालिका से स्पष्ट प्रतीत होता है, गरीब भृत्य लाटू को छोडकर रामकृष्ण के शिष्यो मे अधिकाश बुद्धिजीवी एव कुलीन ब्राह्मण और धनी मध्य-वित्त श्रेणी के व्यक्ति थे। वे या तो किशोर थे या युवक थे, और उनमे से बहुत

---

१ "यदि तुम हमेशा भूतो के बारे में सोचते रहोगे तो तुम स्वय भी भूत हो जाओगे। और यदि तुम भगवान् का स्मरण करोगे तो तुम भी भगवान् बन जाओगे। चुनाव तुम्हारे हाथ मे है।"

२ शारदाप्रसन्न मित्र (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) का नाम इस तालिका मे लिखना रह गया है। वह रामकृष्ण के आश्रमवासी शिष्यो मे से थे। स्वामी निर्मलानन्द भी यद्यपि रामकृष्ण के सम्पर्क मे आए थे, परन्तु वे वस्तुत विवेकानन्द के शिष्य थे।

से ब्रह्मसमाज से आए थे। परन्तु मैंने केवल उन्ही का उल्लेख किया है, जो कि पूर्ण रूप से रामकृष्ण के अनुयायी व उनके विचारो के प्रचारक हो गए थे।

सभी जातियो और श्रेणियो के हमेशा आते-जाते रहने वाले मनुष्यो की एक भीड हमेशा उन्हे अधीरता के साथ घेरे रहती थी। महाराजा, भिखारी, सवाददाता, पडित, कलाकार, भक्त, ब्रह्मसमाजी, ईसाई, मुसलमान, धर्मविश्वासी, कर्मनिष्ठ व व्यवसायी, बाल, वृद्ध व वनिता सभी प्रकार के मनुष्य एक साथ आकर उस भीड मे शरीक होते थे। प्राय. वे बहुत दूर से यात्रा करके शङ्का-निवारण के लिए उनके पास आते थे और रामकृष्ण को दिन-रात विश्राम न मिलता था। चौबीस घण्टो मे से बीस घण्टो तक वह सभी आगन्तुको के प्रश्नो का उत्तर देते थे। यद्यपि उनका दुर्बल स्वास्थ्य कठिन परिश्रम के कारण नष्ट हो गया था, फिर भी वे किसी को इनकार न करते थे, अपितु सबको समान भाव से अपनी सहानुभूति, अपना ज्ञान और आत्मा की वह अद्भुत शक्ति, जो कि उनके बिना एक शब्द कहे भी, दर्शको के मन को बलात् जकड लेती थी और कई-कई दिनो तक उन्हे परिवर्तित कर डालती थी, प्रदान करते थे। सच्चे धर्म-विश्वासी उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। और विभिन्न धर्मावलम्बी मनुष्य उसके सम्मुख अपनी विभिन्नताओ पर आलोचना कर सके, और वह उनमे समन्वय स्थापित कर सके, इस विचार से वे सभी धर्मावलम्बियो का खुशी से स्वागत करते थे।

परन्तु उसके निकट यह सगतिसाधन का एक अङ्ग मात्र था। वे परस्पर युध्यमान धार्मिक सम्प्रदायो मे सगति स्थापन की अपेक्षा किसी अत्यन्त महत्तर वस्तु की इच्छा रखते थे—वह चाहते थे कि मनुष्यमात्र, मनुष्य को समझ सके, अन्य मनुष्य से प्रेम व सहानुभूति कर सके—और वह समस्त मानवजाति के साथ अपने-आपको एक कर सके। कारण, चूंकि भगवान् प्रत्येक मनुष्य के अन्दर विद्यमान हैं, इसलिए प्रत्येक मनुष्य का जीवन ही उनके लिए धर्म था और वही सब मनुष्यो का धर्म होना चाहिए। और मानव-जाति मे चाहे कितना भी पार्थक्य क्यो न हो, हम जितना ही उसे प्रेम करेंगे, उतना ही भगवान् के निकट-

---

बगाली मे प्रकाशित रामकृष्ण वचनामृत प्रथमखण्ड, पृष्ठ ६ के अनुसार रामकृष्ण के कुछ शिष्यो ने उनके सम्पर्क मे आने की तारीखे इस प्रकार हैं। गोपाल का उनसे परिचय १८७८ से पूर्व हुआ। तारक १८८१ से पहले आया। बाबूराम, बलराम और नित्य निरजन, १८८१ के अन्त मे या १८८२ के प्रारम्भ मे उनके शिष्य हुए—प्रकाशक।

किया जा रहा है, उसे भी स्वय अस्पष्ट या अलक्षित हैं, और उसकी वर्तमान तथा भविष्यत् की तरफ पहुँच जानेवाली इस अन्तर्दृष्टि की सत्ता के बारे में सन्देह कर सकते हैं। परन्तु जिस प्रकार जल की गहराई मापने वाले जल की तलवर्ती मिट्टी को मापक दण्ड द्वारा स्पर्श करके उसके ऊपर के भाग के कम्पनो द्वारा जल की गहराई का निश्चय कर लेते हैं, ठीक इसी प्रकार मनुष्य के अंदर अवगाहन करनेवाली दृष्टि के द्वारा भविष्यत् की संभावनाओं का भी निरूपण संभव है। यह प्रकृति की सीमा से बाहर की वस्तु नहीं है।

रामकृष्ण माँ के हाथ मे एक अपूर्व छड़ी के समान थे। उनकी दैहिक व आध्यात्मिक अति-अनुभवशीलता के सम्बन्ध मे अनेक आश्चर्यजनक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। अपने जीवन के अन्तिम समय मे उन्हें धन से इतना भय लगता था कि सुवर्ण के स्पर्शमात्र से ही उनका शरीर जलने लगता था।[1] यह भी सुना जाता है कि अपवित्र मनुष्य के स्पर्श से उन्हे काले साँप के दशन की पीडा का अनुभव होता था।[2]

---

१. विवेकानन्द कहते हैं: यहाँ तक कि सोते हुए भी, यदि मैंने उनके शरीर के साथ कभी मुद्रा का स्पर्श कर दिया तो उनके हाथ मुड जाते थे, और उन का सारा शरीर पक्षाघात-ग्रस्त व्यक्ति के समान जड़ हो जाता था।

२. इस किम्वदन्ती के उदाहरणस्वरूप यह कथा प्रचलित है: एक दिन रामकृष्ण ने करुणा परवश होकर एक ऐसे व्यक्ति को, जो कि बाहर से निर्दोष प्रतीत होने पर भी अन्दर से कलुषित था, अपना स्पर्श करने की अनुमति दे दी। उसने रामकृष्ण से उनका शिष्य बनने के लिए आग्रहपूर्वक अनुरोध किया था परन्तु उसके स्पर्श से रामकृष्ण पीडा से चिल्ला उठे और उन्होंने दु:ख-पूर्वक व करुणा के साथ उस मनुष्य से कहा: "भगवान् के आनन्द का स्पर्श तुम्हारे अन्दर विषधर सर्प के जहर मे परिणत हो गया है।" और कथन जारी रखते हुए उन्होंने कहा: "वत्स। इस जन्म में तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती।

उनकी इस अति-अनुभूतिशीलता के सम्बन्ध में और भी हजारो उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक बार मार्ग मे चलते हुए किसी व्यक्ति ने क्रोध मे आकर किसी दूसरे व्यक्ति को पीट डाला, उस व्यक्ति की चोट के घाव रामकृष्ण की देह पर दृष्टिगोचर होने लगे। उनके भतीजे ने देखा था कि एक मनुष्य की पीठ पर चाबुक के निशान देखकर रामकृष्ण की पीठ भी लाल हो गई और वह उस स्थान पर जलन अनुभव करने लगे। और

प्रथम दृष्टिपात मे ही वह अपने समीप आनेवालो की आत्मा का अध्ययन कर सकते थे, और इसलिए वह जिसे भी अपना शिष्य बनाना स्वीकार करते थे, वह उसकी योग्यता के पूर्ण ज्ञान के साथ ही होता था।[1] एक ऐसे सुकुमार वयस्क बालक को भी, जिसका चरित्र अभी पूरी तरह निर्माण नही हो पाया है, देखकर वह यह बतला देते थे कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है ? कभी-कभी वे किसी व्यक्ति मे एक ऐसे महान् भविष्य का पूर्वनिर्देश कर देते थे कि जिसका उससे सम्बन्धित व्यक्ति तक को किसी प्रकार का पूर्वाभास न होता था। सभवत:, इस पूर्वनिर्देश द्वारा वे उस महान् भविष्य के उद्भव मे सहायक होते थे। आत्माओ के इस महान् निर्माता ने अपनी अग्निमय अँगुलियो से विवेकानन्द के समान कठोर कास्यमूर्ति और योगानन्द व ब्रह्मानन्द के सदृश सुकोमल मोम की मूर्तियो का निर्माण किया था। यह एक अद्भुत बात थी कि रामकृष्ण की इच्छा का प्रबल विरोधी भी जल्दी या देर मे, उनकी इच्छा के सम्मुख नत होने के लिए बाध्य हो जाता था, और उनके द्वारा निर्वाचित आध्यात्मिक पथ का अनुसरण करने लगता था। और वह पहले जिस तेजस्विता के साथ उनका विरोध करता था, अब उतनी ही तेजस्विता के साथ उनके आदेशो का पालन करता था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो आत्माएँ पहले से निर्दिष्ट थी, वह उन्हे जानने, पकडने व सुरक्षित रखने मे पूर्णत. समर्थ थे। यह स्पष्ट है कि परमहस की बाज जैसी दृष्टि ने कभी धोखा नही खाया।

गिरीशचन्द्र घोष ने, जिसकी साक्षी मे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता, इन चिह्नो को स्वय देखना स्वीकार किया है। सब प्रकार के जीवित प्राणियो के साथ इस आध्यात्मिक सम्पर्क ने वृक्षो व जानवरो के साथ भी उनकी एकता स्थापित कर दी थी। उनके बारे मे यहाँ तक कहा जाता है कि पृथ्वी पर किया गया एक पाशविक आघात भी उन्हे अपने हृदय पर की गई चोट के समान अनुभव होता था।

१. वह अपनी अन्त अनुभूति पर अन्धे के समान विश्वास न करते थे। वे अपने शिष्यो के शिक्षको के पास जाकर, उनसे उनके बारे मे पूरी जानकारी प्राप्त करते थे, और फिर ध्यानमग्न होकर उनका अध्ययन करते थे। वह अत्यत मनोयोग के साथ उनकी श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया, निद्रा और यहाँ तक कि उनकी पाचन-शक्ति की भी परीक्षा करते थे। उनका विश्वास था कि अपने शिष्यो की आध्यात्मिक शक्ति और भविष्य सभावना के निरूपण मे यह वस्तुएँ पर्याप्त महत्त्व रखती हैं।

तर हो जायेंगे[1] । मन्दिरो मे भगवान् की खोज, अथवा भगवान् के निकट किसी अलौकिक चमत्कार व दिव्यशक्ति की अभिव्यक्ति के लिए निवेदन सर्वथा अनावश्यक है । वह प्रतिक्षण यहाँ पर, वहाँ पर, व प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है । हम उसे देख सकते हैं, स्पर्श कर सकते है, क्योकि वही हमारा बन्धु, हमारा मित्र, हमारा शत्रु व हमारी आत्मा है । और चूंकि यह सर्वव्यापी परमात्मा रामकृष्ण की आत्मा से प्रवाहित होता था, और रामकृष्ण के प्रकाश से उसके चारो तरफ सख्यातीत मनुष्य चुपचाप विना जाने ही प्रकाशित हो जाते थे, इसलिए कारण न जान सकने पर भी वे अपने-आपको पहले की अपेक्षा व उन्नत व शक्तिशाली अनुभव करते थे ।

उन्होंने अपने शिष्यो से कहा ·

"अव हमे नई वुनियाद पर इमारत खडी करनी होगी । हमे एक ऐसा तीव्रतर आन्तरिक जीवन व्यतीत करना होगा कि वह एक परम सत्ता का रूप धारण कर ले । और वह परम सत्ता सत्य का अवर्णनीय प्रकाश फैला देगी । नदियाँ इसलिए उमडती और भागती हैं, क्योकि उनका स्वामी पर्वत, शान्त और स्थिर रहता है । चाहे कितना भी समय क्यो न लग जाये, हमे भी अपने अन्दर भगवान्‌रूपी पर्वत को खडा करना है, और जव वह खडा हो जाएगा तो उसमे से हमेशा के लिए सव मनुष्यो के लिए करुणा और प्रकाश की नदियाँ वहने लगेगी ।[2] ।"

इसलिए वहाँ किसी नए धर्म की स्थापना व व्याख्या का कोई प्रश्न ही न था । परमानन्द ने उन्हे प्रार्थना मे कहते हुए सुना था · "माँ जो धर्म मे विश्वास रखते है, उन्हें मेरे समीप लाकर मुझे प्रसिद्ध न होने दो । मेरी वाणी द्वारा धर्म-की व्याख्या न होने दो ।"

उन्होंने अपने शिष्यों को भी सव प्रकार के रामकृष्ण वाद के विरुद्ध सतर्क कर दिया था ।

सवके वीच मे किसी प्रकार की दीवारे न होनी चाहिए ।

"एक नदी को किसी वन्धन की आवश्यकता नही । यदि वह अपनी गति को वाँध मे रुद्ध कर लेती है तो वह गतिहीन व दूषित हो जाती है ।"

---

१ क्या तुम भगवान् को ढूंढते हो ? तो उसे मनुष्य मे ढूंढो । अन्य पदार्थों की अपेक्षा मनुष्य के अन्दर ही देवत्व का सवसे अधिक निवास है ।"
—(श्रीरामकृष्ण वचनामृत)

२. धनगोपाल मुखोपाध्याय रचित पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ ।

वरन् अपने व अन्य मनुष्यो के द्वारो को सर्वथा उन्मुक्त कर देना होगा, ताकि सर्वविजयी एकता उत्पन्न हो सके। उनके चुने हुए शिष्यो का यही मुख्य कर्त्तव्य था—अपने समवेत प्रयत्न द्वारा उन्हे "उस परम सत्ता का पुन: निर्माण करना था, जो कि भविष्य मे आनेवाले नर-नारियो का चिरकाल तक पोषण करेगी।"

उन्हे एक सक्रिय भूमिका अदा करनी थी, जिसके लिए महान् गुणो और मन तथा आत्मा की विराट् सहिष्णुता की आवश्यकता थी। उसमे किसी के कृपण होने से काम न चल सकता था, अपितु पूर्ण रूप से अपने-आपको उत्सर्ग करने की जरूरत थी।

अतएव भगवान् के साथ योग-साधन के लिए मनुष्य मात्र का आह्वान करने पर भी रामकृष्ण शिष्य-निर्वाचन मे अत्यन्त कठोर थे। कारण, शिष्य ही वह पथ है, जिनके ऊपर पदक्षेप करते हुए मनुष्य-समाज आगे बढता है। वे कहते थे कि अपने शिष्यो का वे स्वय चुनाव नही करते। 'माँ' ही उनका चुनाव करती है।[1] परन्तु हम अपने अन्तस्तल मे जिस सत्ता को धारण किए हुए हैं, वह क्या माँ से पृथक् है ? असंख्य मनुष्यो की भीड मे रहते हुए भी, रामकृष्ण की तरह जिन मनुष्यो ने अपने जीवन मे तीव्र एकान्त ध्यान साधना को अक्षुण्ण बनाए रखने की असाधारण शक्ति प्राप्त की है, उनके लिए यह सत्ता एक ज्ञानेन्द्रिय की तरह कार्य करती है, जो कि अन्तर्वर्ती मनुष्य को निश्चित रूप से खोज लाती है। अत्यन्त अलक्षित स्पर्श द्वारा ही वे मनुष्य की गहराई, सामर्थ्य, दुर्बलताएँ, गुण और दोष, यहाँ तक कि उन वस्तुओ को भी, जो कि जिस व्यक्ति का निरीक्षण

---

१ "मैंने उन्हे नही चुना। जगन्माता ही उन्हे मेरे पास लाई है। उसने मेरे ऊपर उनकी परीक्षा का कार्य सौंपा है। रात्रि मे जब मैं ध्यान करता हूँ, तब परदा गिर जाता है और उन्हे मेरे सामने उन्मुक्त कर देता है। तब किसी मनुष्य व स्त्री के अहम् को, मानो शीशे की सहायता से अच्छी तरह देखा जा सकता है। मैं दीक्षा देने मे पूर्व अपने शिष्यो के चरित्र के बारे मे अपना पूर्ण सन्तोष कर लेता हूँ।"

सासारिक विषयो द्वारा आकृष्ट इन्द्रियो के वशीभूत इस ससार मे, कौन अन्तर्दृष्टियुक्त मनुष्य विचार की इस पद्धति तथा मुद्रित पलको के नीचे आत्मा के एकान्त केन्द्र मे अवस्थित इस अन्तर्वर्ती नेत्र के प्रयोग से अनभिज्ञ हो सकता है ? केवल दृष्टि की तीव्रता व अभिव्यक्ति के रूप मे ही अन्तर है।

९ | प्रभु और उसकी सन्तान

रामकृष्ण के चारो तरफ जो महान् आत्माएँ एकत्रित हुई थी, उन्हे दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी 'तृतीय स्तर' के[1] प्राय. उन नर-नारियो की है, जो कि ससार में रहते हुए भगवान् की सेवा करते रहे, और दूसरी श्रेणी मे वे चुने हुए शिष्य है, जिन्होंने उनकी वाणी का प्रचार किया।

पहले हम प्रथम श्रेणी से सम्बन्ध मे ही आलोचना करे। कारण, जो विशाल उदार मनोभाव रामकृष्ण को स्पन्दित कर रहा था, और उनका धर्म, मनुष्य-समाज के प्रति अपने व दूसरो के कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे कितना सचेतन था, वह इस श्रेणी से सम्बन्धित (तृतीय स्तर) शिष्यो व श्रोताओ के उदाहरण से ही आसानी से समझा जा सकता है।

वे सद्भाव सम्पन्न व्यक्तियो को कभी भी सर्वस्व त्यागकर अपना अनुकरण करने के लिए प्रेरित न करते थे। इसके विपरीत जो व्यक्ति विवाहित होते या माता-पिता आदि के दायित्वपूर्ण सासारिक बन्धनो मे बँधे हुए थे, वे उन्हे "मोक्ष के लिए सर्वस्व त्याग करो" यह कहने से हमेशा विरत रहते थे।

वह अपने शिष्यो को कहा करते थे, "वत्स! तुम अपने को धर्मात्मा बनाना चाहते हो, सिर्फ इसलिए कभी किसी के न्यायसगत अधिकारो का बलिदान मत करो।" बहुत बार वैयक्तिक मोक्ष केवल स्वार्थपरता होती है, और इसलिए उसका परिणाम आत्मा की हीनतर मृत्यु होता है।

" · परमात्मा के प्रति हम ऋणी हैं। माता-पिता के प्रति हम ऋणी हैं। अपनी पत्नी के प्रति हम ऋणी हैं।······जब तक कम-से-कम माता-पिता का ऋण अदा नही किया जाता, तब तक कोई भी कार्य सतोषजनक रूप

---

१. तृतीय स्तर : असिसी के सेण्ट फासिस ने अर्धशिक्षित व अर्धधर्मप्राणित मनुष्यो के स्तर को, जिससे ससार मे रहने वाले धार्मिक वृत्ति के पुरुष सम्बन्ध रख सकते थे (और अब भी रखते हैं) यह नाम दिया था।

से किया जाना सभव नही है। · · हरीश ने अपनी पत्नी को त्याग दिया है, और यहाँ रहता है। परन्तु यदि उसकी पत्नी के भरण-पोषण को सुव्यवस्था न होती, तो मैं उसे एक दुष्ट आदमी कहता। बहुत से व्यक्ति हमेशा शास्त्र-वाक्यो की दुहाई देते रहते हैं, परन्तु उनके कथन व कार्यो मे कोई मेल नही होता। रामप्रसन्न कहता है, मनु ने कहा है कि साधुओ की सेवा करो। परन्तु उसकी माँ भूखी मर रही है और अपने पेट की ज्वाला को बुझाने के लिए दर-दर भीख माँगने को मजबूर है। यह देखकर मुझे गुस्सा आता है। माँ यदि पतित भी हो, तो भी उसका त्याग नहीं करना चाहिए।. . . जब तक माता-पिता अभावग्रस्त व दुःखी हैं, तब तक भक्ति के अभ्यास से कोई लाभ नही[1]।'

"स का भाई कई दिन से यहाँ आया हुआ था। उसने अपनी पत्नी व बच्चो को अपने साले के पास छोड दिया था। मैंने उसे बहुत बुरा-भला कहा ... क्या इतने बच्चो के पालन-पोषण का भार सिर पर होते हुए घर का त्याग एक जुर्म नहीं है ? क्या यह राहगीरो का काम है कि वे उनको भोजन दे व उनका पालन करे ? यह कितनी लज्जा की बात है। मैंने उसे वापस जाकर रोजगार करने की प्रेरणा की।· "

"तुम्हे अपने बच्चो का पालन करना चाहिए, अपनी पत्नी के भरण-पोषण, व तुम्हारी मृत्यु के बाद जिससे उसे अभाव का सामना न करना पडे, इसकी व्यवस्था करनी चाहिए। यदि तुम ऐसा नही करते तो तुम हृदयहीन हो। और वह मनुष्य जिसके दिल मे दया नही है, मनुष्य कहलाने के योग्य नही है[2]।"

"मैं मनुष्यो को कहता हूँ कि भगवान की चिन्ता करते हुए भी उन्हे ससार मे अपने कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिए। मैं उन्हें सर्वत्यागी होने के लिए कभी उपदेश नही देता। (मन्द स्मित के साथ) एक दिन व्याख्यान देते हुए केशव ने कहा · 'हे प्रभु। ऐसी कृपा-दृष्टि करो कि हम भक्ति-नदी मे गोते लगाते हुए, सच्चिदानन्द के महासागर को प्राप्त कर सके।" चिक के पीछे स्त्रियाँ बैठी हुई थी। मैंने उनकी तरफ सकेत करते हुए केशव को कहा · 'यदि तुम सब एकदम गोता लगा लोगे तो उनकी क्या दशा होगी ? इसलिए तुम्हें बीच-बीच मे पानी मे से बाहर आना जरूरी है। गोता लगाओ और फिर बाहर आ जाओ।'

---

१ श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, द्वितीय भाग, पृ० २५१।

२ श्री श्रीरामकृष्ण जीवनी, पृ० ५८७।

यह सुनकर केशव व अन्य श्रोतागण हँसने लगे।' [1]"

"विवाहित मनुष्य होने के नाते तुम्हारा यह कर्तव्य है, कि एक या दो सन्तान हो जाने के बाद अपनी पत्नी के साथ भाई-बहिन की तरह रहो, और परमात्मा से प्रार्थना करो कि तुम्हे सयम के साथ पूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की शक्ति प्राप्त हो सके[2]।"

"जिस मनुष्य ने एक बार भगवान् के आनन्द का स्वाद पा लिया है, यह संसार उसके सामने निस्सन्देह नीरस वस्तु है। ससार मे धार्मिक जीवन व्यतीत करना, प्रकाश की क्षीण किरण से आलोकित मकान मे निवास करने के समान है। जो खुली हवा मे रहने के अभ्यस्त हैं, वे एक कैदखाने मे नहीं

---

१ रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय खड, पृ० २६६।

धनी केशव की अपेक्षा गरीब किसान का पुत्र रामकृष्ण जीवन की आवश्यकताओ के बारे मे अधिक जानकारी रखता था। वे जानते थे कि एक निष्कर्म भक्त के समान जीवन का सारा समय धार्मिक अनुष्ठानो मे व्यतीत करने की अपेक्षा एक गरीब मजदूर का दिन के अन्त मे एक बार हरि नाम का स्मरण अधिक मूल्यवान है।

'एक दिन नारद (उनकी यह कथा जितनी ज्ञानगर्भित है उतनी ही तिक्त है) ने सोचा कि वह सब मनुष्यो से अधिक धर्मात्मा हैं। भगवान् ने उनसे कहा कि जाकर देखो कि एक किसान तुमसे भी बढकर धर्मात्मा है। नारद देखने के लिए गये। किसान प्रातः उठते समय, और रात को सोने से पूर्व हरि का नाम लेता था, और बाकी सारे दिन वह अपने खेत मे काम करता था। नारद कुछ समझ न सके। तब भगवान् ने कहा कि एक प्याले मे किनारे तक तेल भर लो और उसे हथेली पर रखकर इस प्रकार सारे शहर का चक्कर लगाकर आओ कि एक बूंद भी तेल गिरने न पावे। नारद ने भगवान् के आदेश का पालन किया और जब वह बिना एक बूंद भी तेल गिराए लौटकर आये, तो भगवान् ने पूछा 'तुमने कितनी दफे मेरा ध्यान किया ?' नारद ने उत्तर दिया . 'हे भगवन् ! मैं आपका ध्यान कैसे कर सकता था ?" मेरा मन प्याले पर ही केन्द्रित था।' इस प्रकार भगवान् ने नारद को समझाया कि किसान की भक्ति कितनी महान् थी, जो कि अपने कठिन कार्य के बावजूद भी उनका नाम लेना न भूलता था।" (श्री श्रीरामकृष्ण उपदेशावलि, प्रथम भाग, पृष्ठ ४५)।

२. श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४०३।

रह सकते।[1] परन्तु यदि तुम एक घर में रहते हो तो उस घर के प्रति तुम्हारे कर्त्तव्य भी हैं। उस आलोक-रश्मि का उपभोग करने के लिए गृह-कार्यों को करना सीखो। उसका एक क्षण भी मत खोओ, और उसके स्पर्श से अपने-आपको वचित न होने दो। जब तुम कार्य मे लगे हुए हो तो केवल एक हाथ काम मे लगाओ, और दूसरे हाथ से भगवान् के चरणो का स्पर्श करते रहो। और जब तुम्हारा कार्य स्थगित हो जाय तो दोनो हाथो से प्रभु के चरणो का स्पर्श करो, और उन्हें अपने हृदय से लगा लो।[2] · ससार को त्याग कर तुम्हारे हाथ क्या लगेगा? पारिवारिक जीवन तुम्हारे लिए एक दुर्ग के समान है। इसके अतिरिक्त जिसने ज्ञान को प्राप्त कर लिया है—वह सर्वदा मुक्त है। वह पागल है जो यह कहता है कि 'मैं बँधा हुआ हूँ', उसका भी वही अन्त होता है। "मन ही सब कुछ है। यदि वह स्वतन्त्र है तो तुम भी स्वतन्त्र हो। जगल मे या ससार मे, मैं कही भी बँधा हुआ नही हूँ। मैं राजाओ के राजा परमात्मा का पुत्र हूँ। कौन मुझे बाँधने का साहस कर सकता है? "

इस प्रकार वे प्रत्येक को उसकी मुक्ति का उपाय बतलाते थे, वे कहते थे कि अपनी प्रकृति के विरुद्ध न जाकर, उसे व्याहत व बाध्य न करके, और सबसे बढकर जो व्यक्ति अपने भरण-पोषण के लिए तुम्हारे ऊपर आश्रित हैं, उनके प्रति तिलमात्र भी अविचार व उनकी उपेक्षा न करते हुए, अन्तर्वर्ती निर्झर धारा से अपनी तृष्णा को बुझाओ, और सब मनुष्यो के अन्तर्व्यापी सार्वभौम भागवत सत्ता के आनन्द का उपभोग करो। मनुष्य को उसकी न्यायसगत स्नेह-ममता से विरत करने के स्थान पर वे उस ममता को ज्ञान-प्राप्ति का साधन तथा एक सरल व पवित्र मनुष्य के लिए भगवान् की ओर ले जाने वाला सुन्दर मार्ग बतलाते थे। इसका एक सुन्दर उदाहरण देखिए :—

उनके एक शिष्य (मणिलाल मलिक) की कन्या बहुत चिन्ता व्याकुल थी। उसने रामकृष्ण से कहा कि जब वह ध्यान करने का प्रयत्न करती है, उसका मन एकाग्र नही हो पाता। रामकृष्ण ने उससे पूछा ·

"ससार मे तुम्हे सबसे प्रिय क्या वस्तु है?"

उसने उत्तर दिया कि अपने भाई का छोटा लडका उसे सबसे प्यारा है। स्नेहमय ठाकुर ने उत्तर दिया, "उसी पर अपने विचारो को केन्द्रित करो।"

---

१. त्रैलोक्यनाथ सान्याल के साथ मुलाकात।

२. सन् १८८२ मे केशव व उनके शिष्यो के साथ मुलाकात।

उसने वैसा ही किया और उस छोटे बालक के द्वारा ही बालमूर्ति कृष्ण भगवान् के प्रति उसकी भक्ति उदित हो गई।[1]

रामकृष्ण की कोमलता का यह सुकुमार पुष्प मुझे कितना प्यारा है! इसमे कितना गूढ अर्थ छिपा है? हममे से प्रत्येक का हृदय चाहे रात्रि के समान भी अन्धकारमय क्यो न हो, तथापि हृदय की प्रत्येक सच्ची हीनतम स्नेह-प्रवृत्ति के अन्दर भी एक दिव्य स्फुलिग विद्यमान है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नही है, जिसके अन्दर यह क्षुद्र दीप उसका मार्ग प्रदर्शन करने के लिए मौजूद न हो। और जो मनुष्य अपने व्यक्तिगत लक्ष्य व पथ का निष्कपट भाव से अनुसरण करता है, उसके निकट सभी पथ, यहाँ तक कि कुपथ[2] भी सुपथ हो जाते हैं। बाकी भगवान् का काम है। इसलिए विश्वास रखो और आगे बढो।

---

१ यहाँ उसी प्रकार की एक और दन्तकथा है :—

एक बूढी दादी वृन्दावन मे जाकर धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहती थी। रामकृष्ण ने उससे कहा कि चूँकि वह अपनी पोती को बहुत अधिक प्यार करती है, और उसकी याद के कारण उसकी ध्यान साधना मे विघ्न होगा, इसलिए उसका वृन्दावन जाना बेकार है। और फिर कहने लगे— "यदि तुम अपनी पोती मे श्री राधिका की भावना करके उसमे अपने स्नेह को ढाल दो तो वृन्दावन जाकर तुम जो पुण्य प्राप्त करना चाहती हो, वह सब तुम्हें यही मिल जायगा। तुम अपनी आदत के अनुसार उसका लाड-चाव करो, मन भर कर उसे खिलाओ-पिलाओ, परन्तु यह सब कार्य करते हुए हमेशा अपने मन मे यह विचार करो कि तुम वृन्दावन की देवी के चरणो मे ही अपनी यह पूजा चढा रही हो।" (श्री श्रीरामकृष्ण उपदेशावलि, प्रथम भाग, पृ० ७०)।

इस प्रकार अपने प्रियजनो को प्यार करते हुए शान्त व निर्दोष जीवन व्यतीत करो। अर्थात् उनके मधुर आवरण के बीच से भगवान् के दर्शन करो, और उसका धन्यवाद करो।

२ चाहे जिस पथ का भी अनुसरण करो, मुख्य वस्तु सत्य के लिए तुम्हारी उत्कट अभिलाषा है। भगवान् तुम्हारे मन के गुप्त रहस्यो को जानते हैं, और जब तक तुम्हारा मन शुद्ध व सच्चा है, तब तक यदि तुम गलत मार्ग का भी आश्रय लेते हो तो वह एक अत्यन्त गौण वस्तु है। वह स्वय तुम्हे सत्य मार्ग की तरफ ले जाएँगे। यह सर्वविदित है कि कोई भी मार्ग पूर्ण नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि उसकी घडी ठीक समय दे रही है,

रामकृष्ण के मातृ[1]-चक्षु किस गहराई व स्नेह के साथ अन्दर प्रविष्ट होकर अपनी सर्वथा पथभ्रष्ट सन्तान के अन्दर की बात को भी जान लेते थे, और उसका पथप्रदर्शन करते थे, यह नाट्यकार गिरीशचन्द्र के साथ उनके सम्बन्ध के बारे मे प्रचलित असिसी के फ्रांसिस के पौराणिक कथा के समान कहानी से स्पष्ट हो जाता है।

यह विख्यात अभिनेता व नाटककार एक उच्छृङ्खल, व्यभिचारी व कट्टर ईश्वरविरोधी व्यक्ति था। यद्यपि वह कभी-कभी अपनी प्रतिभा के बल से बीच-बीच मे कोई-कोई सुन्दर धार्मिक नाटक भी लिख देता था।[2] परन्तु वह उन नाटको को एक खेल के समान समझता था। उसे कभी यह बात न सूझी, कि वह भगवान् के हाथ का एक खिलौना मात्र है। परन्तु रामकृष्ण ने पहली नजर मे ही यह जान लिया।

लोगो को परमहस के बारे मे बाते करते हुए सुनकर गिरीश के मन मे भी उन्हे देखने के लिए उत्सुकता पैदा हुई, परन्तु यह उत्सुकता सर्कस मे किसी विचित्र वस्तु को देखने की अभिलाषा से बढकर न थी। प्रथम साक्षात्कार के समय गिरीश ने मदिरा पी हुई थी, और उसने उसी दशा मे रामकृष्ण का अपमान किया। रामकृष्ण ने शान्त परिहास के साथ कहा .

"कम से कम तुम्हे परमात्मा के नाम पर ही मदपान करना चाहिए। सभवतः वे भी मदिरापान करते है।"

नशे मे धुत्त गिरीशचन्द्र खुले हुए मुँह से आश्चर्यपूर्वक देखता हुआ, बोला .—

"आप यह जानते हैं ?"

यदि वह मदिरापान न करते होते तो यह अस्त-व्यस्त ससार किस प्रकार बनाते ?" गिरीश यह सुनकर अबोध की तरह चुप रह गया। और उसके चले जाने पर रामकृष्ण अपने शिष्यो से कहने लगे .

परन्तु वास्तव मे कोई भी ठीक समय नही बताती। तथापि इससे मनुष्यो के कार्य में कोई बाधा नही पहुँचती। " (श्री श्रीरामकृष्ण जीवनी, पृष्ठ ६४७)।

१. मातृ भागवत माँ।

२ उनमे से कुछ का बँगला से अँगरेजी मे भी अनुवाद हो चुका है। वह बगाल के सर्वश्रेष्ठ नाटककारो मे से अन्यतम समझा जाता है।

"यह आदमी परमात्मा का बडा भक्त है।"[1]

गिरीश के निमन्त्रण पर वे कलकत्ता मे थिएटर मे उसका अभिनय देखने के लिए गये।[2] गिरीश अभिमानी व्यक्ति था, और आशा करता था कि वे उसकी प्रशसा करे। परन्तु रामकृष्ण ने उससे कहा :

"वत्स! तुम्हे आत्मविकृत का रोग है।"

गिरीश यह सुनकर क्रुद्ध हो उठा और उनका अपमान करने लगा। रामकृष्ण उसे आशीर्वाद देते हुए चले गये। अगले दिन गिरीश उनके पास आया, क्षमा-याचना करने लगा और उनका शिष्य हो गया। परन्तु वह मदपान की आदत न छोड सका। रामकृष्ण ने भी कभी उसे ऐसा करने के लिए नही कहा, परन्तु बाद मे गिरीश ने स्वय ही उस आदत को एकदम छोड दिया। कारण, रामकृष्ण ने उसे इस बात का सुअवसर देकर कि वह सर्वथा स्वतन्त्र है, उसकी मानसिक इच्छा-शक्ति को दृढ बना दिया।

परन्तु इतना ही पर्याप्त न था। रामकृष्ण ने उससे कहा कि दुष्कृत्यो से बचना सर्वथा एक निषेधात्मक गुण है, उसे परमात्मा के निकट जाना चाहिए। गिरीश को यह असभव प्रतीत होता था, कारण उसने कभी आत्म-सयम व अनुशासन का अभ्यास न किया था। वह निराश होकर कहने लगा कि ध्यान व प्रार्थना की अपेक्षा वह आत्महत्या को अधिक पसन्द करेगा।

रामकृष्ण ने उत्तर दिया, "मैं तुमसे कुछ अधिक नही चाहता। केवल एक प्रार्थना भोजन से पहले, और एक सोने से पहले कर लिया करो। क्या तुम यह नही कर सकते?"

"नही! मुझे नियम-बन्धन से घृणा है। मैं ध्यान व उपासना नही कर सकता। मैं तो एक क्षण भर के लिए ईश्वर का विचार तक भी नहीं कर सकता।"

रामकृष्ण ने उत्तर दिया, "अच्छा! यदि तुम्हारी भगवान् को देखने की सचमुच इच्छा है, परन्तु साथ ही उनकी तरफ एक कदम भी तुम आगे नही

---

१ भक्त शब्द का प्रयोग यहाँ पर, और इस पुस्तक मे अन्य स्थलो पर भी, 'ईश्वर के प्रति अनुरक्त' अर्थात् जिसने अपने-आपको पूर्णरूप से ईश्वरार्पण कर दिया है, इस अर्थ मे किया गया है।

२. सन् १८८४ के अन्त मे। चैतन्य लीला नाटक के प्रथम कुछ अभिनयो मे से एक मे रामकृष्ण उपस्थित थे।

बढाना चाहते, तो क्या तुम मुझे अपना प्रतिनिधि बनाओगे ? मैं तुम्हारी तरफ से प्रार्थना करूँगा, तुम अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करना। परन्तु ध्यान रखो कि तुम्हे यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि आज से तुम केवल भगवान् की करुणा पर ही निर्भर करोगे।"

गिरीश ने परिणाम पर पूर्णतया विचार किए बिना ही अपनी स्वीकृति दे दी। इससे उसका जीवन अपनी इच्छा के वशीभूत न रहकर, वायु मे उडने वाले एक पत्ते के समान, अथवा उस बिल्ली के बच्चे के सदृश, जिसको माता उसे अपनी इच्छानुसार एक राजा की शय्या या कूडे के ढेर पर जहाँ चाहे ले जाती है, उसकी आन्तरिक शक्तियो के अधीन हो गया।[1] उसे बिना किसी प्रतिवाद के उसे स्वीकार करना पडा, परन्तु यह आसान न था।

गिरीश ने निष्ठापूर्वक सघर्ष किया, परन्तु अन्त मे वह यह कहने के लिए विवश हो गया : "हाँ, मैं यही करूँगा।"

रामकृष्ण ने कठोर स्वर मे कहा, "क्या कहते हो ? अब करने या न करने की अपनी तुम्हारी कोई इच्छा नही है। याद रखो! . मैं तुम्हारा प्रतिनिधि हूँ। तुम्हारी चेष्टाएँ तुम्हारे अन्तर्वर्ती प्रभु की इच्छा के अधीन हैं। मैं तुम्हारी तरफ से प्रार्थना करता हूँ, परन्तु जब तक तुम अपनी इच्छा का त्याग न करोगे, उनसे कोई लाभ न होगा।"

गिरीश ने हार मान ली, और इस सयम का यह फल हुआ कि कुछ समय बाद उसने अशरीरी आत्मा के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया, परमात्मा ने उस पर विजय प्राप्त कर ली।

परन्तु उसने नाटककार व अभिनेता का अपना पेशा नही छोडा, रामकृष्ण को यह वाछित भी न था। इसके स्थान पर उसने इस पेशे को पवित्र बना दिया। बङ्गाली रङ्गमञ्च पर उसने ही सबसे पहले महिलाओ का प्रवेश कराया, और इस प्रकार अनेक अभागी कन्याओ की रक्षा की व उनका उद्धार किया। बाद मे रामकृष्ण आश्रम मे भी उसने स्त्रियो को दीक्षा दिलाई। वह अपने गुरु का अन्यतम श्रेष्ठ धर्मप्राण शिष्य बन गया। रामकृष्ण के श्रेष्ठतम ससारी शिष्यो मे से वह एक था। गिरीशचन्द्र मे जबान की स्वच्छन्दता व तिक्त व्यगोक्ति के होते हुए भी, रामकृष्ण की मृत्यु के बाद आश्रमवासी शिष्य उसका आदर व सम्मान करते थे।

---

१ "बिल्ली की तरह" (मार्जारी) : भक्तिशास्त्र की यह एक प्राचीन प्रचलित उपमा है। बिल्ली अपने बच्चो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर

मरते समय उसने कहा था :

"प्रकृति का अज्ञान एक भयङ्कर आवरण है। हे रामकृष्ण! मेरे नेत्रो के आगे से इसे दूर कर दो [1]।"

रामकृष्ण के अन्दर धर्मानुभूति की एक छठी इन्द्रिय थी, और अन्य सब मनुष्यो की अपेक्षा उनमें वह अत्यधिक विकसित व समृद्ध अवस्था मे थी। उसके द्वारा रामकृष्ण राह चलते मनुष्यो मे से उन व्यक्तियो को, जिनमे भगवान् सुषुप्त अवस्था मे रहते थे तथा जो भगवान् के बीज बोने के लिए पूर्वनिर्दिष्ट होते थे, ढूंढ निकालते थे। उनकी एक दृष्टि व एक सकेत ही उसे जगाने के लिए पर्याप्त होता था। उनके प्रायः सभी शिष्यो ने प्रथम साक्षात्कार मे ही इच्छा या अनिच्छापूर्वक अपनी अन्तर्वर्ती सत्ता के स्पन्दनो को उनके अधीन कर दिया था। वह खूब अच्छी तरह उनकी सूक्ष्म परीक्षा करते थे। अन्य व्यक्तियो को केवल अपनी मुक्ति का ही सन्धान करना है, परन्तु सच्चे शिष्यो के नेता बनकर अन्य आत्माओ का दायित्व अपने ऊपर लेना है। इसलिए, जैसा मैं पहले भी कह चुका हूँ, जब उन्हे भर्ती किया जाता था तब उनके शरीर[2] व नैतिक आचरण की परीक्षा ली जाती थी, और प्रविष्ट हो जाने के बाद उन्हे पिता की देख-रेख मे हमेशा सतर्क सयम मे से गुजरना पडता था।

वे 'अल्पवयस्क', कभी-कभी अत्यन्त अल्पवयस्क, किशोर एव अविवाहित, "वासना और ऐश्वर्य के जाल से अनाबद्ध, बन्धनमुक्त . ..." शिष्यो को ही

उनकी रक्षा करती है परन्तु बच्चो को उसका कुछ बोध नही होता। दक्षिण भारत मे कई धार्मिक सम्प्रदाय मोक्ष के बार मे इसी प्रकार कल्पना करते हैं। उनका विचार है कि यह सर्वथा भगवान् की इच्छा पर निर्भर है। (पाल मैसन और्सेल कृत Sketch of the Indian History of Indian Philosophy देखिए।)

१. इस विवरण मे मैंने धनगोपाल मुखोपाध्याय के वर्णन का अनुसरण किया है।

२ पूर्ण स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे वे अत्यन्त सतर्क थे। विवेकानन्द, ब्रह्मानन्द, शारदानन्द, तुरीयानन्द प्रभृति उनके श्रेष्ठ शिष्यो का शारीरिक गठन मल्लयोद्धाओ के सदृश था, उनका कद लम्बा, छाती चौडी व शरीर मे अद्भुत बल था। मैं फिर दोहराता हूँ कि किसी शिष्य को गभीर यौगिक साधना के अभ्यास की अनुमति देने से पूर्व वे उसकी जिह्वा, छाती, व अन्य इन्द्रियो की कार्यक्षमता की पूरी-पूरी जाँच करते थे।

अधिक पसन्द करते थे। ब्रह्मानन्द के समान किसी शिष्य के विवाहित होने पर वे उसकी पत्नी की भी परीक्षा करते थे और यह सतोष करते थे कि उसकी पत्नी अपने पति के आदर्श मे बाधक न होकर उसकी सहायक होगी। इस अशिक्षित व्यक्ति के शिष्य प्राय. सब सुशिक्षित व्यक्ति थे, और वे सस्कृत के साथ-साथ कम-से-कम एक विदेशी भाषा भी जानते थे। परन्तु यह कोई आवश्यक नियम न था, लाटू का उदाहरण इस सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि वह उक्त नियम का एक अपवादस्वरूप है। एक गरीब, अशिक्षित, बगाल मे प्रवास करने वाला बिहारी भृत्य लाटू, रामकृष्ण के एक दृष्टि-पात से ही शाश्वत जीवन के सम्बन्ध मे जागृत हो उठा। कारण, उसके अन्दर भी अज्ञात रूप मे रामकृष्ण के समान हृदय की प्रचण्ड शक्ति विद्यमान थी।

स्वामी तुरीयानन्द[1] ने कहा था, "हममे से अनेको को भगवान् तक पहुँचने के लिए पहले ज्ञान के गँदले नालो को पार करना पडा है, परन्तु लाटू हनुमान के समान उनके ऊपर से कूद गया है।"

रामकृष्ण अपने शिष्यो को क्या शिक्षा देते थे? विवेकानन्द ने उनके शिक्षा देने के तरीको की मौलिकता पर, विशेषत. उस समय के भारत मे, विशेष बल दिया है। उसके बाद उनके कुछ शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तो को योरोप के नये शिक्षाशास्त्रियो ने भी ग्रहण व नियमबद्ध किया है। उस समय तक भारतवर्ष मे गुरु का शब्द ही कानून था। एक गुरु का उसके शिष्य माता-पिता से भी बढकर आदर करते थे। परन्तु रामकृष्ण ऐसा कुछ न चाहते थे। वह अपने-आपको अपने शिष्यो के समान समझते थे। वे उनके साथी, उनके भाई थे। वे घनिष्ठ मित्र के समान उनसे बाते करते थे, और किसी प्रकार के बडप्पन का भाव प्रदर्शित न करते थे। जो सलाह वे उन्हे देते थे, वह उनकी अपनी न होती थी। यह उनके मुख द्वारा माँ के निकट से आती थी। "मेरा इससे क्या सम्बन्ध है?" इसके अलावा, शब्द तो केवल सहायक मात्र हैं, वे शिक्षा नही हैं। सच्ची शिक्षा किसी सिद्धान्त का प्रचार करने मे नही है[2], अपितु देने मे हैं। परन्तु क्या

---

१ तुरीयानन्द की आयु चौदह वर्ष थी, सुबोधानन्द सत्रह वर्ष के थे।

१ मतवाद व सिद्धान्तो को लेकर मगजपच्ची मत करो। प्रत्येक मनुष्य के अन्दर सत्ता की सारवस्तु ही ग्रहण करने योग्य है, और उसी का नाम आध्यात्मिकता है। उसे ही तुम्हे ग्रहण करना चाहिए।

विवेकानन्द के अनुसार रामकृष्ण की शिक्षा का मूल सिद्धान्त था,

वस्तु देनी होती है ? क्या एक मनुष्य की आत्मा ? नही, केवल मनुष्य की आत्मा नही, वल्कि उससे भी कोई अधिक वस्तु—एक परम आत्मा। अथवा हम इसे आध्यात्मिक नाम से पुकारी जाने वाली आन्तरिक समृद्धि की अवस्था भी कह सकते हैं। और इसे इस प्रकार देना होता है, "जैसे एक पुष्प को दिया जाता है", अर्थात् जिस प्रकार एक निपुण माली कलियो को विकसित करने के लिए उचित धूप व छाया की व्यवस्था करता है, ताकि वे खिल सके और चारो तरफ अपनी सुगन्ध फैला सके। इसी प्रकार आत्मारूपी कलियाँ के विकास के लिए साधन जुटाना पडता है। इतना ही पर्याप्त हैं। वाकी सव उनके अन्दर से आप ही आ जाता है। "जब कमल खिलता है तव मधुमक्खियाँ आकर स्वय मधु सचय करने लगती है। चरित्र के कमल को स्वाभाविक रूप से विकसित होने दो।"

इससे यह स्पष्टतया समझा जा सकता हैं, कि रामकृष्ण इस वात का सदा ध्यान रखते थे कि वे सूर्य व इन मानवीय पौधो के वीच मे अपने-आप को लाकर उनके स्वाभाविक विकास के पथ मे कही वाधक न वन जाये। अन्य मनुष्यों के व्यक्तित्व के प्रति उनका स्नेह व आदर इतना अधिक था कि उन्हे स्नेह करने के कारण कहीं वाद मे वे उसके वशवर्ती न हो जायँ। वे नही चाहते थे कि उनके शिष्यो की उनके प्रति स्नेह-ममता उनके वन्धन का कारण वन जाय।

"मधुमक्षिकाओ को अपने हृदय का मधुपान करने दो। परन्तु इस वात का ध्यान रखो कि तुम्हारे हृदय का सौन्दर्य उनमे से किसी को अपना गुलाम न वना ले।"

अपने विचारो को शिष्यो के ऊपर लादने का तो कोई प्रश्न ही नही था। उनका कोई स्थिर मतवाद ही न था। मैं पहले भी उनके शव्द उद्धृत कर चुका हूँ :—

"माँ! मरी वाणी द्वारा मत-मतान्तर का प्रचार न करो।"

और धार्मिक अनुष्ठान और भी कम।

धार्मिक अनुष्ठानो से भगवान् को वश मे नही किया जा सकता।" केवल सत्य और प्रेम से ही किया जा सकता है।

अध्यात्मशास्त्र व ईश्वरवाद पर निरर्थक विवादो के लिए वहाँ कोई स्थान न था।

"पहले चरित्र का निर्माण करो, आध्यात्मिकता को अर्जन करो, वाद मे फल अपने आप ही मिल जायेगा।" ('My Master' ग्रन्थ देखिए।)

"मैं तर्क को पसन्द नही करता। परमात्मा तर्क की शक्ति से परे है। जो कुछ भी विद्यमान है, मैं उस सबमे ईश्वर को देखता हूँ। तब तर्क से क्या लाभ है ?...लोग बगीचे में जाते हैं, मीठे आम के फल खाते है, और फिर बाहर चले आते हैं। वहाँ जाकर कोई आम के पेड के पत्तो को नही गिनता। तो पुनर्जन्म व मूर्तिपूजा पर व्यर्थ विवादो मे क्यो समय नष्ट करते हो[1] ?"

तब आवश्यक वस्तु क्या है ? व्यक्तिगत अनुभव। पहले परीक्षा करो, तब भगवान् मे विश्वास करो। धार्मिक अनुभूति के बाद विश्वास होना चाहिये, पहले नही। यदि वह पहले आता है, तो वह असगत है।

तथापि भगवान् सब वस्तुओ मे व्याप्त है, वही सब वस्तु है, और इसलिए जो कोई नेत्र खोलकर अपने चारो ओर देखता है, उसे अवश्य उसके दर्शन होते हैं, इस विश्वास की रामकृष्ण ने स्वय पहले ही कल्पना कर ली थी। उनके लिए 'परमात्मा के साथ मिलन' एक ऐसी गम्भीर व अविच्छिन्न[2] वास्तविकता थी कि उन्हें उसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता ही न प्रतीत होती थी, और इसे अन्यो के ऊपर लादने की वह कभी कल्पना भी न करते थे। उनका यह दृढ विश्वास था कि प्रत्येक स्वस्थ-मन व निष्कपट जिज्ञासु अपने-आप ही, और केवल अपने

---

१ श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत' ग्रन्थ मे अनेक स्थलो पर।

२ इस प्रकार के ऐन्द्रजालिक दृष्टिभ्रम की तीव्रता तक पहुँच गया था। क्या तुम जानते हो, मैं क्या देखता हूँ ? मैं प्रत्येक वस्तु मे उसे (भगवान् को) देखता हूँ। मनुष्य व अन्य प्राणी मुझे रक्तमास की पोशाक धारण किए हुए छोटी-छोटी मूर्तियो के समान प्रतीत होते हैं। और उनके अन्त:अवस्थित भगवान् ही मस्तिष्क, पैर व हाथो को गति देता है। एक बार मैंने भावाविष्ट अवस्था में देखा था।—केवल एक ही वस्तु ने विश्व के नाना पदार्थों व जीवित प्राणियो का रूप धारण कर लिया है।......एक मोम का घर, मोम का बगीचा, मोम के मनुष्य, मोम की गाय, सब वस्तुएँ मोम की ही बनी हैं—मोम के अतिरिक्त और कुछ नही है।... ..(श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत प्रथम खण्ड, पृ० ४३७।)

"एक दिन मुझे यह दर्शन हुआ कि प्रत्येक वस्तु विशुद्ध आत्मा है। मन्दिर मे रखे पात्र, वेदी, मनुष्य, जानवर—सभी विशुद्ध आत्मा हैं। और एक पागल के समान मैं प्रत्येक वस्तु पर पुष्प वृष्टि करने लगा। जो वस्तु भी मुझे दिखाई देती थी, उसी की पूजा करने लगा।..."

हो द्वारा इस अनुभूति को प्राप्त कर लेगा। उनका कार्य केवल अपने शिष्यों को स्वस्थ-मन व निष्कपट बनाना था।

परन्तु इस प्रकार भगवान् से सर्वात्मना ओत-प्रोत व्यक्ति के नैतिक प्रभाव की थाह कौन ले सकता है ? यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार शरद् ऋतु के मधु मे खजूर की गन्ध मिली रहती है, उसी प्रकार उनकी प्रशान्त व सुस्थिर दिव्य दृष्टि उनके मास मे मिश्रित थी, और उनके वह क्षुधार्त युवक शिष्य, जो कि उनकी प्रत्येक अगभगी व गतिविधि को आग्रहपूर्वक पान करते थे, उनकी रसनाओ पर वह मधु चूता रहता था। परन्तु उन्हें स्वय इस बात का कोई भान न था। उन की यही धारणा थी कि उन्होने उन्हें स्वतन्त्र छोड रखा है। उनका विश्वास था कि जिस प्रकार चमेली का पुष्प वायु के द्वारा अपनी गन्ध चारो तरफ फैला देता है, उसी प्रकार उनके द्वारा भगवान् अपनी सुवास चारो ओर फैला रहे हैं। चमेली के पुष्प को तुम्हे विश्वास दिलाने के लिए कोई प्रयत्न नही करना पडता। तुम्हे केवल यही करना होता है कि उसकी ताजी सुगन्ध को सूँघो।

इस प्रकार रामकृष्ण की शिक्षा का यह महत्वपूर्ण अश था। मनुष्य को अपने देह, इन्द्रियो व आत्मा को, निष्कपट, पवित्र, निष्कलक, अक्षुण्ण व सृष्टि के आदिमतम व्यक्ति आदम की तरह तरुण रखना चाहिये।

और इसकी सफलता के लिए सबसे पहले ब्रह्मचर्य के नियम का पालन करना आवश्यक है।

यह नियम, जिसे हमारे पाश्चात्य गिर्जा-विरोधी, सरल अज्ञता के साथ, रोम के चर्च का ही एकाधिकार बताते है, और जिसके विरुद्ध वे अपने पुराने व कुण्ठित बाणो का प्रहार करने से कभी विरत नही होते, उतना ही प्राचीन है जितना कि यह विश्व—(यद्यपि सारा ससार यदि कठोरतापूर्वक इसका पालन करता, तो इसका अस्तित्व अधिक दिन तक न रह सकता)। समस्त श्रेष्ठ योगियो, अधिकाश उच्चकोटि के आदर्शवादियो, एव आध्यात्मिक शक्ति के उत्कृष्ट स्रष्टाओ ने स्वय स्पष्ट रूप से इस तथ्य का अनुभव किया है कि यौन शक्ति के क्षय के निरोधस्वरूप एकाग्र व नियन्त्रित मन तथा सचित सृजन-शक्ति की कितनी भयानक ताकत पैदा हो जाती है। यहाँ तक कि बीथोवन, बालजक और फ्लाबर्ट सदृश धर्म के सम्बन्ध मे सर्वथा स्वतन्त्र विचार रखनेवाले व इन्द्रियवादी व्यक्तियो ने भी इसका अनुभव किया है।

बीथोवन ने एक दफे काम-वासना की प्रताडना का प्रतिरोध करते हुए कहा था, "उच्चतर उद्देश्य के लिए मुझे इसकी रक्षा करने दो।" (परमात्मा व सृजनात्मक कला के लिए)। भगवत्-प्रेमी व्यक्ति और भी दृढतर कारण से अपने

अन्दर किसी प्रकार के कामविकार को सहन नही कर सकते। क्योकि वे जानते हैं कि वासना से आवद्ध व कलुषित घर मे भगवान् आने से इनकार कर देंगे। (न केवल दैहिक यौन सयम ही पर्याप्त है, अपितु मानसिक रूप से काम-वासना का परित्याग और भी अधिक आवश्यक है। यदि मन के अन्दर प्रवल काम-वासना छिपी हुई है, तो दैहिक ब्रह्मचर्यपालन सर्वथा अपर्याप्त है। कारण, यह एक प्रकार की नपुसकता है, जो कि एक और पाप है—स्वतन्त्रता नही।) हिन्दू सन्यासियो के लिए यह ब्रह्मचर्य का नियम अत्यन्त कठोर है। और रामकृष्ण के सदृश कोमल, प्रशान्त व प्राय. नारीप्रकृति व्यक्ति से लेकर विवेकानन्द के समान अदम्य उत्साही, आवेगमय, व कठोर व्यक्ति तक, सभी श्रेणियो के आध्यात्मिक पथप्रदर्शको ने इस सम्बन्ध मे लेशमात्र भी शिथिलता प्रदर्शित नही की है।

"यदि भगवान् को पाना है तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना ही होगा। जो व्यक्ति वारह वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे अतिमानव शक्ति प्राप्त हो जाती है। उसके अन्दर एक नव इन्द्रिय का जन्म हो जाता है, जिसे वुद्धि इन्द्रिय कहते हैं। वह प्रत्येक वस्तु को जान सकता है, और सव वस्तुओ का स्मरण रख सकता है। कामिनी-काञ्चन का परित्याग परम आवश्यक है।"[1]

दारिद्रय, पवित्रता, सेण्ट फ्रान्सिस-प्रवर्तित रहस्यवादी विवाह, गिर्जा और अन्य शास्त्रो के नाना विधान, यह सव गौण वस्तुएँ है। कारण, पूर्व और पश्चिम की समस्त समभावापन्न आत्माएँ एक से ही सिद्धान्तो व परिणामो पर पहुँची हैं। साधारणतया इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि जव कोई व्यक्ति अपने-आपको आन्तरिक जीवन के प्रति समर्पण करता है (उसे ईसा, शिव या कृष्ण आदि, किसी नाम से भी क्यो न कहे, या वह कोई कला व दार्शनिक शुद्ध विचार ही क्यो न हो) "तो उसका अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण अधिकार आवश्यक है।"[2]

किन्तु इतना ही पर्याप्त नही है। जो मनुष्य (उनकी ही संख्या अधिक है) ससार मे रहते हैं, और वही पर रहकर कार्य करते है, उनका भी अपने कार्य के लक्ष्य तथा उसका पोपण करनेवाली वौद्धिक भावनाओ पर वैसा ही पूर्ण आधिपत्य आवश्यक है। उन्हे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जिस कार्य के प्रति वे

---

१. श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, प्रथम व द्वितीय भाग देखिए, पृ० सख्या क्रमशः २५२ व २२३। रामकृष्ण ने इस प्रश्न पर मिथ्या सकोच को त्यागकर सरल भाव से आलोचना की है।

२. श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, अध्याय २, पृ० २२३।

अनुरक्त हैं, वह चाहे कितना ही महान् व पवित्र क्यो न हो, वे उसके गुलाम न हो जायँ ।[1]

तुम काम से भाग नही सकते, क्योकि प्रकृति तुम्हे काम करने के लिए बाध्य करती है। और जब कार्य करना ही है, तो उसको उचित रूप मे ही क्यो न किया जाय । यदि अनासक्त भाव मे कार्य किया जाता है तो वह भगवान् तक पहुँचा देता है और लक्ष्य प्राप्ति का साधन बन जाता है—और वह लक्ष्य भगवान् ही है।

"अनासक्ति का अर्थ" अच्छे व बुरे अविवेक, उत्साहहीनता, अथवा सत्कर्म के प्रति प्रीति का अभाव नही है, अपितु केवल नि.स्वार्थपरता है।

"अनासक्त भाव से कार्य करने का अर्थ इस लोक व परलोक मे किसी पुरस्कार की आशा व दण्ड की आशका को त्यागकर कार्य करना है ।... "

किन्तु रामकृष्ण के अन्दर मानविकता इतनी प्रबल थी कि वे अच्छी तरह जानते थे कि दुर्बल मनुष्य के लिए इस आदर्श तक पहुँचना अत्यन्त दुर्लभ है।

"अनासक्त होकर कार्य करना, विशेषतः आजकल के युग मे अत्यन्त कठिन है, और केवल कुछ चुने हुए व्यक्ति ही उस आदर्श तक पहुँच सकते हैं। . ."

परन्तु इस अनासक्ति की अवस्था को प्राप्त करने की अभिलाषा करना सबके लिए एक सामान्य कर्त्तव्य है, और उत्साहपूर्ण प्रार्थना और सच्ची दानशीलता उसके सहायक हैं।

परन्तु ठहरिए। दानशीलता एक द्व्यर्थक शब्द है। दानशीलता व मानविकता (मानवप्रेम) प्राय. पर्यायवाची शब्द के रूप मे प्रयुक्त किए जाते हैं। परन्तु रामकृष्ण के मन मे मानविकता के प्रति एक ऐसा अद्भुत अविश्वास भरा हुआ था, जो डिकेन्स व मीराबू सदृश पाश्चात्य व्यङ्गलेखको को भी मात करता था। और

---

१ सशयवादी अठारहवी शताब्दी मे भी पश्चिम के कुछ श्रेष्ठतम कलाकारो व अभिमानी ईसाई पडितो मे अपनी कृतियो के प्रति यह अनासक्ति की भावना देखी जाती है। हैण्डल और ग्लक सदृश अभिमानी एव हैंस और मोज़ार्त के समान अनुभूतिशील सहृदयता-सम्पन्न व्यक्तियो मे इस अनासक्ति की मैं प्रशसा करता हूँ। उनमे से प्रत्येक अपनी मृत्यु के बाद अपनी रचनाओ के भाग्य के प्रति उदासीन थे और उन्होंने रैसीन के समान सृजन-शक्ति के पूर्ण प्रवाह मे ही अपनी रचनाओ को नष्ट होने के लिए छोड दिया था। मैं यहाँ तक कहने का साहस करता हूँ कि कोई भी व्यक्ति इस ऊँचाई तक पहुँचे बिना महान् नही हो सकता।

वे उपहास व विद्रूपपूर्वक कुछ मानवप्रेमियो की मक्कारी का भण्डाफोड किया करते थे, यद्यपि उनके इस कार्य से बहुत से सहृदय व्यक्तियो को आघात पहुँचने की भी आशङ्का थी। वे अपने विश्वस्त शिष्यो को दिखावटी मानवप्रेम से बचने के लिए प्राय: उपदेश किया करते थे। मनुष्य के मन की गुप्त गति-विधियो के बारे मे अपनी स्वभावसिद्ध अन्तर्दृष्टि से उन्होंने यह अच्छी तरह जान लिया था कि मानवप्रेम के सम्बन्ध मे की जानेवाली घोषणाओ व कार्य-कलापो के मूल मे प्राय अहङ्कार, दम्भ, यशोलिप्सा, अथवा केवल एक ऐसा निरर्थक आन्दोलन, जिसके पीछे वास्तविक मानवप्रेम की कोई भावना न होकर केवल जीवन की ऊबा देनेवाली एकरसता को विनष्ट करने की भावना होती है, के अतिरिक्त और कुछ नही होता। जब कोई व्यक्ति किसी भिखारी की झोली मे पैसा डालता है, तो वास्तव मे वह अपनी दुश्चिन्ता व दु स्वप्न से बचने के लिए ऐसा करता है, उस अभागे की सहायता करने के लिए नही। मलिक महाशय ने जब रामकृष्ण से हास्पिटलो की प्रतिष्ठा व पीडितो की सहायतार्थ कार्यों के बारे मे कहा, तो उन्होंने उत्तर दिया :—

"हाँ ठीक है। परन्तु एक शर्त है कि तुम्हे दूसरो की भलाई के कार्य करते समय अनासक्त (अर्थात् सर्वथा नि स्वार्थ) रहना होगा।"

जब वे प्रसिद्ध उपान्यासकार बकिमचन्द्र चैटर्जी, अथवा एक पत्र (हिन्दू पैट्रियट) के व्यवस्थापक प्रभृति सासारिक व्यक्तियो से बातचीत करते थे तो वे प्राय· उत्तेजित हो उठते थे। जिन मनुष्यो के मुख सत्कार्यों—मार्ग निर्माण व अन्य जनहितकारी कार्यों की तालिका से भरे रहते हैं, उनके इरादो, उनकी आत्मा की गम्भीरता और सबसे बढकर उनके कार्यों के सम्बन्ध मे रामकृष्ण की धारणा बहुत नीची थी। वे कहा करते थे कि एक पतित आत्मा से किसी वास्तविक व स्थायी अच्छाई की आशा निरर्थक है। इसलिए सबसे पहले मनुष्य को अहङ्कार का त्याग करना चाहिए, और जब तक वह ऐसा नही करते तब तक वह ससार के लिए कोई मङ्गल कार्य नही कर सकते।

इस सम्बन्ध मे रामकृष्ण के विचारो को ठीक तरह समझने के लिए, मैंने रामकृष्ण के जीवित शिष्यो मे सबसे अधिक प्रामाणिक स्वामी शिवानन्द और रामकृष्ण की शिक्षाओ और उनके आदर्शों के प्रचारक अशोकानन्द से अनेक प्रश्न पूछे हैं, और उन्होंने बडे यत्नपूर्वक मेरे प्रश्नो के उत्तर दिये हैं। परन्तु रामकृष्ण के सक्रिय मानवप्रेम के पोषक उपयुक्त कुछ एकाकी दृष्टान्तो के होते हुए भी, शब्दो के द्वारा जनहितसाधना उनकी शिक्षा मे एक मुख्य स्थान रखती है, इस बात को वे प्रमाणित नही कर सके। यदि हम यह स्मरण नही रखते कि

रामकृष्ण ने स्वार्थरहित प्रेम के बिना मानवप्रेम की तरह ही वैयक्तिक मोक्ष के अहङ्कार को भी त्याज्य बतलाया है, और उनका लक्ष्य प्रत्येक मानवहृदय में उदारता का दीपक प्रज्वलित करना है, तो उस पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार जो कि अच्छे इरादो की अपेक्षा कार्य को और वैयक्तिक मोक्ष की अपेक्षा दूसरो की भलाई को अधिक महत्त्व देता है, उनकी शिक्षा के प्रति (मैं सत्यनिष्ठा के साथ कहता हूँ) यह एक गभीर अभियोग होगा।

तो आत्मप्रेम व उदारता मे क्या अन्तर है ?[1] हमारे अन्दर से विनिर्गत उस प्रेम का नाम उदारता है, जो व्यवहार में अपने व्यक्तित्व, परिवार, सम्प्रदाय व देश तक सीमित न हो। अपने व्यक्तित्व, परिवार, सम्प्रदाय व देश के प्रति आसक्ति ही आत्मप्रेम कहलाता है। इसलिए उस उदारता की साधना व अभ्यास करना चाहिए, जो मनुष्य को ऊपर उठाकर भगवान् तक ले जाती है।[2]

रामकृष्ण की दृष्टि मे उदारता, सब मनुष्यो के अन्तर्वर्ती भगवान् के प्रेम से न्यूनतर कोई वस्तु नही है। कारण, भगवान् ही मनुष्य के रूप मे अवतरित होते हैं।[3]

मनुष्य के अन्दर निवास करने वाले भगवान् को जब तक कोई व्यक्ति प्रेम नहीं करता, तब तक वह मनुष्य को भी सच्चे अर्थों मे प्रेम नही कर सकता, और इसलिए उसकी सहायता भी उसके द्वारा सभव नही। और इससे यह स्वाभाविक परिणाम भी निकलता है कि जब तक कोई व्यक्ति प्रत्येक मनुष्य मे भगवान् के दर्शन नही करता, तब तक वह वास्तव मे भगवान् को नही जान सकता।[4]

---

१ यह कहने की आवश्यकता नही कि "आत्मप्रेम" शब्द अपने प्राचीन रूढ़िगत 'अपने प्रति प्रेम' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

२. श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, प्रथम भाग पृ० २६१।

३. "तुम भगवान् को ढूँढते हो ? ठीक है, तो मनुष्य के अन्दर उसकी खोज करो। भगवान् जिस प्रकार मनुष्य के अन्दर अपने-आपको प्रकट करते हैं, उस प्रकार अन्य किसी पदार्थ मे नही करते। वस्तुतः भगवान् सभी वस्तुओं मे रहते हैं, परन्तु अन्य पदार्थों मे उसकी शक्ति का प्रकाश कमोवेश विद्यमान है। मनुष्य के अन्दर प्रकट होकर भगवान् ने रक्त-मांस मे अपनी शक्ति का सबसे अधिक प्रकाश किया है।.. मनुष्य भगवान् की सवर्तोकृष्ट अभिव्यक्ति है।" (श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, प्रथम भाग, पृ० ३५०)।

४ "प्रत्येक मनुष्य के अन्दर भगवान् का दर्शन ही पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति है।" (श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, द्वितीय खण्ड)।

रामकृष्ण मठ के वर्तमान प्रधानाध्यक्ष व उनके आदर्शों की सत्य भावना के प्रचारक स्वामी शिवानन्द ने मुझे यह पंक्तियाँ लिखी[1] हैं, जिनका आध्यात्मिक अर्थ पास्कल की रचनाओ का अध्ययन करनेवाले पाठको को परिचित प्रतीत होगा :

"ऐसा प्रतीत होता है कि आप मनुष्य के अन्तर्वर्ती भगवान् और उसकी सेवा के लिए प्रेरित करनेवाली सार्वभौम वेदना की चेतना मे एक पार्थक्य की कल्पना करते हैं। परन्तु मुझे ऐसा अनुभव होता है कि यह मन की एक ही अवस्था के दो विभिन्न पहलू हैं, विभिन्न अवस्थाएँ नही है। मनुष्य के अन्तर्वर्ती भगवान् की उपलब्धि द्वारा ही मनुष्य की दु ख-वेदना की गभीरता का सम्यक् अनुभव हो सकता है । कारण, उसके बिना मनुष्य की आध्यात्मिक दासत्व की अवस्था, और उसकी पूर्णता व दिव्य आनन्द के अभाव की अवस्था हमारी आत्मचेतना को स्थूल साक्षी के रूप मे प्रभावित नही करती। मनुष्य के अन्दर देवत्व का निवास होते हुए भी मनुष्य की वर्तमान अज्ञता व उसके परिणामस्वरूप होने वाले कष्टो की दुःखदायक अनुभूति ही हमे मनुष्य जाति की सेवा के लिए प्रणोदित करती है। अपने व दूसरो के बीच इस दिव्य आत्मा का अनुभव किए बिना सच्ची सहानुभूति, सच्चा प्रेम, और सच्ची सेवा असभव है। इसी कारण रामकृष्ण अपने शिष्यो को आत्मोपलब्धि कराना चाहते थे, अन्यथा वे अपने-आपको कभी भी मानव-जाति की सेवा मे उपयुक्त रूप से अर्पित नही कर सकते।[2]

परन्तु इस बीच मे जबकि मानव-समाज यंत्रणा भोग रहा है, परित्यक्त होकर, मृत्यु के मुँह मे जा रहा है, क्या उसे बिना सहायता के छोड देना चाहिए ?

---

१ ७ दिसम्बर, सन् १९२७।

२ और पुनः स्वामी अशोकानन्द ने लिखा : "साधारण स्तर पर प्रेम और सहानुभूति से सेवाभाव का उदय होता है। परन्तु.... जब हम वेदनापीडित मानव-समाज को भगवान् के ही विभिन्न रूपोःमे देखने लगते हैं, तब हम मनुष्य के अन्दर भगवान् की चेतना को ही सेवा के प्रेरक भाव के रूप मे देख पाते हैं, और इस प्रकार की सेवा ईश्वरोपलब्धि का एक शक्तिशाली साधन बन जाती है।" (प्रबुद्ध भारत, फरवरी, सन् १९२८)। परन्तु यहाँ क्या मैं अपना यह विश्वास प्रकट करने का साहस कर सकता हूँ कि मनुष्य मे देवत्व की भावना को भूलकर, पीड़ित मनुष्यो के प्रति केवल उसी वेदना के कारण, सहानुभूति या उसकी सेवा कही अधिक सुन्दर, पवित्रतर व

नही, कदापि नही । इसलिए रामकृष्ण जिस कार्य को स्वय न कर पाये, और वास्तव मे अपने कर्मबन्धन की सीमा व अपने जीवन की परिधि मे (जो जीवन शीघ्र ही समाप्त होने वाला था), जिसे वह कभी पूर्ण न कर सकते थे, वह कार्य उन्होंने अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्य, और अपनी वाणी के उत्तराधिकारी, विवेकानन्द के ऊपर—उस मनुष्य के ऊपर, जिसे मनुष्य-जाति के उद्धार के लिए, मनुष्य-जाति के अन्दर से ही खोजकर लाना रामकृष्ण के जीवन का एक विशेष लक्ष्य था—छोड दिया था । अपनी मौजूदगी मे ही उन्होंने उसके ऊपर ससार मे कार्य करने और "दु.ख व दारिद्रयपीडित मानवता के कष्टो को दूर करने का भार" सौप दिया था ।[1]

और विवेकानन्द ने इस कार्य मे अपनी सर्वग्राही तीव्र भावना और कर्म-शक्ति पूर्णरूप से लगा दी । उसकी प्रकृति अपने गुरु की प्रकृति से सर्वथा एक विभिन्न नमूने की प्रकृति थी, जो दीन-दु खियो की सेवा के लिए एक दिन व एक मुहूर्त की भी प्रतीक्षा न कर सकती थी । वह अपने रक्त-मास मे उसकी पीडा का अनुभव करते थे । दु.स्वप्न के समान दिन-रात वह उनको बेचैन किए रखती थी । उसके कारण वह निराश होकर क्रन्दन करने लगते थे । रामकृष्ण की आत्मा अपने अन्तिम दिनो मे जिस शान्ति के अन्दर तैरती थी वह शान्ति विवेकानन्द के अन्दर विद्यमान न थी । रामकृष्ण की वैदेही आत्मा पाप-पुण्य से अतीत, परात्पर के द्वन्द्वातीत क्षेत्र मे विचरण करती थी ।

"परमात्मा अच्छे व बुरे दोनो के प्रति समान रूप से अनासक्त हैं । वह प्रदीप के आलोक के समान है । तुम इसके प्रकाश मे जिस प्रकार पवित्र धर्म-पुस्तको का अध्ययन कर सकते हो, उसी प्रकार जाली दस्तावेज का भी निर्माण कर सकते हो । ससार मे हम जो कुछ भी पाप, अमगल व दुःख-दारिद्रय देखते हैं, वे हमारी दृष्टि मे ही पाप, अमगल व दु ख हैं । परम ब्रह्म इन सबसे ऊपर व अतीत है । उसका प्रकाश अच्छे व बुरे दोनो को एक समान प्रकाशित

उच्चतर वस्तु नही है ? निरन्तर देवत्व का चिन्तन करने की अपेक्षा, उसे भूल जाना सभवतः देवत्व के अधिक निकट है । कारण, ऐसा करने मे, "आसक्ति" का—जिस अर्थ मे उसका रामकृष्ण ने प्रयोग किया है, लेशमात्र भी नही पाया जाता ।

१ सन् १८८६ की सुन्दर जीवत घटना, जो प्रत्यक्षदर्शी स्वामी शिवानन्द ने मुझे बताई थी, आगे वर्णन करूँगा ।

करता है ।[1] ससार के तथ्यो को उनके वास्तविक रूप मे ही ग्रहण करना चाहिए। भगवान् की लीला को स्पष्ट रूप से समझने की क्षमता मनुष्य की शक्ति से बाहर है ।[2] मैं देखता हूँ और अनुभव करता हूँ कि बलि-पशु, यूपकाष्ठ व जल्लाद तीनो एक ही पदार्थ से बने हैं ।" आह ! यह कैसा अद्भुत दर्शन है ।"[3]

हाँ, यह दिव्य दर्शन समुद्र की सकरुण दिव्यच्छटा के समान है । और यह अच्छा ही है कि समस्त सृजनकारी महान् आत्माएँ समय-समय पर इसमे गोता लगाकर एक नवीन शक्ति प्राप्त करती हैं । रामकृष्ण ने भी अपने कोमल हृदय के तलदेश मे समुद्र का यह शक्तिशाली गर्जन व लवणाक्त शैवाल सचित किया हुआ था, यह अच्छा ही है । परन्तु साधारण मनुष्यो के लिए यह समव नही है । उन्हें भय से पागल व जड हो जाने का खतरा है । उनकी दुर्बलता परमात्मा के साथ आत्मा का समन्वय घटाने मे असमर्थ है । उनका जीवन-स्फुलिंग जिससे निर्वापित न हो जाय, इसके लिए "सच्चिदानन्द के समुद्र के ऊपर अह (ego) को जादूयष्टि सुरक्षित रखने की आवश्यकता है ।" यद्यपि यह 'जल के ऊपर खीची गई रेखा' से अधिक और कुछ नही है, परन्तु "यदि तुम इसे हटा लेते हो तो एक निरवच्छिन्न महासमुद्र के अतिरिक्त और कुछ न रहेगा ।"[4] इसलिए भँवर के विरुद्ध रक्षा के तौर पर इसे कायम रखो । परमात्मा ने अपनी सन्तानो के लडखडाते हुए कदमो को सहारा देने के लिए स्वय ही इस यष्टिका की व्यवस्था की है । वे भी भगवान् के ही हैं । रामकृष्ण से जो शिष्य उत्सुकतापूर्वक पूछते थे . "प्रभु ! आप हमें उनकी कथा कहते हैं जिन्होंने 'सोऽहम्' (मैं वह हूँ) इस ऐक्य को उपलब्धि कर ली है । ' परन्तु जिन्हे वह एकत्वबोध प्राप्त नहीं हो सकता, और जो कहते हैं 'तुम मैं नही हो, तथापि मैं तुम्हारी तलाश मे हूँ ?' उनका क्या होगा ?" इन्हे वे विश्वासोत्पादक मृदु हास्य के साथ उत्तर देते थे : "तुम भगवान् को 'तुम' कहो या 'मैं वह हूँ' कहो, इससे कोई अन्तर नही पडता। जो मनुष्य 'तुम' के द्वारा उसकी उपलब्धि करते है, भगवान् के साथ उनका एक अत्यन्त मधुर सम्बन्ध है । यह एक पुराने विश्वस्त भृत्य के साथ स्वामी के सम्बन्ध के समान है । उनकी आयु ज्यो-ज्यो बढती जाती है, त्यो-त्यो स्वामी अपने मित्र भृत्य के ऊपर अधिकाधिक निर्भर होता जाता है । और वह

---

१ श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, प्रथम भाग, पृ० ६१ व ८७ ।

२ श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, प्रथम भाग, पृ० १०१ ।

३ श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, द्वितीय भाग, पृ० ४३७ ।

४ श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, द्वितीय भाग ।

प्रत्येक गंभीर मामले मे उसका परामर्श लेता है। और एक दिन... ..स्वामी उसे अपने हाथ से पकडकर ले जाता है, और अपनी गद्दी पर लाकर बैठा देता है। नौकर घबराकर पूछता है, 'मेरे मालिक यह क्या कर रहे हो?' परन्तु स्वामी उसे अपने सिंहासन पर अपने निकट बैठाकर कहता है, 'मेरे प्यारे! तुम और मैं एक ही हैं।'"[1]

रामकृष्ण अपने प्रत्येक शिष्य के वैयक्तिक दृष्टिक्षेत्र के अनुसार अपने विचार को उसके अनुकूल बना लेते थे, और मानवीय आत्मा के भगुर सतुलन को विनष्ट करने के स्थान पर वे उस सतुलन के उपादानो को उचित परिमाण मे जुटाकर उसे सावधानी से प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करते थे। विभिन्न व्यक्तियो के मानसिक गठन के अनुसार वे अपनी शैली को इतनी जल्दी परिवर्तित कर लेते थे कि अनेक बार उनके विचार परस्परविरोधी प्रतीत होने लगते थे।

उन्होंने साधुवृत्ति योगानन्द को, जिसकी अति साधुता उसे गलत मार्ग पर ले जाती थी—शक्ति सचय का उपदेश दिया—"भक्त को मूर्ख नही होना चाहिए।" आत्मरक्षा का उपाय न जानने के कारण उन्होंने उसकी तीव्र भर्त्सना की। किन्तु दूसरी तरफ उन्होंने जोशीले निरजनदास को, जो कि हर समय अपने शत्रुओ व अपना अपमान करने वालो पर आक्रमण करने के लिए तत्पर रहता था, उत्तेजक परिस्थिति मे भी विनयशील व सहिष्णु होने का उपदेश दिया। अवश्य ही, वे अपने "वीरश्रेणी के" शिष्यो की कुछ दुर्बलताओ को जिन्हें कि वे दुर्बलतर शिष्यो मे बरदाश्त न कर पाते थे, किसी अश तक सहन कर लेते थे। कारण, पूर्वोक्त श्रेणी के शिष्यो मे दुर्बलता हर समय नही रह सकती। वे प्रत्येक मनुष्य के अन्दर विद्यमान प्रतिक्रिया की शक्ति का सही-सही अन्दाज़ा अचूक कौशल के साथ लगा लेते थे।

एक ऐसा व्यक्ति जो निरन्तर, साधारण मनुष्यो की जीवन-यात्रा को नियन्त्रित करने वाले नियमो से अतीत, परब्रह्म के अविच्छिन्न सान्निध्य मे रहता है, उसके प्रति यह आशका की जा सकती है कि वह दैनिक कर्मों के असख्य सूक्ष्म-भेदो को समझने व उनका नेतृत्व करने मे असमर्थ सिद्ध हो सकता है। परन्तु रामकृष्ण के बारे से सत्य सर्वथा इसके विपरीत था। माया के बन्धनो से मुक्त हो जाने के कारण, उनके दृष्टिरोधक कुसस्कार व धार्मिक असहिष्णुता का आवरण तथा मन और हृदय की सकुचितता पहले ही दूर हो चुके थे। और उनके स्वतन्त्र व उदात्त विचार के मार्ग मे कोई रुकावट न रहने के कारण वे प्रत्येक

---

१. मुकर्जी रचित पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ १६१।

वस्तु व प्रत्येक मनुष्य के बारे मे सहास्य सरल बुद्धि के साथ विचार करते थे। उनकी सुकरात की शैली से की हुई एक भी आलोचना आजकल के श्रोताओ को आश्चर्य मे डाल सकती है। गैलिलीवासियो की अपेक्षा मोण्टेने व इरेस्मस के अधिक निकटतर हैं। उनकी व्यगभगी व आनन्ददायक विनोद मनुष्य को ताजगी व सजीवता प्रदान करते हैं। बगाल की उष्ण आबोहवा ने स्वभावतः अतिभावुक नवयुवको के मस्तिष्क पर उनके प्रभाव को अवश्य ही द्विगुणित कर दिया होगा। यहाँ मैं उनके केवल दो दृष्टान्त देता हूँ : हाथी और साँप की कहानियाँ। पहली कहानी मे रामकृष्ण ने मनोरजक व्यग के साथ अपने शिष्यो को हिंसा व सर्वथा अप्रतिरोध की दो सर्वथा विरोधी चरमावस्थाओ के प्रति सतर्क किया है। दूसरी कहानी मे वे अपने प्रति ही कटाक्ष करते प्रतीत होते हैं : उन्होंने अनैतिकता व कर्म के प्रति उदासीनता के खतरो को देखा था, जिनसे युवक मस्तिष्को को विश्वव्यापी भगवान् के आतपाघात (Sun Stroke) होने का भय है। और उन्होंने व्यग-परिहास के साथ हमारे चारो ओर व हमारे अन्दर भगवान् की सत्ता व उसके विभिन्न रूपो व नियमो की व्यापकता की थाह ली थी।

हाथी | "एक बार का जिक्र है कि जगल मे एक महात्मा रहते थे। उनके अनेक शिष्य थे। एक दिन उन्होंने अपने शिष्यो को निम्नलिखित उपदेश दिया : उन्होंने कहा, 'परमात्मा प्रत्येक पदार्थ मे बसते हैं। इसलिए हमे ससार के प्रत्येक पदार्थ के आगे भक्तिपूर्वक प्रणाम करना चाहिए।' ऐसा मौका हुआ कि उनका एक शिष्य जगल मे समिधाएँ चुनने के लिए गया। अचानक उसने यह शोर सुना, 'हट जाओ ! हट जाओ ! एक पागल हाथी आ रहा है !' तत्काल सब इधर-उधर भाग गए, परन्तु वह अकेला इस प्रकार तर्क करने लगा, 'हाथी भी परमात्मा का ही एक रूप है। तो मुझे क्यो भागना चाहिए ?' इसलिए वह वही पर खडा रहा और हाथी को भगवान् के रूप मे प्रणाम करके उसका स्तुतिगान करने लगा। महावत ने चिल्लाकर कहा, 'अपने आपको बचाओ ! बचाओ !'....परन्तु शिष्य वहाँ से एक कदम भी न हटा। हाथी ने उसे अपनी सूंड से ऊपर उठाकर दूर फेक दिया। बिचारा चोट खाकर व लहूलुहान होकर बेसुध व निश्चेष्ट पडा रहा। जब उसके गुरु ने यह सवाद सुना तो वह अपने शिष्यो के साथ भागे हुए उसकी सहायता के लिए घटनास्थल पर पहुँचे। वे उसे उठाकर घर के अन्दर ले गए और उसके घावो की मरहम-पट्टी की। जब उसे होश आया, तो उन्होंने उससे पूछा, 'जब तुमने महावत को चिल्लाते हुए सुना था, तो बचने का प्रयत्न क्यो नही किया ?' युवक शिष्य ने उत्तर दिया, 'हमारे गुरु ने हमे अभी शिक्षा दी थी, कि परमात्मा प्रत्येक जीवित प्राणी मे विद्यमान है।

इसलिए मैंने हाथी को भी परमात्मा ही समझकर उस स्थान को छोडना उचित न समझा।' गुरु ने उससे कहा, 'वत्स ! यह ठीक है कि हाथी मे भी परमात्मा प्रकट हुआ था। परन्तु क्या महावत-परमात्मा ने तुम्हें बचने के लिए नहीं कहा था ? यह बिल्कुल ठीक है कि परमात्मा प्रत्येक वस्तु मे विद्यमान है। परन्तु यदि वह हाथी मे विद्यमान है, तो क्या वह यदि अधिक नही तो उतने ही परिमाण मे महावत मे विद्यमान नही है ? तो तुमने उसकी चेतावनी पर ध्यान क्यो नही दिया ? • •।"[1]

और नीचे तरुण विवेकानन्द के साथ ठाकुर के एक शरारतपूर्ण वार्तालाप का सार देता हूँ :

सर्प | श्रीरामकृष्ण . (सहास्य)...नरेन्द्र[2] तू क्या सोचता है। ससारी व्यक्ति प्राय. ईश्वर-भक्त पुरुषो के बारे में अनेक कटु बाते कहते हैं। किन्तु देख। जब हाथी चलता है, तो उसके पीछे कुत्तो का झुड व अन्य कितने जीव-जन्तु चीत्कार करते हुए भागते हैं। परन्तु वह एक बार भी पीछे फिर कर नही देखता, और सीधा अपने रास्ते पर आगे बढता जाता है। वत्स ! यदि तेरी पीठ के पीछे, मनुष्य तेरी निन्दा करें तो तू क्या करेगा ?"

नरेन्द्र : (घृणापूर्वक) : 'मैं उन्हे सडक मे मेरे पीछे भौकनेवाले कुत्तो की तरह समझूंगा।"

श्रीरामकृष्ण : (हँसते हुए) : "नही, नहीं, बेटा। इतनी दूर तक नही ! याद रखो, जड व चेतन सभी भूतो मे ईश्वर का वास है। इसलिए प्रत्येक वस्तु सम्मान के योग्य है। तथापि मनुष्यो से सम्बन्ध स्थापित करते समय हमे यह देखना चाहिए कि हम साधु पुरुषो की ही सगति करें, दुष्टो की नही। यह ठीक है कि ईश्वर व्याघ्र के अन्दर भी विद्यमान है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि हम व्याघ्र को अपने आलिगन-पाश मे बाँधकर हृदय से लगा ले !" (शिष्य हँसने लगे)

नरेन्द्र : "यदि दुष्ट लोग अपमान करें तब भी क्या चुप ही रहना चाहिए ?"

श्रीरामकृष्ण : "एक समय कुछ ग्वाले एक मैदान मे गाये चरा रहे थे। उस मैदान मे एक भयानक जहरीला साँप रहता था। एक दिन एक महात्मा उस रास्ते से गुजर रहे थे। लडके दौडकर उनके पास आये और चिल्लाकर कहने लगे, 'महात्माजी, इधर से मत जाइए, उधर साँप रहता है !' महात्मा ने कहा,

---

१ श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, प्रथम खण्ड, पृ० ५६।

२. नरेन्द्र विवेकानन्द का ही पहला असली नाम है।

'वच्चो ! मैं तुम्हारे साँप से नही डरता । मैं वह मन्त्र जानता हूँ जिससे मुझे किसी तरह की तकलीफ नही हो सकती ।' यह कहकर वह अपने रास्ते पर आगे वढ़ चले ।' 'साँप ने उन्हे देखा, और फण उठाकर उनकी तरफ लपका । महात्मा ने धीरे-धीरे एक वशीकरण मन्त्र पढा, और साँप केंचुवे के समान निस्तेज व शक्ति-हीन होकर चरणो मे गिर पडा । महात्मा ने उससे कहा : 'तुम ऐसा क्यो करते हो ? दूसरो को क्यो तकलीफ देते हो ? मैं तुम्हे एक पवित्र मन्त्र (भगवान् का नाम) देता हूँ, इसका जाप करो, इससे तुम्हारी भगवान् मे भक्ति होगी, और अन्त मे तुम उसके दर्शन कर मकोगे, और दूसरो को तकलीफ पहुँचाने की इच्छा तुम्हारे अन्दर से दूर भाग जाएगी ।' यह कहकर उन्होंने साँप के कान मे पवित्र मन्त्र का उच्चारण किया । साँप ने प्रणाम करके पूछा . 'हे गुरु ! मैं आत्मरक्षा के लिए किस प्रकार साधना करूँ ?' महात्मा ने उत्तर दिया, 'पवित्र मन्त्र का जप करो, और किसी जीवित प्राणी की हिंसा मत करो ! मैं कुछ दिन वाद यह देखने के लिए कि तुम कैसे काम करते हो, फिर आऊँगा ।' इतना कहकर महात्मा विदा हो गये । इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत हो गये । ग्वाल वालको ने देखा कि साँप ने काटना छोड दिया है । उन्होने उसकी तरफ पत्थर फेंके । वह एक केंचुवे की तरह शान्त व अहिंसक वना रहा । एक शैतान ग्वाले ने उसे पूंछ से पकडकर अपने सिर के चारो तरफ घुमाया और एक पत्थर पर कई वार पटक-पटककर मारा । साँप के मुँह से खून निकलने लगा, और उसे मरा समझकर ग्वाले ने उसे एक तरफ फेंक दिया । रात्रि के समय उसे होश आया, और धीरे-धीरे किसी तरह घिसटकर वह अपने विल तक पहुँच गया । उसका शरीर चोटो से चकनाचूर हो गया था । अनेक दिन वाद, अच्छा होने पर जब वह अस्थि-चर्मविशेष मात्र रह गया, वह भोजन की खोज मे वाहर निकला । ग्वालो के भय से वह केवल रात मे ही वाहर निकलता था । महात्मा से दीक्षा लेने के वाद से उसने हिंसावृत्ति का त्याग कर दिया और जहाँ तक भी वन पडता था, वह पत्तियाँ, फल व मिट्‌टी वगैरह खाकर ही अपनी जीवन-यात्रा करता था । एक दिन महात्मा फिर उसी मार्ग से वापस आये और इधर-उधर साँप की खोज करने लगे । ग्वालो ने वताया कि वह मर गया है । महात्मा को यह सुनकर वडा आश्चर्य हुआ, क्योंकि वे जानते थे कि उन्होंने जो मन्त्र दिया है, उसमे यह आध्यात्मिक शक्ति है कि जब तक जीवन की समस्या हल नही हो जाती, अर्थात् ईश्वर के दर्शन नही हो जाते, तब तक मृत्यु असम्भव है । उन्होंने साँप का नाम-ले-लेकर जोर से आवाजे लगाकर पुन. उसकी खोज प्रारम्भ की । गुरु की

आवाज सुनकर साँप अपने विल से वाहर निकल आया और गुरु को प्रणाम किया।

महात्मा ने पूछा : "वत्स ! कैसे हो ?"

साँप ने उत्तर दिया . "गुरुजी ! धन्यवाद ! ईश्वर की कृपा से अच्छी तरह हूँ।"

गुरु : "तो तुम्हारी हड्डी-पसली क्यो निकल रही हैं ? तुम्हे क्या हो गया है ?"

सर्प · "गुरु ! मैंने आपके आदेशानुसार प्राणि-हिंसा त्याग दी है। और केवल घास-पात खाकर ही जी रहा हूँ, समव है, इसीलिए मैं पहले से कमजोर दिखाई देता हूँ।"

गुरु : "नही, केवल भोजन के परिवर्तन से यह हालत समव नही। कुछ न कुछ और कारण अवश्य है। मुझे साफ-साफ वताओ !"

सर्प : "ओह !··· · शायद · हाँ,·· मुझे याद आ गया, अवश्य और भी कारण है। एक दिन ग्वालो ने मुझे मारा था। उन्होंने पूँछ से पकडकर मुझे कई वार जोर से पत्थर पर पटका था। गरीव वालक ! नही जानते थे कि मेरे अन्दर क्या परिवर्तन हो गया है ! उन्हे क्या पता था कि मैं आयन्दा किसी को न काटूंगा ?"

गुरु : "परन्तु क्या पागलपन की वात है। क्या वेवकूफी है ! तुम इतने मूर्ख हो कि अपनी रक्षा भी नही कर सकते !····· मैंने तुम्हे दूसरो को काटने से मना किया था, परन्तु जो तुम्हे मारना चाहते हैं, उन्हे डराने के लिए फुकारे मारने से तो मना नही किया ?···"

और यह कहकर रामकृष्ण चमत्कृत नेत्रो से अपने शिष्यो की ओर देखने लगे। "इसलिए अपना फण उठाकर फुकार करो ··परन्तु काटो नही।"

समाज मे रहने वाले प्रत्येक नागरिक विशेषतः एक परिवार के पिता को आत्मरक्षा के लिए हिंसा के विरोध का वाह्यप्रदर्शन आवश्यक है। परन्तु साथ ही उसे इस वात से सावधान रहना चाहिए कि वह हिंसा के प्रतिरोध के लिए प्रतिहिंसा को जागृत न होने दे।"

इस अन्तिम सूत्र मे "यदि शान्ति चाहते हो तो युद्ध के लिए तत्पर रहो" इस प्रचलित कहावत की गन्ध विद्यमान है, परन्तु इस कहावत मे जो हेत्वाभास है, उसे वर्तमान पीढी को अपने-आपको हानि पहुँचाकर व्यक्त करना पडा है। इसलिए मैं इस सूत्र के व्यावहारिक व नैतिक उत्कर्ष की पुष्टि नही करता, परन्तु इस आध्यात्मिक कहानीकार के व्यग-मिश्रित मृदु हास्य को, जो कि वरवस ला

फोण्टेने[1] की याद दिला देता है, मैं सदा स्मरण रखूंगा। इसके अतिरिक्त हमें रामकृष्ण की उस शैली पर भी, जो कि विरोधी झंझावातो के आघातो से एक तट से दूसरे तट की तरफ बहते हुए, व निरन्तर भयकर रूप से दोलायमान, कर्म के महापोत मे सहज बुद्धि द्वारा सन्तुलन स्थापित करती है, आवश्यक रूप से विचार करना चाहिए।

यह स्पष्ट है कि वह अहिंसा (किसी को कष्ट न पहुँचाओ) का उसी प्रकार पालन व प्रचार करते थे, जिस प्रकार महात्मा गाधी करते हैं। उनकी यह अहिंसा न केवल मनुष्यो तक ही सीमित थी, वल्कि उसमे प्राणिमात्र का समावेश था।[2]

परन्तु वह गाधी की अपेक्षा अधिक विनोदप्रिय व सर्वतोमुखी व्यक्ति थे। वह कभी कोई कठोर नियम वाँधने के लिए उत्सुक न दिखाई देते थे। परन्तु एक

---

१. सत्रहवी शताब्दी का प्रसिद्ध फासीसी कहानीकार।

२ यहाँ पर कुछ अन्य सुन्दर कहानियो का गुलदस्ता है .

सर्वप्रथम यह सुन्दर नीतिगल्प : "भगवान् सब प्राणियो मे निवास करते हैं" श्री (श्रीरामकृष्ण कथामृत, द्वितीय भाग, पृ० १२९)।

एक समय की वात है कि एक मठ के सन्यासी प्रतिदिन भिक्षा के लिए वाहर जाया करते थे। एक दिन सन्यासी ने भिक्षावृत्ति को जाते हुए मार्ग मे एक जमीदार को एक गरीव मनुष्य को वुरी तरह पीटते हुए देखा '''' यह देखकर सन्यासी ने उसे रोकना चाहा' ''''जमीदार ने अत्यन्त कुपित होकर अपना सारा क्रोध सन्यासी पर ही निकाला, और उसे यहाँ तक पीटा कि वह वेहोश हो गया। मठ के अन्य सन्यासियो को जव यह समाचार मिला, तो वे भागे हुए आये, और उसे भूमि पर पडा देखकर, वहाँ से उसे सावधानी के साथ उठाकर मठ मे ले गये और शय्या पर लिटा दिया। उसके चारो तरफ वैठकर वे उसकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे और पखा झलने लगे, उनमे से एक ने उसके मुख मे चम्मच से थोडा-सा दूध दिया। कुछ समय वाद सन्यासी को होश आया, उसने अपने नेत्र खोले और चारो ओर देखने लगा। वह अपने गुरुभाइयो को पहचानता है या नही, यह जानने के लिए उसके एक साथी सन्यासी ने उसके कान मे जोर से चिल्लाकर पूछा—'भाई, तुम्हें दूध किसने पिलाया है ?' सन्यासी ने क्षीण स्वर मे ही उत्तर दिया—'भाई, जिसने मुझे मारा था, उसने ही मुझे दूध पिलाया है।'......"

ही दृष्टि मे किसी प्रश्न के पूर्वापर को तोल लेते थे। इसी का यह परिणाम था कि परमात्मा के इस व्याकुल प्रेमी ने इस माया-जगत् मे भी सब प्रश्नो के समाधान के लिए एक, सुन्दर स्वर्णीय मध्यमार्ग का अवलम्बन करने वाली उत्कृष्ट बुद्धि प्राप्त की थी। जगन्माता के समान वह आत्मारूपी पतङ्गों को आकाश के स्वर्गीय क्षेत्र मे विचरण करने के लिए ऊपर उडा देता था, परन्तु यदि अभी उनका दूर उडने का समय नही आया है तो वह उन्हे सहज-बुद्धि की डोरी द्वारा पुनः पृथ्वी पर खीच लाता था।

एक और क्षुद्र कहानी : (श्री श्रीरामकृष्ण जीवनी, पृ० ६२०) :

"युवक काली प्रतिदिन मछली पकडने जाता था। रामकृष्ण ने उससे पूछा—'तू इतना निष्ठुर क्यो है?' काली ने उत्तर दिया—"मैं कोई पाप-कार्य नही कर रहा हूँ। हम सब आत्मा हैं, और आत्मा अमर है, इसलिए मैं वास्तव मे मछलियो की हत्या नही करता।' प्रभु ने उससे कहा :—'वत्स! तुम अपने आपको धोखा देते हो। जिस मनुष्य ने भगवान् की उपलब्धि कर ली है (अर्थात् जिसने अपने अन्दर भगवान् का दर्शन किया है) वह कभी दूसरो के प्रति निर्दय नही हो सकता। उसके लिए यह कार्य असभव है। वह कभी इसका विचार भी नही कर सकता।.. "

(श्री श्रीरामकृष्ण जीवनी, पृ० ४१७, एव श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, द्वितीय भाग, २७० पृष्ठ देखिए—रामकृष्ण स्वय इस अवस्था मे पहुँच गए थे कि वे पूजा के लिए पुष्प भी न तोडना चाहते थे।)

अन्त मे निम्नलिखित हृदयग्राही दृश्य उपस्थित हुआ, जिसका स्वामी शारदानन्द ने उल्लेख किया :—

"एक दिन (सन् १८८४ मे) रामकृष्ण अपने शिष्यो से वार्तालाप कर रहे थे। वह उनके सम्मुख वैष्णव धर्म के मूल सिद्धान्तो की व्याख्या कर रहे थे जिनमे 'सर्वभूत दया' भी एक मूल सिद्धान्त है। 'यह समस्त ससार कृष्ण का है। इस सत्य को अपने हृदय के अन्तरतम मे अनुभव करो, और सब प्राणियो पर दया करो।' 'सब प्राणियो पर दया करो' उन्होंने यह वाक्य दोहराया और समाधिस्थ हो गए। बाद में प्रकृतिस्थ होने पर अस्फुट स्वर मे कहने लगे .सर्व भूत दया।...दया .दया! ओ! क्षुद्रादपि क्षुद्र जीव! तुझे लज्जा नहीं आती! तुम दया करने वाले कौन होते हो? नही! नही! दया असंभव है। उन्हे शिव समझकर उनकी सेवा करो।... .'

वह संसार को शिक्षा देने के लिए, उन्हे ससार मे रखते थे। परन्तु पहले उन्हे स्वय शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता थी, उन्हे अपनी तथा अपने चारो ओर रहने वाले मनुष्यो की प्रकृति और उन सबके अन्दर व्याप्त रहने वाले भागवत तत्त्व की पूर्ण जानकारी प्राप्त करना जरूरी था। उनमे से अधिकाश ने निरन्तर क्रमिक कठिन परिश्रम द्वारा ही उस ज्ञान को प्राप्त किया था। कारण यह ज्ञान उन्हे अपने ही परिश्रम द्वारा प्राप्त करना था, यद्यपि आवश्यकतावश वे गुरु की स्नेहमय सहायता भी ले सकते थे। परन्तु गुरु अपनी इच्छा को कभी उन पर जवर्दस्ती न लादते थे, वे केवल मार्ग प्रदर्शन द्वारा ही उनकी सहायता करते थे। प्राथमिक मञ्जिलो मे जब शिष्यगण स्वय अपने चरित्र का निर्माण करते थे, तब केवल कुछ विशेष अपवादो को छोडकर[1] वे उनकी इच्छा मे किसी प्रकार का दखल

"वाद मे नरेन्द्र (विवेकानन्द) ने अन्यान्य शिष्यो के साथ बाहर आकर उन्हे इन शब्दो का गम्भीर अर्थ, जिसे वह पूरी तरह न समझ पाए थे, समझाया। उसने सेवा के सिद्धान्त के प्रकाश मे उन्हे उनका अर्थ वतलाया, कि लोकोपकारी सेवा द्वारा ही भगवान् के उत्कृष्ट प्रेम की प्राप्ति होती है।"

१ यद्यपि सर्वदा नही, तथापि साधारणतया वे ऐसा करने से इनकार कर देते थे। (उन्होंने विवेकानन्द पर किस प्रकार विजय प्राप्त की, इसका विवरण आप आगे देखेंगे, परन्तु उस समय उस राजकीय शिकार को अपने वश मे करना अत्यन्त आवश्यक था, इसके अतिरिक्त विवेकानन्द ने काफी विरोध भी किया, जैसा कि हम आगे देखेंगे)। यद्यपि रामकृष्ण अपने शिष्यो की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखना चाहते थे, तथापि क्या वे हमेशा ऐसा करने मे सफल हो पाते थे ? वे असाधारण व अद्भुत यौगिक शक्तियो के अधिकारी थे। परन्तु वह उनका कम से कम प्रयोग करते थे, क्योकि वे रहस्यमय तरीको को घृणा की दृष्टि से देखते थे, और अलौकिक चमत्कारो के पूर्ण विरोधी थे। अलौकिक चमत्कारो को वे असभव न मानते थे, परन्तु उन्हे निरर्थक व हानिकारक समझते थे। ईसा के समान ही वे उनसे घृणा करते थे। तथाकथित अलौकिक शक्तियाँ उनकी दृष्टि मे आध्यात्मिक पूर्णता के मार्ग मे वाधक थी। यह आध्यात्मिक पूर्णता उनके अनुसार हृदय के विकास का स्वाभाविक फल होनी चाहिए, परन्तु क्या उनका उपर्युक्त शक्तियो पर इतना आधिपत्य था कि वे कभी भी उन यौगिक शक्तियो का प्रयोग न करते ? तुलसी (निर्मलानन्द) के साथ उनका तव तक साक्षात्कार न हुआ था। वह बरामदे मे वैठकर उनकी प्रतीक्षा कर रहा

न देते थे। वे केवल अपने अन्तर्वर्ती सूर्यालोक से उन्हे पुष्ट करते थे और इस प्रकार उनकी शक्ति की दसगुनी वृद्धि कर देते थे। साधारणतया जब शिष्यगण

था, उसने देखा कि उसके पास से एक आदमी अस्थिर गति से तन्मय अवस्था मे गुजर गया है। इस आदमी ने (यह रामकृष्ण थे) बिना रुके ही उसकी तरफ एक दृष्टि-निक्षेप किया। तुलसी के हृदय मे एक सरसराहट का अनुभव हुआ, और वह एक क्षण के लिए जड़वत् रह गया।—तारक (शिवानन्द) ने जब रामकृष्ण को देखा तो वे एकदम निश्चल व शान्त थे, प्रभु की दृष्टि उस पर पडते ही वह फूट-फूटकर रोने लगा और उसका अङ्ग-अङ्ग कांपने लगा।—प्रथम साक्षात्कार के समय ही कालीप्रसाद (अभेदानन्द) ने रामकृष्ण को स्पर्श किया, और उन्हें छूते ही उसके समस्त देह मे शक्ति की एक लहर दौड गई।

अन्यान्य अनेक समय ठाकुर अपनी इच्छापूर्वक अपने शिष्यो के अन्दर आन्तरिक शक्तियों को जागृत व उद्‌बुद्ध करते प्रतीत होते थे। जब वह यह देखते थे कि शिष्य अपनी इच्छानुसार पूर्णतया प्रयत्न कर रहे हैं तो वह उनकी सहायता करते थे। इसलिए जब उन्होंने देखा कि लाटू (अद्‌भुदानन्द) भक्ति की प्रवलता मे अपने-आपको नि:शेप किए दे रहा है तो उन्होंने माँ से प्रार्थना की कि वह उसकी पवित्र इच्छा पूर्ण कर दे और उसके कुछ ही दिन बाद ध्यान करते हुए लाटू समाधिस्थ हो गया।—जब सुबोध (सुबोधानन्द) ने दूसरी वार उनके दर्शन किए, तव उन्होंने उसके वक्ष को स्पर्श करते हुए कहा—"जागो, माँ, जागो!" और अपनी अगुलि से उसकी जिह्वा पर कुछ लिख दिया। सुबोध ने अनुभव किया कि जैसे उसकी अन्तर्वर्ती सत्ता से कोई ज्योतिष्तरङ्ग उसके मस्तिष्क की तरफ उठ रही है, देवी-देवताओ की मूर्तियाँ विद्युत् रेखा के समान एक क्षण के लिए चमक कर अनन्त मे विलीन हो गईं। उसे अपने व्यक्तित्व का कोई बोध न रहा। परन्तु दूसरे ही क्षण रामकृष्ण ने उसे पुन: जागृत कर दिया, और वे स्वय भी उसकी इस आकस्मिक प्रवल प्रतिक्रिया को देखकर विस्मित रह गए।—गङ्गाधर (अखण्डानन्द) का हाथ पकडकर रामकृष्ण उसे काली के मन्दिर मे ले गये और बोले—"जीवित शिव के दर्शन करो।" और गङ्गाधर को साक्षात् शिव के दर्शन हो गए।

परन्तु पाठको को किसी भ्रान्त धारणा से बचने के लिए सावधान रहने की आवश्यकता है। रामकृष्ण कभी अपने शिष्यो मे किसी ऐसे विचार व

अपने स्वतन्त्र प्रयत्नो द्वारा वीरतापूर्वक सारी चढाई पार करके शिखरवर्ती मञ्जिल के आनन्द को प्राप्त कर लेते थे, केवल तभी रामकृष्ण उनके ऊपर अन्तिम आलोकपात करने के लिए सहमत होते थे। उस समय एक छोटी-सी

दिव्य दर्शन की कल्पना को जवर्दस्ती न लादते थे, जो कि पहले से उनके अन्दर मौजूद न होते थे, अपितु वह केवल उन्हे उद्‌वुद्ध कर देते थे। जिनकी वुद्धि वृत्ति प्रवल होती थी, उन्हे दिव्य दृष्टिलाभ करने की चेष्टा से वे स्वय पहले ही विरक्त कर देते थे। जब वावूराम (परमानन्द) ने, जिसे वे वहुत प्यार करते थे, उनसे समाधि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की, तो जगन्माता ने उन्हे सावधान कर दिया कि वावूराम को ज्ञानयोग की प्राप्ति हो सकती हैं, भावयोग की नही।—वालक शरच्चन्द्र (शारदानन्द) से, जो कि उनका एक महान् वुद्धिवृत्ति सम्पन्न शिष्य होने वाला था, उन्होंने पूछा, "तुम परमात्मा को किस रूप मे प्राप्त करना चाहते हो ? जब तुम ध्यान करते हो तो क्या दृश्य देखते हो ?" शरच्चन्द्र ने उत्तर दिया : "दृश्य देखने के लिए मेरा कोई आग्रह नही है। जव मैं ध्यान करता हूँ तो परमात्मा के किसी विशेष रूप व मूर्ति का ध्यान नही करता। मैं पृथ्वी के प्रत्येक प्राणी मे उसे ही प्रकट हुआ देखना चाहता हूँ।" रामकृष्ण ने मुस्कराकर कहा : "किन्तु यह तो आध्यात्मिकता का अन्तिम शब्द है। तुम प्रारम्भ मे ही इसे प्राप्त नही कर सकते।" शरच्चन्द्र ने उत्तर दिया—"मैं इससे लेशमात्र भी कम से सन्तुष्ट नही हो सकता।"

यहाँ तक कि, अत्यन्त अनुभूतिशील व्यक्तियो के लिए भी दृष्टिगत उपलब्धि एक मञ्जिल मात्र थी, जिसे अतिक्रम करके उन्हे आगे वढना था। अभेदानन्द ने ध्यानावस्था मे देवी-देवताओ के दर्शन करने के वाद, एक दिन उन सव मूर्तियो को एक ज्योतिर्मय मूर्ति मे विलीन होते हुए देखा। तव रामकृष्ण ने उससे कहा कि अव भविष्य मे उसे यह दृष्टिगोचर न होगे, उसने उस मञ्जिल को पार कर लिया है। और वास्तव मे ही उस दिन के वाद से अभेदानन्द को एक असीम व अनन्त चेतना के अतिरिक्त और किसी वस्तु की उपलब्धि न होती थी, और इस चेतना द्वारा ही वह अन्त मे निराकार ब्रह्म तक पहुँच गया। एक दिन जव रामकृष्ण ने सुना कि कोई एक व्यक्ति वावूराम को गुरु से कुछ विशेष सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए प्रेरित कर रहा है तो रामकृष्ण ने वावूराम को अपने पास बुलाकर, तिरस्कारपूर्वक कहा : "तुम मेरे पास से और क्या चाहते हो ! क्या जो कुछ

वस्तु, एक शब्द, एक दृष्टि, एक स्पर्श ही पर्याप्त होता था, जो करुणा की विद्युत् धारा के समान कार्य करता था, परन्तु केवल उन्ही आत्माओ पर जो कि पहले ही ऊर्ध्वलोक मे पहुँच चुकी होती थी। किसी नये ज्ञान का आविष्कार न होना था,[1] परन्तु इससे पूर्व ही वे जो कुछ जान चुके होते थे, जो ज्ञान का भण्डार

मेरे पास है, वह तुम्हारा नही है? मैंने जो कुछ भी उपलब्धि के रूप मे प्राप्त किया है, वह सब तुम्हारे ही लिए है। यह लो चावी, ताला खोल लो, और सब कुछ ले लो।"

परन्तु उन्होंने वेदान्ती हरिनाथ (तुरीयानन्द) को कहा: "यदि तुम सोचते हो कि तुम मुझसे दूर रहकर परमात्मा को ज्यादा अच्छी तरह प्राप्त कर सकते हो, तो जाओ! मेरी तो एकमात्र यही इच्छा है कि तुम इस पार्थिव दु:ख-यंत्रणा से अपने आपको ऊँचे उठाकर दिव्य आनन्द का उपभोग करो।"

और इस प्रकार रामकृष्ण हजारो तरीको से अपने तरुण शिष्यो को सत्य धर्मानुभूति के पथ पर चलाने, व उनके अन्दर सत्यतम व उच्चतम व्यक्तित्व का विकास करने के लिए अपने समस्त प्रभाव का उपयोग करते थे। वे उन्हें अपने वश मे करने की बात कभी स्वप्न मे भी न सोचते थे। वे अपने आपको उन्हें सौंप देते थे। "तुम्हे मेरे प्रति आत्मसमर्पण कर देना चाहिए" यह बात वे न कभी सोचते ही थे और न कभी कहते थे। ईसा और रामकृष्ण के पथ-प्रदर्शन मे यही एक मुख्य अन्तर है।

(उपरोक्त प्रसंग के लिए 'श्री रामकृष्ण जीवनी', पृ० ४७५, ४८८, ६०४, ६०६ और ६१५ देखिए।)

रामकृष्ण अपने परिपार्श्वस्थ व्यक्तियो पर किस प्रकार अपनी वैयक्तिक चेष्टाओ द्वारा प्रभाव डालते थे, इस पहलू पर मैंने अपने पाश्चात्य पाठक-गण के लिए ही जोर देने की आवश्यकता अनुभव की है। पूर्वदेशीय पाठको की दृष्टि मे उनका जो महत्त्व है, वह मैं यहाँ नही दे रहा हूँ। इस सम्बन्ध मे मैं शरच्चन्द्र (शारदानन्द) की सम्मति से सहमत हूँ: "हमे और चाहिए। हम थोडे से सन्तुष्ट नही हो सकते।" आत्मा के सम्मुख प्रकट होने वाली साक्षी के मुकाबिले मे आँखो की साक्षी अत्यन्त तुच्छ है।

१. जिन सब शिष्यो को यह अनुभव प्राप्त हुए हैं—उनमे से कुछ श्रेष्ठतम बुद्धिवादी इस समय भी जीवित हैं—और वे इस बात के साक्षी हैं कि इस मे उस सम्मोहन शक्ति का लेशमात्र भी कोई आभास नही था, जो कि

उन्होंने धीरे-धीरे सचित किया होता था, वही एक क्षण मे स्पर्शगोचर एव जीवित सत्य मे परिणत हो जाता था। "उस समय तुम यह उपलब्धि कर सकते हो कि तुम्हारे अपने व्यक्तित्व की तरह प्रत्येक वस्तु परमात्मा मे ही रहती है। जो कुछ भी विद्यमान है, तुम उसकी इच्छा-शक्ति व चेतना मे परिणत हो जाते हो। तुम्हारी इच्छा विश्व की इच्छा बन जाती है।. "[1]

इच्छा-शक्ति के ऊपर किसी बाहरी चेतना द्वारा शर्तों का आरोप करके इच्छा-शक्ति को विनष्ट कर देती है। अपितु यह एक पुष्टिकारक व उत्तेजक औषधि के समान प्रभावकारी था। इसके प्रभाव से मनुष्य अपने ही आदर्शों को स्पष्टतर रूप से देखने लगते थे। वर्तमान मठाध्यक्ष स्वामी शिवानन्द ने मुझे लिखा :—

"रामकृष्ण अपनी आध्यात्मिक शक्ति को दूसरो के अन्दर सचारित करके उन्हे ऊर्ध्वतम चेतना तक पहुँचा देने की शक्ति रखते थे। वह अपने विचार की शक्ति व स्पर्श द्वारा यह कर देते थे। हममे से अनेको को अपनी अपनी योग्यता के अनुसार चेतना के ऊर्ध्वतर स्तरो पर पहुँचने का सुयोग प्राप्त हो चुका है। यह किसी प्रकार की सम्मोहनावस्था न थी और एक गभीर निद्रा की अवस्था भी न थी। स्वय मुझे भी उनकी इच्छा व स्पर्श की सहायता से तीन बार उच्च आध्यात्मिक चेतना लाभ करने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। उनकी महान् आध्यात्मिक शक्ति की साक्षी देने के लिए मैं अब भी जीवित हूँ।"

योरोप के जो विद्वान्, रहस्यपूर्ण मनोविश्लेषण की समस्याओ के अध्ययन मे व्यस्त हैं, उन्हे समय रहते इन जीवित साक्षियो के सम्पर्क में आना चाहिए। मैं फिर दोहराना चाहता हूँ कि मुझे इन सब घटनाओ के सम्बन्ध में जिनकी आन्तरिक सत्यता असन्दिग्ध है, कोई कौतूहल नही है, तथापि मैं अपना कर्त्तव्य समझकर ही उनका यहाँ वर्णन कर रहा हूँ। कारण, वे सब सच्चे विश्वास व विश्लेषणात्मक बुद्धि की बाड के अन्दर सुरक्षित हैं। महान् धार्मिक अन्त अनुभूति (Intuition) के तथ्य मे ही मेरी अधिक दिलचस्पी है, जो 'गुजर चुका है' उसकी अपेक्षा 'जो हो रहा है,' और जो कुछ थोडे-से चुने हुए व्यक्तियो को ही सुप्राप्य है, उसकी अपेक्षा जो सभी व्यक्तियो के अन्दर विद्यमान है व हमेशा विद्यमान रह सकता है, उसमे ही मेरी अधिक रुचि है।

१ इसका यह अर्थ है कि हम विश्व की इच्छाशक्ति को ही अभिव्यक्त करते हैं, न कि अपनी इच्छाशक्ति को इसके ऊपर लादने की चेष्टा करे।

यह उपलब्धि, अन्तिम मजिल है। कारण, इस सामयिक अभिव्यक्ति के परे ही परम उपलब्धि, परमात्मा के साथ एकात्मकता, जो निर्विकल्प समाधि मे प्राप्त होती है, रहती है। परन्तु वह अवस्था केवल उन्ही मनुष्यो के लिए सुरक्षित है, जिन्होंने जीवन मे अपने आदर्श को पा लिया है। यह सबसे अन्तिम तथा निषिद्ध आनन्द है, कारण रामकृष्ण जैसे केवल कुछ विशेष अपवादो को छोडकर उस अवस्था से पुनरावृत्ति नही होती। अपने शिष्यो के अनेक आग्रह व अनुरोध करने पर भी वे उन्हे इस अवस्था का आस्वाद न लेने देना चाहते थे, क्योकि वे अभी इसके अधिकारी न थे। वे खूब अच्छी तरह जानते थे कि वह सब 'लवण मूर्तियाँ' समुद्र की प्रथम लहर के स्पर्श मे ही विलीन हो जाएँगी। जो परम सत्ता के साथ एकात्मता प्राप्त करना चाहता है, उसे वापसी का टिकट मिल जाना एक आश्चर्य की ही वस्तु है !

इसलिए उनके शिष्यो को उस अन्तिम मजिल से पूर्व जिसमे कि समस्त सत्ता के साथ एकत्व बोध होता है, पूर्ववर्ती मजिल मे ही इस ससार मे रहना पडा।[2] ठीक-ठीक कहा जाय तो यह प्रकाशलाभ करने की मजिल है, जिसके लिए हम सब इच्छा कर सकते हैं, व अपने प्रयत्नो द्वारा उसे प्राप्त कर सकते हैं, और अन्य व्यक्तियो का भी उसकी प्राप्ति के लिए प्रथप्रदर्शन कर सकते हैं।

और हमारे पश्चिम की वे स्वतन्त्र विचारक महान् आत्माएँ भी जिन्होंने कि तर्क व प्रेम द्वारा प्राणिमात्र के साथ एकत्व की उपलब्धि की है, इससे भिन्न और क्या करती हैं ? क्या हमारे उन सब प्रयत्नो, हमे प्रेरणा देनेवाले उन सब मानसिक आवेगो, और हमारे उस गभीर विश्वास का, जिसके द्वारा कि हम जिदा हैं, और मनुष्यो के बीच घृणा तथा हिसा के रक्त-समुद्र से अपने चरणो के तलवो को भी बिना डुबोये पार हो रहे हैं, यही अविराम लक्ष्य नही है ? क्या हमारी यही एकमात्र कामना, एकमात्र दृढ विश्वास नही है, कि जल्दी व देर से कभी न कभी वह अवस्था—जिसमे सब राष्ट्रो, जातियो व धर्मो की एकता स्थापित होगी, अवश्य आएगी ? और क्या इस बारे मे हम सब, अज्ञातरूप मे ही सही, रामकृष्ण के शिष्य नही हैं ?

---

२ "यह ससार कर्मभूमि है, जिसमे मनुष्य उसी प्रकार काम करने के लिए आता है, जिस प्रकार आस-पास के गाँवो से कलकत्ता नगरी मे लोग काम करने के लिए आते हैं।" (श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, द्वितीय भाग, पृ० १४७।)

(स्वामी विवेकानन्द ने गुरु के जीवनकाल में ही निर्विकल्प समाधि अवस्था प्राप्त कर ली थी। और उनके कुछ अन्य शिष्यो ने यह सिद्धि प्राप्त न की थी, यह भी कहना सम्भव नही है—प्रकाशक का मन्तव्य)।

१० | प्रिय शिष्य नरेन्द्र

परन्तु रामकृष्ण के ऊपरली मजिल के इन भारतीय शिष्यो मे, जिन्होंने बाद मे जैसा कि मैं आगे दिखलाऊँगा, अपने विश्वास व कर्मों द्वारा ख्याति प्राप्त की, एक असाधारण शिष्य था, जिसके साथ रामकृष्ण ने भी असाधारण ही व्यवहार किया। इस युवक के रामकृष्ण को जानने से पूर्व ही, रामकृष्ण ने प्रथम दृष्टिपात मे ही यह समझ लिया था, कि वह कौन है, और क्या हो सकता है, और उसे मानव जाति के आध्यात्मिक नेता के रूप मे चुन लिया था। वह था नरेन्द्रनाथ दत्त, विवेकानन्द।

रामकृष्ण की प्रतिभा अन्तःअनुभूति द्वारा आत्माओ का निरीक्षण कर लेती थी। उसके लिए काल का कोई व्यवधान न था। वह एक फलक मे ही भविष्य की धारा को जान लेते थे। इसलिए विवेकानन्द को चर्मचक्षुओ से देखने से पूर्व ही उन्हे यह विश्वास हो गया था कि उन्होंने गर्भस्थित उस महान् शिष्य को देख लिया है।

मैं यहाँ उनके इस सुन्दर दिव्य-दर्शन का वर्णन देना चाहता हूँ। निस्सन्देह मैं साधारण तरीको व किसी मनोवैज्ञानिक की शैली से भी इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न कर सकता हूँ, परन्तु ऐसी व्याख्या निरर्थक है। हम जानते हैं कि एक शक्तिशाली दिव्य दर्शन, जो कुछ वह देखता है, उसे उत्पन्न कर देता है, व उस का निर्माण कर लेता है। गम्भीर अर्थों मे भविष्यद्रष्टागण, जिसका अभी तक जन्म नही हुआ है, परन्तु जो कि जन्म के तट पर स्पन्दित हो रहा है, उसी के वास्तविक जन्मदाता होते है। जो प्रचण्ड स्रोत धारा विवेकानन्द के विलक्षण भविष्य का निर्माण कर रही थी, वह पृथ्वी के गर्भ मे ही विलीन हो जाती, यदि रामकृष्ण की दृष्टि हथौडे के समान उसके गतिरोधकारी प्रस्तर को चूर-चूर करके उसकी आत्मा की नदी के प्रवाह के लिए प्रशस्त मार्ग का निर्माण न कर देती।

"एक दिन मैंने समाधि मे देखा कि मेरा मन एक आलोकित पथ पर ऊपर

ही ऊपर उडा चला जा रहा है। वह जल्दी ही नक्षत्र-लोक को पार करके विचारो के सूक्ष्मतर क्षेत्र मे प्रविष्ट हो गया। वह जैसे-जैसे ऊँचे-ऊँचे चढने लगा, मार्ग के दोनो तरफ मैंने देवी-देवताओ की भावात्मक मूर्तियाँ देखी, तब मेरा मन उस क्षेत्र की वाह्य सीमा पर पहुँच गया, जहाँ पर एक ज्योति प्राचीर 'परम' सत्ता के क्षेत्र से सापेक्ष सत्ता के लोक को पृथक् करती थी। उस प्राचीर को पार करके मन उस परात्पर लोक मे पहुँच गया, जहाँ पर किसी शरीरधारी व्यक्ति का अस्तित्व न था। देवतागण भी उस उत्कृष्ट लोक मे झांकने का साहस न करते थे, और अपने वहुत नीचे आसनो पर ही बैठने मे संतोष का अनुभव करते थे। परन्तु अगले ही क्षण मैंने देखा कि वहाँ पर सात पूज्य ऋषिगण समाधि लगाए बैठे हैं। हठात् मेरे मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह ऋषि-गण ज्ञान मे, पवित्रता मे, त्याग मे व प्रेम मे न केवल मनुष्यो को ही अतिक्रान्त कर गए हैं, अपितु देवताओ से भी आगे बढ गए हैं। मैं उनकी शक्ति से मुग्ध होकर उनकी महानता पर विचार कर ही रहा था, कि मैंने देखा कि इस अपृथकीकृत आलोकित लोक का एक अश घनीभूत होकर एक देवशिशु मे परिणत हो गया। उसके बाद देवशिशु एक ऋषि के समीप गया, और अपनी सुन्दर सुकोमल वाहुओ से उसके कण्ठ का आवेष्टन कर मृदु कण्ठ से वाते करता हुआ समाधि अवस्था से उसके मन को नीचे लाने लगा। इस जादू-स्पर्श ने शीघ्र ही ऋषि को अतिचेतन अवस्था से जगा दिया, और वह अपने अर्द्ध उन्मुक्त नेत्रों से उस आश्चर्यजनक शिशु को देखने लगा। ऋषि के चेहरे से ऐसा प्रतीत होता था कि यह वालक उसकी आँखो का तारा है। खुश होकर इस विचित्र वालक ने ऋषि से कहा . 'मैं नीचे जा रहा हूँ। तुम्हे भी मेरे साथ चलना होगा।' ऋषि चुप रहे, परन्तु उनके चेहरे से यह स्पष्ट था कि वह उससे सहमत हैं। वालक की तरफ देखते ही देखते वे पुन. समाधिस्थ हो गए। मैंने आश्चर्यचकित होकर देखा कि उनके शरीर और मन का एक खण्ड एक उज्ज्वल प्रकाश के रूप मे पृथ्वी पर अवतरित हो रहा है। नरेन्द्र को देखते ही मैंने पहचान लिया कि यही वह ऋषि है।"[१]

रामकृष्ण के यह न बतलाने पर भी कि वह बालक कौन था, हम उसका अनुमान कर सकते हैं। निस्सन्देह उन्होंने अपने शिष्यो के[२] सम्मुख यह स्वीकार

---

१ श्री श्रीरामकृष्ण जीवनी, पृ० ४३८।

२. शारदानन्द।

किया था कि वह वालक वे स्वय ही थे। और निश्चय ही वे अपने समस्त जीवन भर वैम्विनो[1] ही बने रहे, जिनके ओष्ठाधर निरन्तर माता का स्तन्यपान करते थे, और जिन्होंने अपने जीवनलक्ष्य को पूरा करने के लिए—जो लक्ष्य उनकी अपनी ही धारणा के अनुसार मनुष्य-जाति का नेतृत्व करने के लिए अपनी अपेक्षा एक योग्यतर व्यक्ति को ससार मे आने के लिए प्रेरित करना था,—केवल कुछ क्षण के लिए माता के वाहुवन्धन से अपने को मुक्त किया था।

उनका निर्णय सर्वथा उपयुक्त था। उसके लिए एक वलिष्ठ देह, पृथ्वी को कर्षण करने मे समर्थ वाहु, पर्यटन करने के लिए ताकतवर टाँगो, कार्यकर्त्ताओ की एक रक्षकसेना तथा उनको नियन्त्रण मे रखने वाले मस्तिष्क और समस्त विश्व के प्रेम से परिपूर्ण विराट् हृदय की आवश्यकता थी। रामकृष्ण के ज्वलन्त विश्वास ने जो मूर्त रूप धारण कर लिया, इससे न केवल उनकी दूरदर्शिता व उनकी इच्छा-शक्ति की समर्थता ही सिद्ध होती है, अपितु उससे यह भी सिद्ध होता है कि वंगाल देश की भूमि भी उद्यत होकर व्याकुल मन से उनके आह्वान की प्रतिक्षा कर रही थी। प्रकृति ने स्वय शिशु विवेकानन्द को जन्म देकर इस शताब्दी के वक्ष मे डाल दिया था। कारण उस प्रकार की आत्मा के जन्मग्रहण का उपयुक्त अवसर उपस्थित हो गया था।

और नरेन्द्र जैसे एक हठी, अशान्त और झञ्झा-विताडित नवयुवक मे, जैसा कि वह उस समय था, एक भविष्यत् नेता व अपनी आशा के सर्वथानुकुल प्रचार-दूत का एकदम दर्शन भी रामकृष्ण की असाधारण वुद्धिमत्ता का ही सूचक है।

रामकृष्ण और विवेकानन्द की प्रथम मुलाकात की कथा विस्तारपूर्वक वर्णन करने लायक है। अपनी इच्छा न होने पर भी जो दुर्निवार आकर्षण नरेन्द्र ने अनुभव किया था, और जिस आकर्षण के फलस्वरूप अपने शत-शत प्रतिरोव के वावजूद भी वह रामकृष्ण की इच्छानुसार उनसे मिलने के लिए वाघ्य हुआ था, इसे पढकर पाठकगण स्वय भी उसका अनुभव कर सकते हैं।

परन्तु इससे पूर्व जिस समय यह धूम्रकेतु रामकृष्ण के मार्ग मे प्रविष्ट होकर उसमे विलीन हो गया, उस समय की उस तरुण प्रतिभा का चित्रण आवश्यक है।[2]

---

१. इटैलियन नवजागृति के युग मे मेरी माता की गोदी मे शिशु ईसा के चित्र को 'वैम्विनो' नाम से पुकारा जाता है।

२ विवेकानन्द के प्राच्य व पाश्चात्य शिष्यो ने हिमालयस्थ अद्वैत आश्रम से चार खण्डो मे 'स्वामी विवेकानन्द की जीवनी' नामक जो वृहत् जीवनी प्रकाशित की है, उसी के आधार पर मैं यह विवरण दे रहा हूँ।

विवेकानन्द एक कुलीन क्षत्रिय परिवार के सदस्य थे। उनके समस्त जीवन मे युद्ध-परायण क्षत्रिय जाति की छाप पाई जाती है। १२ जनवरी, सन् १८६३ को कलकत्ते में उनका जन्म हुआ। उनकी माता एक उच्चशिक्षिता व राजकीय आनवान की महिला थी, जिनकी वीर आत्मा महान् हिन्दू महाकाव्यो द्वारा परिपुष्ट हुई थी।[1] विवेकानन्द के पिता विलासवैभव के वीच एक अस्थिर जीवन व्यतीत करते थे। उनकी मनोवृत्ति, अठारहवी शताब्दी के एक फ्रासीसी जागीरदार के समान, स्वच्छन्द थी, और वहुत कुछ वोल्टेयर से मिलती-जुलती थी।

शारदानन्द ने स्वरचित रामकृष्ण की जीवनी मे जो विशद वर्णन दिया है, उससे और विवेकानन्द की अमेरिकन शिष्या भगिनी क्रिस्टाइन की अप्रकाशित स्मृतिकथाओ से भी (जो कि कृपापूर्वक उन्होंने मुझे उपयोग के लिए दी थी) मैंने यहाँ कुछ अंश दिया है।

१ विवेकानन्द के ऊपर उनकी माता का प्रभाव सर्वदा स्मरणीय है। वह एक वडा जिद्दी व हठी लडका था, जिसके पालन-पोषण में उसकी माँ को वहुत कष्ट उठाना पडा था। तथापि विवेकानन्द के हृदय मे मृत्युपर्यन्त अपनी माता के लिए एक सुकोमल श्रद्धा का स्थान वना रहा। सन् १८९४ के अन्त मे उन्होंने अमेरिका मे भरी सभा मे अपनी माता के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित की थी। वे भारतीय नारी के सम्वन्ध मे व्याख्यान देते समय प्राय: अपनी माता के आत्मसंयम, पवित्रता, व उनके उच्च चरित्र की प्रशसा किया करते थे। वे कहते थे : "मेरी माता से ही मुझे अपने जीवन व कर्म की निरन्तर प्रेरणा मिली है।"

भगिनी क्रिस्टाइन के अप्रकाशित सस्मरणों से हम विवेकानन्द के माता-पिता के चरित्र की कुछ विशेषताओ को जान सकते हैं, जो कि विवेकानन्द की अमेरिका मे उसके साथ हुई वातचीत के सिलसिले मे उसने संगृहीत किए थे।

अपनी माता से विवेकानन्द ने राजकीय शानशौकत, अनेक वौद्धिक गुण, असाधारण स्मृति शक्ति, और नैतिक पवित्रता प्राप्त की थी।

अपने पिता से उन्होंने विचार शक्ति, कलात्मक अनुभूति, और दया का सवक सीखा था। उनके पिता उस युग के मनुष्य थे, जवकि पाश्चात्य प्रत्यक्षवाद (Positivism) ने भारतीय नवयुवको के हृदयो को अपनी वाढ मे वहा दिया था। इसके फलस्वरूप धर्म मे उनका विश्वास नष्ट हो चुका था। वह उसे अन्धविश्वास के अतिरिक्त और कुछ न समझते थे। वे

उनके हृदय मे जात-पाँत के प्रति उदासीनता का भाव था, कारण उनकी मनोवृत्ति उदार थी, और अपनी उच्चता के प्रति उनके हृदय मे एक हास्यमय चेतना थी। परन्तु उनके दादा ने जो कि एक समृद्धिशाली सुसस्कृत व्यक्ति थे, पच्चीस वर्ष की आयु मे ही अपनी पत्नी, बाल-बच्चो, ऐश्वर्य व मान-मर्यादा सबको लात मारकर 'जङ्गल' की शरण ले ली थी और सन्यास का व्रत धारण किया था। और उस दिन के बाद वे फिर कभी दिखाई नही दिये। ''

नवजागृति के कलाकार राजकुमार के समान विवेकानन्द का शैशव व किशोर काल व्यतीत हुआ था।[1] उसे जन्म से ही अनेक गुण प्राप्त हुए थे, और उसने अभ्यास द्वारा उन सबको विकसित किया था। उसके देह मे सिंह का पराक्रम व मृगशावक की चचलता थी। उसके देह का गठन मल्लयोद्धा के सदृश हृष्ट-पुष्ट था और वह असीम साहस से भरा हुआ था। वह सब शारीरिक व्यायामो का सिद्धहस्त मास्टर था। वह मुष्टियुद्ध करने, तैरने व नाव चलाने मे कुशल था और घुडसवारी का भी उसे शौक था। वह युवको का प्रिय और फैशन का निर्णायक था। वह सकीर्तन मे सुन्दर कलापूर्ण नृत्य करता था। उसका कण्ठस्वर मधुर था, इसी ने बाद मे रामकृष्ण को मुग्ध कर लिया था। उसने चार-पाँच वर्ष तक प्रसिद्ध हिन्दू व मुसलमान उस्तादो से गाने और बजाने की शिक्षा प्राप्त की थी। उसने स्वरलिपि की रचना की थी और भारतीय सगीत के विज्ञान व दर्शन के सम्बन्ध मे एक प्रामाणिक प्रबन्ध भी प्रकाशित किया था। वास्तव मे वह सगीत के बारे मे सर्वत्र एक प्रामाणिक विचारक समझा जाता था। उसके निकट सगीत मन्दिर[2] प्रवेश का तोरण द्वार था और परमात्मा के प्रासाद मे प्रवेश करने का पथ था। कालेज मे वह अपनी तीव्र बुद्धि के लिए विख्यात था। भौतिक विज्ञान, ज्योतिषशास्त्र, गणित विद्या, दर्शनशास्त्र एवं भारतीय अथवा पाश्चात्य भाषाएँ सभी के लिए उसका उत्साह एक समान

हाफिज की कविता और बाइबिल की कलात्मक रचना की प्रशसा किया करते थे। उन्होंने विवेकानन्द को न्यू टैस्टामैण्ट व ओल्ड टैस्टामैण्ट की तरफ निर्देश करते हुए विचित्र बात कही थी : "यदि कोई धर्म है तो वह इस पुस्तक मे है।" परन्तु वे आत्मा और परलोक मे विश्वास न करते थे। उनकी उदारता व दानशीलता फिजूलखर्ची की सीमा तक पहुँच जाती थी, और वे एक मुस्कराते और ससारी सशयवाद के शिकार प्रतीत होते थे।

१. अर्थात् इटैलियन नवजागृति के युग मे।

२. देवी सरस्वती का मन्दिर।

था। उसने अँगरेजी व सस्कृत कवियो का अध्ययन किया था। ग्रीन और गिवन के ऐतिहासिक ग्रन्थो का अच्छी तरह मनन किया था। फ्रासीसी राज्यक्रान्ति एव नैपोलियन की जीवनी ने उसके अन्दर एक नया जीवन भर दिया था। अन्यान्य अनेक भारतीय वालको के समान उसने वचपन से ही ध्यान करने का भी अभ्यास किया था। वह रात-रात भर जागकर 'इमिटेशन आफ जीसस क्राइस्ट' नामक पुस्तक व वेदान्त का अध्ययन किया करता था। दार्शनिक वादविवाद मे उसकी रुचि थी। तर्क, समालोचना, एव विचार विभेद करने का उसे एक प्रकार का नशा था, इसी से वाद मे वह विवेकानन्द नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह ग्रीक सौन्दर्य के साथ भारतीय व जर्मन विचारो का सपूर्ण समन्वय घटाना चाहता था। उसका सार्वभौमवाद, जीवन के सव रूपो के ऊपर आध्यात्मिक साम्राज्य स्थापित करने की दृष्टि से लियोनार्दो[1] और एलवर्टी[2] के स्तर पर पहुँच गया था। यही तक नही, इस सार्वभौमवाद को एक धार्मिक आत्मा तथा पूर्ण विशुद्धता का मुकुट भी पहना दिया गया था। इस तरुण युवक ने, जिसे कि जीवन की सव सुख-सुविधाएँ व विलास-सामग्रियाँ प्राप्त थी, और जो कि स्वभावतः स्वच्छन्द व आवेगशील था, जानवूझकर कठोर ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण किया था। किसी सम्प्रदाय से वद्ध हुए विना ही, तथा किसी धर्मविश्वास को ग्रहण करने से पूर्व ही उसके अन्दर यह भावना थी (यह भावना क्यो थी, इसके वारे मे मैं गंभीर युक्ति वाद मे दूँगा) कि देह और आत्मा की पवित्रता एक आध्यात्मिक शक्ति है—जिस आध्यात्मिक शक्ति की अग्नि जीवन के प्रत्येक पहलू मे प्रविष्ट होती है, परन्तु अल्पमात्र अशुद्धि से ही वह अग्नि वुझ जाती है। इसके अतिरिक्त एक महान् नियति की छाया उसके ऊपर पड रही थी। और यद्यपि वह इस नियति की दिशा से अभी अनभिज्ञ था तथापि वह उसके योग्य वनने व उसकी उपलब्धि करने के लिए प्रयत्नशील था।

गुणो की अनेकता एव विरोधी भावो की प्रवलता के कारण उसे अपने व्यक्तित्व के सुनिर्दिष्ट होने से पूर्व अनेक वर्षों तक आत्मा के कठिन द्वन्द्व मे से गुजरना पडा। सत्रह वर्ष की आयु से इक्कीस वर्ष की आयु तक (सन् १८८० से १८८४ तक) विवेकानन्द को निरन्तर तीव्रतर मानसिक व वौद्धिक सकटो की

---

१ लियोनार्दो :—इटली का विख्यात चित्रकार (१४५२-१५१६)।

—अनुवादक

२. एलवर्टी:—(१४०४-१४७२) इटली का विख्यात स्थपति, चित्रकार, कवि, दार्शनिक एव सगीतज्ञ।

—अनुवादक

शृङ्खला मे से गुजरना पडा और अन्त मे धार्मिक सुनिश्चितता द्वारा इन सकटो का अन्त हुआ।

पहले पहल वह जान स्टुअर्ट मिल के (Essays on Religion) (धर्म पर निवन्ध) को पढकर प्रभावित हुआ था। उससे फैशनेवुल ब्रह्मसमाजी क्षेत्र मे उसने जिस नीवरहित आशावादी ईश्वरवाद का महल खडा किया था, वह चकनाचूर हो गया। उसे प्रकृति मे पाप का चेहरा दृष्टिगोचर होने लगा और वह उसके विरुद्ध उठ खडा हुआ। परन्तु वह (अलव्रेख्त ड्यूरर[1] के समान) उवा देने वाले नैराश्य, एव पुरातन विषण्णता[2] से आत्मरक्षा करने मे असमर्थ था। उसने हर्वर्ट स्पेन्सर से पत्र-व्यवहार किया[3] परन्तु उसके सिद्धान्तो से भी उसे

---

१ अलव्रेख्त ड्यूरर—एक जर्मन चित्रकार व नक्काश (१४६१-१५२८)

—अनुवादक

२ अलव्रेख्त ड्यूरर रचित 'विषण्णता' के एक उत्कीर्ण चित्र की तरफ निर्देश है, जिसमे एक निराश देवदूत विज्ञान की विशृङ्खलता (Chaos) के वीच खडा हुआ विषाद की मूर्ति का प्रतिनिधित्व करता है। उसके विषाद का भाव असाधारण है और उसमे निरर्थक वौद्धिक अनुसधान से क्लान्त, विरक्त व विपण्ण एक आत्मा की ओर इङ्गित है।

३ ऐसा कहा जाता कि स्पेन्सर विवेकानन्द की दुस्साहसिक समालोचना को पढकर विस्मित रह गया और उसने उसकी अकाल विकसित दार्शनिक वुद्धि की वडी प्रशसा की। शारदानन्द के मतानुसार नरेन्द्र ने सन् १८८१ मे अपनी प्रथम परीक्षा से लेकर सन् १८८४ मे अपनी अन्तिम परीक्षा तक, जो कि हमारे यहाँ की लाइसन्सियेट की डिग्री के समान है, पाश्चात्य दर्शन का खूव अध्ययन किया। उसने दकार्ते, काण्ट, फीश्टे, स्पिनोजा, हीगल, शोपनहार, आगस्ट कोम्त और डार्विन आदि सव दार्शनिको के विचार पढे। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उसने इन सव लेखको के विचार उनके सम्वन्ध मे लिखित अगभीर साधारण पुस्तिकाओ द्वारा ही पढे थे, उनकी असली मूल पुस्तको का उसने अध्ययन नही किया। उसने कुछ दिन तक चिकित्साशास्त्र का भी अध्ययन किया, जिसमे मस्तिष्क व नाडी-सस्थान की रचना को विशेष रूप से पढा। पाश्चात्य "विश्लेपणात्मक एव वैज्ञानिक शैली ने उसे अपने वश मे कर लिया था, और इसलिए वह उसी शैली को हिन्दू धार्मिक विचारो के अध्ययन मे भी प्रयुक्त करना चाहता था।" (शारदानन्द।)

सन्तोष न हो सका। उसने अपने कालेज की उच्चकक्षा के छात्रो से विशेषतः व्रजेन्द्रनाथ शील से शङ्का समाधान का प्रयत्न किया।[१] उसने अपनी सब शकाएँ वृजेन्द्र के सम्मुख खोलकर रख दी, और सत्य की खोज मे उससे पथ-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना की। वृजेन्द्रनाथ शील की ही प्रेरणा से उसने शैली का अध्ययन किया और अपनी जलती हुई आत्मा को कवियो के सर्वेश्वरवाद[२] (Pantheism) की हवाई लहरो मे स्नान कराया। इसके बाद विवेकानन्द के इस तरुण परामर्शदाता ने उसे 'युक्ति-भगवान्' (God of reason) की सेवा के लिए आमत्रित किया। परब्रह्म की यह धारणा वृजेन्द्र की अपनी ही निराली सूझ थी। उसके युक्तिवाद (Rationalism) मे एक अद्भुत विशेषता थी। वह कहता था कि उसमे वेदान्त के विशुद्ध अद्वैतवाद, हीगल के परम विचार से सम्बन्वित तर्क (Dialectic of absolute idea) और फ्रान्सीसी क्रान्ति के सन्देश—समता, स्वाधीनता, व भ्रातृत्व इन सबका समावेश है। उसका विश्वास था कि "वैयक्तिकता" या "व्यष्टिवाद" का सिद्धान्त "पाप" है और समष्टि बुद्धि (Universal reason) ही "पुण्य" है। इसलिए यह परम आवश्यक है कि विशुद्ध बुद्धि (Reason) को प्रकट किया जाए। यह एक महान् आधुनिक समस्या है, और वृजेन्द्र क्रान्ति के द्वारा इसका समाधान करना चाहता था। वृजेन्द्र का क्रान्तिकारी शाही युक्तिवाद (Imperial Rationalism) विवेकानन्द की शासक प्रकृति के कुछ अशो को अपील करता था। परन्तु उसके प्रचण्ड विक्षुब्ध व्यक्तित्व को ऐसी सीमाओ में रुद्ध रखना समव न था। यद्यपि उसकी बुद्धि निस्सन्देह समष्टि बुद्धि अखण्ड की प्रभुता को स्वीकार करने और व्यक्तिवाद की अस्वीकृति को नैतिकता का आधार बनाने के लिए तत्पर थी, परन्तु उसका जीवन उससे

---

१. यह विख्यात मनीषी इस समय (मूल ग्रन्थ रचना के समय—अनुवादक) मैसूर विश्वविद्यालय मे वाइस चासलर हैं। वह भारतवर्ष के अन्यतम श्रेष्ठ पण्डित व दार्शनिक हैं। उन्होंने सन् १९०७ मे 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका मे प्रकाशित एक लेख मे अपनी स्मृति से विवेकानन्द के सम्बन्ध मे अनेक सस्मरण दिये हैं, जो कि बाद मे "स्वामी विवेकानन्द की जीवनी" नामक ग्रन्थ के प्रथम खण्ड मे १७२-१७७ पृष्ठ पर उद्धृत हुए हैं। कालेज मे वे विवेकानन्द से ऊँची श्रेणी मे पढते थे, परन्तु आयु मे विवेकानन्द इनसे बडे थे।

२ उसने वर्ड्सवर्थ का भी अध्ययन किया था। समस्त अँगरेज कवियो मे वर्ड्सवर्थ ही सुदूर प्राच्य कवियो के निकटतर प्रतीत होता है।

सहमत न था। वह विश्व के सौन्दर्य और उसके आवेगो से अत्यन्त आकृष्ट था। उसे उनके पृथक् करने का प्रयत्न एक जगली हिंस्र पशु को निरामिषाहारी वनाने के प्रयास के समान था। उसकी विषण्णता और वेदना और भी वढ गई। उसे विश्वव्यापी बुद्धि व एक रक्तहीन परमात्मा को भोजन के रूप मे देना एक परिहास के अतिरिक्त और क्या अर्थ रखता था ? वास्तविक हिन्दू होने के कारण, उसके लिए जीवन सत्य की सारवस्तु न होने पर भी, वह उसका सर्वप्रथम गुण था। इसलिए उसे परमात्मा के एक जीवित प्रकाश की, परब्रह्म के स्थूलरूप की, विधाता निर्मित पुरुष की—एक ऐसे धर्मात्मा गुरु की आवश्यकता थी, जो उसे यह कह सकता : "मैंने उसे (भगवान् को) देखा है। मैंने उसे छुआ है। मैं उसके साथ एकरूप हूँ।" तथापि योरोपियन विचारधारा मे पली हुई उसकी बुद्धि, और अपने पिता से विरासत मे प्राप्त की हुई उसकी आलोचक मनोवृत्ति ने उसके हृदय और इन्द्रियो की आकाक्षा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। रामकृष्ण के साथ उसके प्रथम साक्षात्कार की प्रतिक्रियाओ से वह विद्रोह स्पष्ट प्रकट हो जाता है।

अपने समकालीन समस्त युवक मनीषियो के समान वह भी केशवचन्द्र सेन के विशुद्ध प्रकाश से आकृष्ट हुआ था। वह उस समय अपने उच्चतम शिखर पर था, और नरेन्द्र को उससे ईर्ष्या होती थी। वह भी केशव वनना चाहता था। केशवचन्द्र के नवविधान के प्रति उसकी सहानुभूति स्वाभाविक थी, और उसने उसमे सहयोग दिया। नूतन ब्रह्मसमाज के सदस्यो की सूची मे उसका भी नाम दर्ज हो गया।[1] रामकृष्ण मिशन के अनुयायी प्राय यह कहते हैं कि विवेकानन्द ब्रह्मसमाज द्वारा प्रचारित ऐसे ऐकान्तिक सुधारो से जो कि सनातन हिन्दूधर्म के अत्यन्त श्रद्धेय विश्वासो के सर्वथा विरोधी हैं, कभी पूर्ण सहमत न हो सकते थे। परन्तु मैं इस वारे मे उनसे सहमत नही हूँ। युवक नरेन्द्र के दायित्वहीन चरित्र

---

१. स्वामी विवेकानन्द नाम से विख्यात होने के वहुत दिन वाद तक भी ब्रह्मसमाज की सदस्य सूची मे उसका नाम लिखा रहा। और उन्होंने अपने शिष्यो से कहा था कि उन्होंने अपना नाम कभी भी उक्त समाज की सूची से कटाया नही है। वाद मे जव उनसे पूछा गया—"क्या आप ब्रह्मसमाज के विरुद्ध आक्रमण करते हैं ?" उन्होंने उत्तर दिया—"कदापि नही।" वह ब्रह्मसमाज को हिन्दू-धर्म का ही एक उच्चरूप समझते थे। स्वामी विवेकानन्द की जीवनी, प्रथम खण्ड, ब्रह्मसमाज के सम्वन्ध मे लिखित ३८ परिच्छेद देखिए)। (वह साधारण ब्रह्मसमाज का सदस्य था, केशव के समाज का नही।—प्रकाशक)

के लिए सामूहिक विध्वंस मे एक विशेष आनन्द का अनुभव करना सर्वथा संभावित था, और वह ऐसा व्यक्ति न था, जो अपने नये साथियो का इस मूर्तिखण्डन के लिए तिरस्कार करता। केवल परवर्तीकाल मे ही, और वह भी बहुत अंश तक रामकृष्ण के प्रभाव के कारण वह हिन्दूधर्म के उन प्राचीन आचार व्यवहारो व विश्वासो को मानने व स्वीकार करने तथा उनके प्रति श्रद्धा व सम्मान का भाव प्रकट करने लगा था, जो कि दीर्घकालीन परम्परा से चले आ रहे थे, और हिन्दू जाति के जीवन मे घुलमिल गए थे।[1] परन्तु मेरा विश्वास है कि बिना कठिन संघर्ष के यह सभव नही हुआ। और रामकृष्ण से शुरू मे उसके पीछे हटने में यह बौद्धिक अविश्वास ही कारण था। जो भी हो, उस समय तरुण ब्रह्मसमाजियो ने जाति और धर्म के विचार को ताक मे रखकर, समस्त हिन्दू जनता की शिक्षा व एकता के लिए बगाल मे जो आन्दोलन चलाया, उसने उसमे पूर्ण सहयोग दिया। उनमे से कुछ नौजवान सनातन हिन्दू धर्म के विरुद्ध कठोर आक्रमण करने मे ईसाई मिशनरियो से भी आगे बढ़ गए थे। परन्तु नरेन्द्र की स्वतत्र व सजीव बुद्धि ने विकृत धार्मिक जोश से पागल सब समालोचको की मूर्खतापूर्ण संकीर्णता को शीघ्र ही अनुभव कर लिया, और उसकी आत्मा और उसके जातीय अभिमान को इसके ठेस पहुँची। वह अर्धपक्व पश्चिमीय ज्ञान के आगे भारतीय विद्याबुद्धि को सिंहासनच्युत करने के लिए सहमत न हो सका।[2] तथापि वह ब्रह्मसमाज की गोष्ठियो मे सम्मिलित होता रहा, परन्तु उसके हृदय मे शान्ति न थी।

इसके बाद उसने एक तपोमय जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। वह एक अँधेरे व सीलदार कमरे मे रहने लगा, जमीन पर बिछौना डालकर उस पर सोने लगा। उसके बिछौने पर चारो तरफ पुस्तकें बिखरी पड़ी रहती थी।

---

१ अपनी शक्तियो के परिपक्व हो जाने के बाद वे प्रायः कहा करते थे कि उनका सन्देश हिन्दू धर्म की अस्वीकृति नहीं है, अपितु उसकी परिपूर्णता है। वे आमूल सुधारो के पक्ष मे थे। तथापि वे चाहते थे कि यह सुधार अव्वसात्मक शैली से ही अमल मे लाए जाएँ। (पूर्वोक्त पुस्तक देखिए)

केशव के भी यह वास्तविक शब्द हैं—"हिन्दू सनातनता (Conservatism) का उदार भावना द्वारा प्रचार करो।" (इण्डियन एम्पायर, १८८४)

२ इससे यह प्रकट होता है कि नरेन्द्र ब्रह्मसमाज की ऐकान्तिक सुधार योजना से पूर्णत. सहमत न थे।—प्रकाशक

वह फर्श पर ही स्वय चाय बना लेता था और दिन-रात पढने व ध्यान करने मे मशगूल रहता था। उसके सिर मे असह्य, घातक पीडा होती थी, परन्तु वह अपनी प्रकृति के उन विरोधी आवेगो मे सामजस्य स्थापित न कर पाता था, जिनका पारस्परिक सघर्ष नीद मे भी उसका पीछा न छोडता था।

वह कहता है, "मेरी जवानी के शुरू से ही प्रतिदिन रात्रि मे जब मैं सो जाता था, मुझे दो स्वप्न आते थे। पहले स्वप्न मे मैं अपने-आपको पृथ्वी के उन श्रेष्ठतम मनुष्यो मे जिन्हे, सब प्रकार के ऐश्वर्य, सम्मान, शक्ति और यश प्राप्त हैं, बैठा हुआ पाता था और मैं अनुभव करता था मेरे अन्दर इन सब वस्तुओ को प्राप्त करने की शक्ति मौजूद है। परन्तु अगले ही क्षण दूसरे स्वप्न मे मैं देखता था कि मैं सब सासारिक ऐश्वर्यों का त्याग कर, एक कौपीन धारण कर भिक्षावृत्ति द्वारा अपना पालन करता हूँ और एक वृक्ष के नीचे मेरी शैया है। और मैं सोचता था कि प्राचीन ऋषियो की तरह इस प्रकार का जीवन भी मैं व्यतीत कर सकता हूँ। इन दोनो चित्रो मे से दूसरा चित्र विजयी रहता था। मैं अनुभव करता था कि इसी के द्वारा मनुष्य को परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है।.. और उसका पूर्वास्वाद लेकर मैं फिर सो जाता था ..रात यही स्वप्न पुनः नया होकर मेरे सामने आता था। "[१]

जिस समय वह अपने भावी गुरु से मिलने के लिए जा रहा था, जो कि उसके समस्त आगामी जीवन का अधिनायक था, उस समय नरेन्द्र की ऐसी मानसिक दशा थी। उस महानगरी मे, जहाँ भारत और योरोप का मेल होता है, उसने सब धार्मिक महापुरुषो[२] से एक-एक करके साक्षात्कार किया था, परन्तु उसे उससे शान्ति न मिल सकी। उसने व्यर्थ खोज की, आस्वाद लिया और फिर छोड दिया। इस प्रकार वह भटक रहा था..

उस समय उसकी आयु अट्ठारह वर्ष की थी, और वह विश्वविद्यालय की प्रथम परीक्षा की तैयारी कर रहा था। सन् १८८० के नवम्बर मास मे, रामकृष्ण के अन्यतम मित्र सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर पर (जो कि एक धनी करसग्रहीता थे और जिन्होंने भारतीय ईसाई धर्म मे दीक्षा ली थी) एक छोटे से उत्सव में नरेन्द्र ने एक सुन्दर धार्मिक गाना गया। इसी स्थान पर रामकृष्ण की वाज-

---

१ शारदानन्द-लिखित रामकृष्ण की जीवनी (दिव्य भाव) का अन्तिम खण्ड, तृतीय परिच्छेद।

२. ऐसा कहा जाता है कि उसने अन्तिम प्रयत्न देवेन्द्रनाथ ठाकुर के साथ किया था। देवेन्द्रनाथ ने उसके महान् गुणो को स्वीकार किया है।

दृष्टि ने नरेन्द्र की आत्मा की गहराई को भेद करके देखा और उसे चुन लिया।[1] उन्होंने नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर आने के लिए निमन्त्रित किया—

युवक नरेन्द्र अपने उद्दण्ड व छिछोरे मित्रो के एक दल के साथ वहाँ पहुँच गया। वह अन्दर आकर उपस्थित हुआ। उसके चारो तरफ क्या हो रहा है। इसकी तरफ कोई दृष्टिपात न करते हुए, अपने ही विचारो मे मग्न, वह आसन पर वैठ गया। रामकृष्ण ने गौर से उसकी तरफ देखते हुए उसे गाने के लिए कहा। नरेन्द्र ने आज्ञा का पालन किया। उसके गाने का स्वर इतना आकर्षक था कि रामकृष्ण जो कि नरेन्द्र के सदृश ही सगीत-प्रेमी थे, भावाविष्ट हो गए। मैं नरेन के ही शब्दो मे आगे की घटना का वर्णन करता हूँ .

"मेरा गान समाप्त होने पर वे एकदक उठ खडे हुए, और मुझे हाथ से पकडकर उत्तर की तरफ के वरामदे मे ले गए, और हमारे पीछे का दरवाजा वन्द कर दिया। हमारे समीप और कोई न था। हमे कोई देख भी न सकता था, .. मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जव मैंने उन्हे आनन्दविभोर होकर रोते देखा। उन्होंने मेरा हाथ पकडकर, जैसे मेरा पहले से ही उनसे दीर्घकाल से काफी घनिष्ठ परिचय हो, ऐसा भाव दर्शाते हुए स्नेहपूर्वक कहा : 'ओह ! तू इतनी देर करके आया है ! तू इतना निर्दय क्यो था, जो मुझे इतने दिन तक प्रतीक्षा करनी पडी ? मेरे कान और मनुष्यो की निरर्थक वाते सुनते-सुनते पक गए हैं। ओह ! मेरी कितनी साध है कि मैं अपने मन की कथा किसी ऐसे योग्य व्यक्ति के हृदय मे डाल सकूं, जो कि मेरे आन्तरिक अनुभवो को ग्रहण कर सके। ... ' कुछ देर तक सुवकियाँ लेने के बाद वे फिर मेरे सम्मुख हाथ जोडकर खडे हो गए और फिर कहने लगे : 'प्रभु ! मैं जानता हूँ कि तुम वही नारायण के अवतार प्राचीन ऋषि नर हो, और मनुष्यो के दु खो को दूर करने के लिए फिर पृथ्वी पर आये हो।'[2] मैं विस्मित रह गया। मैंने सोचा 'यह मैं क्या देख

---

१. रामकृष्ण ने वाद मे कहा—"मैंने उसके अन्दर देह के प्रति किसी प्रकार की ममता, कोई दम्भ व अहकर तथा वाह्य वस्तुओ के प्रति कोई आकर्षण नही देखा। और उसके नेत्र ! .....ऐसा प्रतीत होता था कि कोई शक्ति उसकी अन्तरात्मा को वश मे किए हुए है...और मैंने सोचा'''ऐसा मनुष्य कलकत्ते में कैसे रह सकता है।'......"

२ इस प्रकार अपने प्रलाप के प्रथम शब्दो में ही उन्होंने विवेकानन्द के लिए समाज-सेवा का आदर्श निर्धारित कर दिया जिसके लिए उसे अपना समस्त जीवन अर्पण करना था। यही आदर्श उसे भारत के अन्य ऋषियो से पृथक् करता है।

रहा हूँ ?' 'इसे होश मे लाना चाहिए। मैं विश्वनाथ दत्त की सन्तान हूँ, यह मुझे कैसे इस प्रकार कहने का साहस करता है ?... .' परन्तु मैं जाहिरा तौर पर चुप रहा, और उन्हे अपनी वात जारी रखने दी। वे फिर मेरा हाथ अपने हाथ मे लेकर बोले 'प्रतिज्ञा कर कि तू फिर जल्दी ही मुझे देखने के लिए अकेला आएगा।' ..."

इस अद्भुत आतिथेय के हाथ से शीघ्र मुक्ति पाने के विचार से नरेन्द्र ने आने का वायदा कर लिया, परन्तु अपने दिल मे उसने फिर कभी उधर न आने का निश्चय किया। इसके बाद वे बैठक मे लौट आये, जहाँ और सब बैठे थे। नरेन्द्र एक तरफ बैठ गया और ध्यानपूर्वक रामकृष्ण की तरफ देखने लगा। उसे उनके शब्दो व कार्यों मे कुछ भी विचित्र न मालूम हुआ, उसने उनके शब्दो मे एक अन्तर्वर्ती तर्क को देखा, और उसने यह अनुभव किया कि यह पूर्णत्याग और विस्मयकर सचाई के गम्भीर जीवन का ही फल है। उसने उन्हे कहते सुना (और ये शब्द नरेन्द्र के रात्रिकालीन अन्तर्द्वन्द्व का उत्तर थे):—"परमात्मा की उपलब्धि की जा सकती है। उसे उसी प्रकार देखा जा सकता है और उसके साथ उसी तरह बाते भी की जा सकती हैं, जिस प्रकार मैं तुम्हे देख रहा हूँ और तुमसे बाते कर रहा हूँ। परन्तु कौन ऐसा करने का कष्ट उठाता है ? मनुष्य, स्त्री, बच्चे और अन्य सासारिक पदार्थों के लिए आँसू बहाते हैं। परन्तु ईश्वर के प्रेम के लिए कौन रोता है ? किन्तु यदि कोई सचमुच उसके लिए रोता है तो वह अवश्य उसे दर्शन देगा।"[1]

और यह सर्वथा स्पष्ट था कि जो व्यक्ति यह कथा कह रहा है, उसके निकट

---

१. विवेकानन्द ने अपनी 'मेरे गुरुदेव' (My Master) शीर्षक वक्तृता मे (स्वामी विवेकानन्द का जीवन, प्रथम खण्ड, २१२ पृष्ठ देखिए) जो विवरण दिया है, उसमे कहा है कि उसने ही पहले रामकृष्ण से बात प्रारम्भ की थी, और उसने जो सनातन प्रश्न एक-एक करके अन्य साधको से पूछा था, वही उनसे भी पूछा था—"क्या आपने भगवान के दर्शन किये हैं ?" इस पर रामकृष्ण ने उत्तर दिया—"वत्स ! मैंने भगवान् को देखा है। मैं उसे इसी प्रकार देखता हूँ, जैसे कि मैं तुम्हे अपने सम्मुख देख रहा हूँ। केवल मैं भगवान् को एक तीव्रतर अर्थ मे देखता हूँ और मैं तुम्हे भी उसके दर्शन करा सकता हूँ।"

यह सभव है कि यह वार्तालाप विवेकानन्द के रामकृष्ण से अच्छी तरह परिचित हो जाने के किसी बाद की तारीख मे हुआ हो।

वह एक अर्थहीन प्रलापमात्र नही है, उसने उसके सत्य को स्वयं प्रमाणित कर देखा है : कुछ क्षण पूर्व नरेन्द्र ने जो दृश्य देखा था, उसके साथ वह अपने सम्मुख स्थित इस सरल शान्त ऋषि के चित्र का मेल न मिला सका। वह मन ही मन कहने लगा : "वह पागल है, परन्तु फिर भी साधारण मनुष्य नही है। समव है वह पागल हो, परन्तु फिर भी श्रद्धा के योग्य है।" विवेकानन्द इस विभ्रान्त मनोदशा मे ही दक्षिणेश्वर से वापस आ गया, और यदि उससे उस समय यह प्रश्न पूछा जाता कि उसका रामकृष्ण से क्या सम्बन्ध होगा, तो वह निश्चय यही उत्तर देता कि वह यथापूर्व ही रहेगा।

परन्तु इस विचित्र 'दर्शन' ने उसके ऊपर अपना असर प्रारम्भ कर दिया। एक महीने बाद वह पैदल चलकर दक्षिणेश्वर आया।

"मैंने उन्हे अकेला अपनी छोटी-सी शय्या पर बैठे देखा। मुझे देखकर वे प्रसन्न हुए और मुझे स्नेहपूर्वक अपने बिछौने पर एक तरफ अपने समीप बैठा लिया। परन्तु एक ही क्षण बाद मैंने उन्हें आवेग से कम्पित होते देखा। उनकी आँखें मेरी तरफ लगी हुई थी। और वह निरुद्ध नि.श्वास के साथ अस्फुट स्वर में कुछ कहते हुए मेरे निकटतर आते जा रहे थे। मैंने सोचा कि वे पहले की तरह ही कुछ पागलपन की बात कहेंगे। परन्तु इससे पूर्व कि मैं उन्हे रोक सकूं, उन्होंने अपना दायाँ पैर मेरे शरीर पर रख दिया। वह स्पर्श कितना भयानक था! मैं आँखे खोले-खोले ही देख रहा था, कि कमरे की दीवारे व उसके अदर की अन्य सब वस्तुएँ चक्कर लगा रही हैं, और धीरे-धीरे शून्य मे विलुप्त होती जा रही हैं।.. समस्त ससार, और मेरा अपना व्यक्तित्व भी उसी समय एक नामरहित शून्य मे लीन हो गया। यह शून्यता, मानो प्रत्येक वस्तु को अपना ग्रास बना रही थी। मैं डर गया और मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मृत्यु मेरे सामने खड़ी है। मैं भय से चिल्ला उठा, 'आप क्या कर रहे हैं? घर पर मेरे माँ-बाप हैं...' तब वे हँसने लगे और मेरी छाती पर अपना हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा : 'अच्छा! ठीक है। आज यही तक रहने दो। समय आने पर वह आ जावेगा।' उनके यह शब्द कहने के साथ ही वह सब विस्मयकर दृश्य लुप्त हो गया। मैं अपने-आप मे आ गया, और बाहर और भीतर सब चीजें पूर्ववत् हो गईं।"

मैंने यह आश्चर्यजनक विवरण बिना किसी निरर्थक टीका टिप्पणी के उद्धृत कर दिया है। पाश्चात्य विद्वान चाहे कुछ भी क्यो न सोचे, परन्तु वे भारतीय आत्माओ की इस संमोहन-शक्ति से चकित हुए बिना नहीं रह सकते, जो कि शैक्सपीयर के आवेगमय स्वप्नद्रष्टाओ का स्मरण कराती है। यहाँ यह भी ध्यान

देने योग्य है कि इस घटना मे स्वप्नद्रष्टा एक दुर्बल, सहजविश्वासी या आलोचना शक्ति से शून्य आत्मा न थी। उसने स्वय ही अपने इस दिव्य दर्शन के विरुद्ध विद्रोह किया। उसका प्रवल व्यक्तित्व, विपत्ति की गन्ध पाकर, सब प्रकार की समोहन क्रियाओ का घोरतर विरोधी हो गया था। और उसने अपने-आपसे सबसे पहला यही प्रश्न पूछा कि क्या वह किसी प्रकार के मैस्मरिज्म (वशीकरण) का शिकार तो नही हो गया है? परन्तु उसके ऊपर उसके कोई लक्षण दिखाई न देते थे। उसके ऊपर से जो तूफान अभी गुजर चुका था, उसके आघात से अभी तक कांपते हुए भी वह आत्म-रक्षा के लिए सतर्क हो गया। परन्तु केवल इस एक प्रचण्ड आघात के वाद शेष सब मुलाकात सामान्यरूप मे हुई। रामकृष्ण ने अपने अतिथि के साथ इस तरह व स्नेहपूर्ण घनिष्ठता का व्यवहार किया, मानो कोई घटना घटित नही हुई।

संभवत. इसके एक सप्ताह वाद जब नरेन्द्र तीसरी वार उनसे मिलने के लिए आया, तो उसने आत्मरक्षा की दृष्टि से अपनी समस्त विचार-शक्ति को जागृत किया हुआ था। उस दिन रामकृष्ण उसे एक पार्श्ववर्ती उद्यान मे ले गए। कुछ देर इधर-उधर टहलने के वाद वे एकान्त गोष्ठी भवन मे वैठ गए। शीघ्र ही रामकृष्ण भावाविष्ट हो गए। नरेन्द्र उनकी तरफ गौर से देख रहा था, कि अकस्मात् ही रामकृष्ण ने उसे छू दिया। तत्काल ही नरेन्द्र की समस्त बाह्य चेतना विलुप्त हो गई। कुछ देर वाद जब वह होश मे आया तो उसने देखा कि रामकृष्ण उसकी तरफ देख रहे थे, और उसकी छाती पर धीरे-धीरे प्रहार कर रहे थे।

वाद के दिनो मे गुरु ने अपने शिष्यो से कहा :—

"जब वह उस अवस्था मे था, तो मैंने उससे अनेक प्रश्न पूछे। मैंने उससे पूछा कि वह पहले कौन था, अव उसकी क्या अवस्था है, इस पृथ्वी पर उसका क्या लक्ष्य है, और वह कब तक जीवित रहेगा? उसने गभीर मे निमग्न होकर मेरे प्रश्नो का यथोचित उत्तर दिया। मैंने उसके वारे मे जो कुछ देखा व अनुमान किया था, इन उत्तरो से उसकी पुष्टि हो गई। यह चीजे गोपनीय हैं। किन्तु मुझे मालूम हो गया कि वह एक ऋषि है, जिसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त है और ध्यान की शक्ति पर उसका पूरा-पूरा अधिकार है। और जिस दिन वह अपनी सच्ची प्रकृति को जान जाएगा, वह अपनी इच्छा से ही शरीर का त्याग कर देगा।"[1]

---

१. श्री श्रीरामकृष्ण लीला प्रसग, पृष्ठ ४३६।

परन्तु उस समय रामकृष्ण ने नरेन्द्र को उस सम्बन्ध मे कुछ नही कहा। अलबत्ता! वह इस विशेष ज्ञान के आधार पर उससे व्यवहार करने लगे और नरेन्द्र को उनके शिष्यो मे एक विशेष स्थान प्राप्त हो गया।

परन्तु नरेन्द्र ने अभी तक शिष्य की उपाधि धारण न की थी। वह किसी का शिष्य न होना चाहता था। वह रामकृष्ण की अनधिगम्य शक्ति से चकित हो गया था। चुम्बक जिस प्रकार लोहे को अपनी तरफ खीच लेता है, उसी प्रकार इसने उसे अपनी तरफ खीच लिया था, परन्तु वह स्वयं एक सुदृढ धातु का बना हुआ था। उसकी बुद्धि किसी का प्रभुत्व न मानना चाहती थी। जब कि कुछ ही दिन पूर्व बुद्धिवादी बृजेन्द्रनाथ शील के साथ उसके सम्पर्क के समय उसके हृदय ने उसकी बुद्धि के विरुद्ध विद्रोह किया था, वहाँ अब उसकी बुद्धि उसके हृदय को सन्देह की दृष्टि से देखने लगी। वह अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखने और जो वस्तु उनकी बुद्धि द्वारा नियन्त्रित थी, उसके अतिरिक्त गुरु की अन्य किसी बात को भी न मानने के लिए दृढ-सकल्प था। अन्यान्य मनुष्यो का विचार शून्य विश्वास उसके हृदय मे घृणा उत्पन्न कर देता था।

अब इस नवीन शिष्य और प्राचीन गुरु[1] मे जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, उससे विचित्र अन्य सम्बन्धो की कल्पना नही की जा सकती। नवेन्द्र अश्रुप्रवाह आदि स्त्रीसुलभ दुर्बलता से युक्त भावप्रवण भक्ति से घृणा करता था। वह हरेक वस्तु को विचारपूर्वक देखता था। वह एक क्षण के लिए भी अपनी बुद्धि को सिहासनच्युत न देख सकता था। अकेला वही ऐसा शिष्य था, जो कि रामकृष्ण के प्रत्येक शब्द को तोलता था, सदेह की दृष्टि से देखता था। परन्तु रामकृष्ण भी उत्तेजित व क्रुद्ध होने के स्थान पर इस बात के कारण उसे उतना ही अधिक चाहते थे। नरेन्द्र से मिलने से पूर्व रामकृष्ण को इस प्रकार प्रार्थना करते हुए सुना गया था :—

"माँ, मैंने जो कुछ उपलब्धि की है, उसमे सन्देह करने वाले किसी व्यक्ति को मेरे पास भेज दे।"

माँ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। नरेन्द्र जिस प्रकार हिन्दू देवी-देव-

---

१: नरेन्द्र रामकृष्ण के साथ पाँच वर्ष तक रहा, परन्तु इस काल मे कलकत्ता मे भी उसका अपना एक घर था। वह सप्ताह मे एक या दो बार दक्षिणेश्वर जाता था, और कभी-कभी चार-पाँच दिन तक भी अपने गुरु के पास ठहर जाता था। यदि वह कभी एक सप्ताह तक बाहर रहता तो रामकृष्ण उसे बुला भेजते।

ताओ को अस्वीकार करता था, उसी प्रकार वह अद्वैतवाद का भी विरोधी था। वह अद्वैतवाद को अनीश्वरवाद कहकर पुकारता था।[1] वह हिन्दू धर्मशास्त्रो के आदेशो का खुले तौर पर मजाक उडाता था। उसने रामकृष्ण से कहा : "यदि लाखो मनुष्य आपको परमात्मा कहें, परन्तु यदि मुझे स्वय उसका प्रमाण नही मिलता तो मैं कभी आपको वैसा न कहूँगा।"

रामकृष्ण ने हास्यपूर्वक नरेन्द्र का समर्थन किया, और अपने शिष्यो से कहा :

"किसी भी वस्तु को केवल मेरे कहने के कारण स्वीकार न करो। स्वय प्रत्येक वस्तु की परीक्षा करो।"

नरेन्द्र की तीव्र आलोचना, और उसके आवेगमय तर्क उन्हे आनन्द से मग्न कर देते थे। नरेन्द्र की उज्ज्वल तर्कबुद्धि, और सत्य के अनुसन्धान के लिए उसकी अथक निष्ठा के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा थी, वे उसे शैव शक्ति का प्रकाश मानते थे और कहते थे कि यह शक्ति ही अन्त मे माया को पराभूत करेगी। वह कहते थे :—

'देखो! देखो! कैसी अन्तर्भेदी दृष्टि है! यह एक प्रज्वलित अग्निशिखा है, जो कि समस्त अपवित्रताओ को भस्म कर देगी। महामाया, स्वय भी उसके पास दस कदम के अन्दर तक नही घुस सकती। उसने उसे जो महिमा दी है, उसकी शक्ति ही उसे पीछे रोके रखती है।"

नरेन्द्र का ज्ञान देखकर रामकृष्ण की प्रसन्नता इतनी तीव्र हो उठती थी कि वे बीच-बीच मे भावाविष्ट हो जाते थे।

तथापि कभी-कभी जब उसकी आलोचना दूसरो का कोई ख्याल न करते हुए कठोर भाव से प्रयुक्त होती थी, तो उससे वृद्ध रामकृष्ण को दु.ख अनुभव होता था। नरेन्द्र ने रामकृष्ण के मुँह पर ही कहा :—

"आप कैसे जानते हैं कि आपकी उपलब्धियाँ केवल आपके अस्वस्थ मस्तिष्क की ही उपज या केवल दृष्टिभ्रम मात्र नही हैं?"

रामकृष्ण खिन्न होकर सान्त्वना प्राप्त करने के लिए वहाँ से उठकर माँ के चरणो मे नतजानु होकर प्रार्थना करने लगे। माँ ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा :—

"धैर्य रखो! जल्दी ही नरेन्द्र की आँखें खुल जाएँगी।"

---

१. यह ब्रह्मसमाज की मनोवृत्ति है।

कभी-कभी जब वे नरेन्द्र व अन्य शिष्यो के बीच कभी समाप्त न होने वाले वाद-विवाद से तङ्ग[1] आ जाते तो वे माँ से प्रार्थना करते :—

"माँ! नरेन्द्र को अपनी थोडी सी माया दे दे, जिससे उसका बुद्धिविकार कुछ कम हो जाए और उसका हृदय भगवान् को छू सके।" परन्तु विवेकानन्द की यन्त्रणा-कातर आत्मा आर्तनाद कर उठी—"मुझे भगवान् नही चाहिए। मुझे शान्ति की इच्छा है—अर्थात् परम सत्य, परम ज्ञान, परम असीमता की इच्छा है।"

वह यह नही देखता था कि उसकी यह इच्छा ही बुद्धि की सीमा से परे है, और उसके हृदय की निश्चित युक्ति शून्यता को प्रकट करती है। उसके मन को भगवान् के सम्बन्ध मे प्रमाण द्वारा सन्तुष्ट करना सभव न था। भारतीयो के समान ही वह कहता था :—

"यदि भगवान् वस्तुतः सत्य है तो उसका प्रत्यक्ष करना भी सभव है।"

परन्तु धीरे-धीरे उसे यह मालूम हो गया कि भावावेशो का शिकार वह व्यक्ति, जिसे कि वह पहले पूर्णतया केवल उसके हृदय की ताडना के ही वशीभूत समझता था, बुद्धि के क्षेत्र मे भी उससे कही अधिक बढकर अधिकार प्राप्त किये हुए है। बाद मे उसने रामकृष्ण के सम्बन्ध मे कहा था —

"बाहर से देखने मे वे पूर्ण भक्त हैं, परन्तु अन्दर से पूर्ण ज्ञानी हैं : मैं सर्वथा उनके विपरीत हूँ।"

किन्तु इस बात को स्वीकार करने, और स्वेच्छापूर्वक रामकृष्ण के हाथ मे अपनी साभिमान स्वतन्त्रता को सौंपने से पूर्व वह बार-बार रामकृष्ण के निकट जाता था, और फिर वहाँ से भाग आता था। और उन दोनो के बीच एक आवेगमय आकर्षण एव गुप्त सघर्ष का पारस्परिक खेल जारी था। नरेन्द्र के निष्ठुर स्पष्ट भाषण, जिन वस्तुओ मे उसका विश्वास न था, उनके प्रति उसकी सहानुभूति के अभाव, सब प्रकार के ज्ञान के मिथ्या आडम्बरो के प्रति उसकी दुर्दम सग्राम की घोषणा, और दूसरो की सम्मतियो के प्रति उसकी अभिमानपूर्ण

---

१. वे इन वाद-विवादो के सम्बन्ध मे कहा करते थे—"शून्य पात्र मे जल भरते हुए भक-भक आवाज होती है, परन्तु जब पात्र भर जाता है, कोई आवाज सुनाई नही देती। जिस मनुष्य ने भगवान् को नहीं पाया है, वह केवल भगवान् की सत्ता और उसके प्रयोजन को लेकर निरर्थक तर्क करता रहता है। परन्तु जिसने पा लिया है, वह मौन रहकर ही दिव्य आनन्द का भोग करता है।

उदासीनता ने उसे अन्य लोगो की शत्रुता व निन्दा का पात्र बना दिया था। पर वह अपने अभिमान के नशे मे उनकी कोई परवाह न करता था।[1]

परन्तु रामकृष्ण अपने सम्मुख कभी नरेन्द्र की निन्दा न होने देते थे। कारण, उन्हें नरेन्द्र के बारे मे पूर्ण निश्चय था। वह कहते थे कि वह युवक विशुद्धतम स्वर्ण का बना हुआ है, और ससार की कोई मिलावट उसे दूषित नही कर सकती।[2] रामकृष्ण को एकमात्र यही भय था कि ऐसी प्रशसनीय बुद्धि कही पीछे अपने मार्ग से भ्रष्ट न हो जाए, और वह अपने अन्दर सघर्ष करनेवाली अनेक शक्तियो को ऐक्य साधन के शुभ कार्य मे न लगाकर किसी नये सम्प्रदाय व नये दल के निर्माण मे उनका दुरुपयोग न करने लगे। उनके हृदय मे नरेन्द्र के प्रति प्रगाढ स्नेह था, परन्तु जब नरेन्द्र दीर्घकाल तक उनसे

---

१ शारदानन्द ने, जो कि बाद मे विवेकानन्द के अन्यतम मित्र व एकान्त अनुगत अनुचर बन गए थे, और जिन्होंने रामकृष्ण के साथ उनके सम्बन्धो के बारे मे सबसे श्रेष्ठ व विश्वसनीय विवरण दिया है, स्वीकार किया है कि जब पहले-पहल उन दोनो के एक मित्र के घर पर विवेकानन्द के साथ उसका प्रथम साक्षात्कार हुआ, उस समय उनके मन मे भी उसके प्रति कोई सद्भावना विद्यमान न थी। नरेन्द्र सज-धजकर, बढिया पोशाक पहने हुए घृणा का भाव लिए हुए अन्दर प्रविष्ट हुआ। वह धीमे-धीमे अस्फुट स्वर मे एक हिन्दी भजन गुन-गुनाता हुआ बैठ गया, और उपस्थित व्यक्तियो को उपेक्षा की दृष्टि से देखता हुआ सिगरेट पीने लगा। परन्तु जब समसामयिक साहित्य की आलोचना का प्रसंग छिडा, तो उसने भी वाद-विवाद मे भाग लिया, और उससे उसकी नैतिक व सौन्दर्य की भावना की महत्ता और रामकृष्ण के प्रति उसका अनुराग प्रकट हो गया। उसने कहा कि रामकृष्ण ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो कि इस जीवन मे अपने आन्तरिक आदर्श को बिना किसी समझौते के अमल मे ला रहे हैं। (शारदानन्द रचित रामकृष्ण की श्रेष्ठ जीवनी 'दिव्य भाव' के अन्तिम खण्ड मे 'विवेकानन्द और रामकृष्ण' शीर्षक परिच्छेद देखिए)।

२. वे नरेन्द्र के आत्मविश्वास को कभी धक्का न पहुँचाते थे, अपितु उसे उत्साहित करते रहते थे। वे अन्य शिष्यो की अपेक्षा उसे विशेष सुयोग व सुविधा प्रदान करते थे। दृष्टान्त के तौर पर, उन्होंने नरेन्द्र को सब प्रकार के अखाद्य पदार्थों के भक्षण की भी अनुमति दे दी थी। कारण, वे कहते थे कि नरेन्द्र जैसे व्यक्ति के लिए यह नितान्त गौण वस्तुएँ हैं।

दूर रहता था तो उनका सस्नेह उद्वेग प्रकाश नरेन्द्र को परेशान व उत्तेजित कर देता था। रामकृष्ण स्वय भी उससे लज्जित होते थे, परन्तु वे वैसा किए बिना रह भी न सकते थे। आम जनसमुदाय के बीच, जव रामकृष्ण उसकी अतिशय प्रशसा करते थे, दृष्टान्त के तौर पर जव वे केशवचन्द्र की सुप्रतिष्ठित ख्याति के मुकाविले मे तव तक कीर्तिहीन तरुण नरेन्द्र की भावी ख्याति की संभावना को उच्च स्थान देते थे, तो उससे नरेन्द्र उनके प्रति क्रुद्ध हो उठता था। वे कलकत्ते की गलियो मे, और यहाँ तक कि साधारण ब्रह्मसमाज के मन्दिर मे भी उसे खोजते फिरते थे। एक दफे वे इसी प्रकार साधारण ब्रह्मसमाज[1] की सभा मे प्रार्थना के समय नरेन्द्र को ढूँढते हुए घुस गए, और उन्हे उस हालत में वहाँ देखकर लोग उनके विरुद्ध नाना प्रकार के कटु व निन्दापूर्ण आलोचना करने लगे। नरेन्द्र को इससे कष्ट भी हुआ, परन्तु साथ ही क्रोध भी हुआ और उसने इस पीछा किए जाने से मुक्ति पाने के लिए रामकृष्ण को कठोर शब्द भी कहे। उसने रामकृष्ण से कहा था कि किसी भी मनुष्य को दूसरे मनुष्य के प्रति इस प्रकार पागल न होना चाहिए, और यदि वे उसे इतना अधिक प्यार करते हैं तो वे अपनी आध्यात्मिक महानता को गँवाकर उसके (नरेन्द्र के) ही स्तर पर आ जाएँगे। सरल व पवित्र रामकृष्ण ने भयपूर्वक नरेन्द्र के कथन को सुना, और लौटकर माँ से सलाह पूछने लगे। परन्तु वे सान्त्वना पाकर फिर लौट आए। और नरेन्द्र से कहा :—

"ओ! अभागे! मैं तेरी वात नही सुन सकता। माँ ने मुझे कहा है कि मैं तुझे इसलिए प्यार करता हूँ, क्योकि मैं तेरे अन्दर भगवान् को देखता हूँ। जिस दिन मैं तेरे अन्दर उसे न देख सकूँगा, उसी दिन मेरे लिए तुझे देखना असह्य हो जाएगा।"

शीघ्र ही उन दोनो की हालत विपरीत हो गई। अब वह समय आ गया जब कि नरेन्द्र की उपस्थिति को रामकृष्ण एकदम निर्लिप्त भाव से देखने लगे। वे इस प्रकार अन्य व्यक्तियो के साथ वातो मे व्यस्त रहने लगे कि मानो उन्होंने नरेन्द्र को देखा ही नही है। कई सप्ताह तक यही क्रम जारी रहा। तथापि नरेन्द्र

---

१ ब्रह्मसमाज का यह वर्ग केशवचन्द्र से अलग हो गया था, और जातीय हिन्दू दृष्टिकोण के साथ किसी प्रकार के समझौते का सर्वथा विरोधी था। यह उल्लेख योग्य है कि नरेन्द्र उन दिनो इस संस्था का सदस्य था। रामकृष्ण ने केशवचन्द्र के ऊपर अपने प्रभाव के कारण अनजाने मे ही इस वर्ग मे अपने अनेक शत्रु पैदा कर लिए थे।

धैर्यपूर्वक चुपचाप आकर फिर-फिर उनके पास बैठ जाता। रामकृष्ण ने उससे पूछा कि जब वे उसके साथ बात नही करते तो वह क्यो आता है। नरेन्द्र ने उत्तर दिया : "मैं आपके शब्द सुनने के लिए यहाँ नही आता। मैं आपसे प्यार करता हूँ—और इसलिए आपको देखने के लिए आता हूँ।"

गुरु की आध्यात्मिक शक्ति ने धीरे-धीरे विद्रोही शिष्य को वश मे कर लिया। नरेन्द्र ने व्यर्थ ही रामकृष्ण के विश्वासो—विशेषत: दो सर्वथा विपरीत विश्वासो—मूर्तिपूजा मे निष्ठा और एक अद्वितीय एकत्व मे विश्वास—का उपहास किया। भगवान् का जादू धीरे-धीरे अपना कार्य कर रहा था।

रामकृष्ण ने उससे पूछा : "यदि तुम मेरी माँ को नही मानते तो यहाँ क्यो आते हो?" नरेन्द्र ने उत्तर दिया : "क्या आने से ही मुझे उसे मानना होगा?"

गुरु ने कहा : "अच्छा! अब से कुछ ही दिन बाद न केवल तुम उसे मान ही लोगे, अपितु उसका नाम मात्र सुनकर रोने लगोगे।"[1]

---

१. अन्धविश्वास और मूर्तिपूजा के घोरतर विरोधी एव मूर्तिभजक नरेन्द्र को काली और उसके पुरोहित के सम्मुख नतजानु होते हुए देखकर ब्रजेन्द्रनाथ शील को जो विस्मयकारी आघात पहुँचा, उसे उन्होंने स्वय स्वीकार किया है। कौतूहल के वशवर्ती होकर स्वय दक्षिणेश्वर जाने से पूर्व तक उन्होंने इसके लिए नरेन्द्र की कठोर शब्दो मे भर्त्सना करनी प्रारम्भ कर दी थी। एक अपराह्न दक्षिणेश्वर मे व्यतीत कर वे वहाँ से नैतिक व दैहिक विस्मय की दिशा मे वापस आये। उनकी समस्त पूर्ववर्ती धारणाएँ डगमगाने लगी। अनजाने मे ही वे उस आबोहवा के वशीभूत हो गए जो कि रामकृष्ण के देह से निकलती प्रतीत होती थी। इस विख्यात युक्तिवादी विद्वान् एव विश्वविद्यालय के उच्चपदस्थ व्यक्ति के ऊपर, जिसने कि अभी तक अपने विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा की थी, जो अपूर्वभावित प्रतिक्रिया दिखाई दी उसका वर्णन नितान्त मनोरञ्जक है—

"मेरे नेत्रो के सम्मुख जो परिवर्तन घटित हो रहा था, मैं निहायत दिलचस्पी के साथ उसे देख रहा था। मेरे जैसे एक घोरतर वेदान्ती, हीगेलियन व क्रान्तिकारी युवक की कालीपूजा व धार्मिक भावावेश के प्रति क्या भावना हो सकती है, यह सहज ही कल्पना की जा सकती है। परन्तु विवेकानन्द जो कि जन्म से ही एक मूर्ति-विध्वसक, स्वतन्त्र विचारक, निर्माण व शासन करने वाली बुद्धि का स्वामी, और आत्माओ को वश मे करने वाला था,

जब रामकृष्ण नरेन्द्र के लिए परमब्रह्म के साथ एकत्वसम्पादक अद्वैत वेदान्त का द्वार खोलना चाहते थे, तब भी वैसा ही हुआ। नरेन्द्र ने उनके इस विचार को धर्म का अपमान व पागलपन कहकर उडा दिया। वह इस विचार की हँसी उडाने का कोई भी अवसर हाथ से न जाने देता था और एक दिन वह और एक अन्य शिष्य इसकी युक्तिशून्यता पर व्यङ्ग करते हुए हो-हो करके हँस रहे थे। वे कह रहे थे :—"यह लोटा भगवान् है।. .यह मक्खियाँ भगवान् हैं। .." पार्श्व-वर्ती कक्ष मे रामकृष्ण ने हँसते हुए लडको की ध्वनि सुनी। वे अर्धचेतन अवस्था मे चुपचाप कमरे के अन्दर आये और नरेन्द्र को स्पर्श किया।[1] स्पर्शमात्र से

वह कैसे इस अद्भुत अतिप्राकृतिक, रहस्यवाद की दलदल मे फँस गया, यह दृश्य एक ऐसी पहेली थी जो उस समय मेरे विशुद्ध तर्क (Pure Reason) के दर्शनशास्त्र के लिए दुर्बोध्य प्रतीत होती थी। . . .

"(रोगनिदान की उत्सुकता के वशवर्ती होकर) अन्त मे मैं विवेकानन्द के गुरु को देखने व उसकी कथा सुनने के लिए दक्षिणेश्वर गया। वहाँ पर मन्दिर के प्रांगणस्थ उद्यान मे निर्जन प्रशान्त वृक्षो की छाया मे ग्रीष्म के सुदीर्घ दिन का अधिकाश समय व्यतीत कर जब घर लौटने लगा, तो भयङ्कर घनघोर वर्षा व आँधी-तूफान के अंधकार के बीच सूर्य अस्त हो रहा था। मैं एक नैतिक व दैहिक भ्रान्ति अनुभव करने लगा। मुझे इस प्रच्छन्न सत्य का भान होने लगा कि आपाततः उच्छृङ्खल व अनियन्त्रित दिखाई देने वाले पदार्थों को भी नियम का शाही बन्धन अपने नियन्त्रण मे बाँधे हुए है, अनुभव-शक्ति अपनी समस्त भूल-भ्रान्तियो के साथ भी तर्क का ही प्रारम्भिक स्तर है। और किसी बाह्य रक्षक शक्ति मे विश्वास आत्मनिर्णय की प्रारम्भिक क्रिया का ही एक अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र है। और विवेकानन्द के परवर्ती जीवन मे इस सत्य का एक महत्त्वपूर्ण समर्थन दिखाई देता है। कारण, विवेकानन्द जिस दृढ निश्चयता की खोज करता था, वह अपने गुरु के आशीर्वाद व शक्ति से उसे प्राप्त करके सार्वभौम मनुष्य और आत्मा की परम व अविच्छेद्य प्रभुता के मत का प्रचार करने के लिए बाहर निकल पडा।" (सन् १९०७ मे 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका मे प्रकाशित ब्रजेन्द्रनाथ शील का लेख। यह लेख 'स्वामी विवेकानन्द की जीवनी' ग्रन्थ के प्रथम भाग मे १७७ पृष्ठ पर उद्धृत है।

१. जो वैज्ञानिकगण मनो-दैहिक समस्याओ का अध्ययन करते हैं, उनके लिए यह ध्यान देने योग्य है कि रामकृष्ण जिन स्पर्शों द्वारा अन्य व्यक्तियो के

फिर एक आध्यात्मिक तूफान उसके ऊपर से गुजर गया। मुहूर्त भर मे नरेन्द्र की आँखो मे हरेक वस्तु परिवर्तित हो गई। उसने विस्मय के साथ देखा कि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नही है। वह लौटकर अपने घर चला गया। परन्तु वह जिस वस्तु को देखता, छूता व खाता था, वह सब कुछ भगवान् ही थी। ..सार्वभौम शक्ति से उन्मत्त होकर उसने सब काम करना छोड दिया। उसके माता-पिता उसकी यह अवस्था देखकर चिन्तातुर हो गए और उसे बीमार ख्याल करने लगे। कुछ दिन तक वह इसी दशा मे रहा। उसके बाद स्वप्न लुप्त हो गया। परन्तु उसकी स्मृति, अद्वैतिक अवस्था के पूर्वास्वाद के रूप मे नरेन्द्र के हृदय मे बनी रही, और उसके बाद उसने फिर कभी उसके अस्तित्व से इनकार नही किया।

उसके बाद वह रहस्यमय तूफानो की एक शृङ्खला मे से गुजरा। वह एक पागल की तरह "शिव। . शिव। ." रटने लगा। रामकृष्ण करुणापूर्ण दृष्टि से उसे लक्ष्य करने लगे :

"हाँ। मैं भी बारह वर्ष तक इसी अवस्था मे रहा हूँ।"

विवेकानन्द की प्रकृति सिंह के सदृश थी, वह एक ही छलाग मे व्यङ्गपूर्ण अस्वीकार से उपलब्धि के क्षेत्र मे पहुँच गया। परन्तु यदि अन्दर से बारूद की सुरङ्ग न बिछाकर केवल बाहर से ही उसके दुर्ग पर आक्रमण किया जाता, तो उसमे कभी ऐसा स्थायी रूपान्तर न आ सकता। वेदना के तात्कालिक तीव्र कशाघात ने उसे आरामदेह सन्देह और बुद्धिवादिता के विलास से, जिनका कि उसे अभिमान था, मुक्त कर दिया और उसे पाप व अस्तित्व की दु.खदायक समस्या के सम्मुख लाकर खडा कर दिया।

सन् १८८४ के प्रारम्भ मे उसके लापरवाह और अमितव्ययी पिता का अकस्मात् हृदय की गति के रुक जाने से देहान्त हो गया और सारे परिवार के सम्मुख विनाश आ खडा हुआ। छः-सात व्यक्तियो के लिए अन्न जुटाने का

अन्दर परिवर्तित अवस्थाओ का तात्कालिक अनुभव उत्पन्न करते थे, वे प्राय. हमेशा (यदि सर्वदा नही) उस समय किए जाते थे जब कि रामकृष्ण अर्धचेतन या पूर्ण अचेतन अवस्था मे होते थे। इसलिए इच्छा द्वारा सपन्न की जानेवाली किसी क्रिया के साथ उसका लेश मात्र भी सादृश्य नहीं है। जिस गह्वर मे उन्होंने स्वय पहले अवतरण किया था, उसमे बलप्रयोगपूर्वक किसी अन्य को भी उतार देने के साथ उसकी बहुत-कुछ तुलना की जा सकती है।

प्रश्न था, इसके अतिरिक्त कर्जख्वाहो की भीड थी। उस दिन से नरेन्द्र को दरिद्रता का स्वाद मिला, नौकरी के लिए निरर्थक खोज और मित्रो की विमुखता का ज्ञान हुआ। उसने अपनी इस विपत्ति का वर्णन कई पृष्ठो मे किया है, जो कि अत्यन्त मार्मिक स्वीकारोक्तियाँ हैं[1] :—

"मैं भूख से मरा जा रहा था। नंगे पैर मैं एक दफ्तर से दूसरे दफ्तर तक दौडता, परन्तु सब तरफ से घृणा के अतिरिक्त और कुछ न मिलता। मैंने मनुष्य की सहानुभूति का अनुभव प्राप्त किया। जीवन की वास्तविकताओ के साथ यह मेरा प्रथम सपर्क था। मैंने देखा कि इस जगह दुर्बल, गरीब एवं परित्यक्तो के लिए कोई स्थान नही है। वे व्यक्ति जो कुछ ही दिन पूर्व मेरी सहायता करने मे गर्व का अनुभव करते थे, उन्होंने सहायता करने की शक्ति के विद्यमान रहने पर भी अपने मुख फेर लिए। यह संसार मुझे शैतान की सृष्टि दिखाई देने लगा। एक दिन जलती हुई दोपहरी मे, जब मैं मुश्किल से अपने पैरो पर खडा हो सकता था, मैं एक स्मारक की छाया मे बैठ गया। वहाँ पर मेरे कई मित्र भी थे, और उनमे से एक मित्र भगवान् की अपार करुणा का गीत गाने लगा। यह गान मुझे अपने सिर पर जानबूझकर किए गए एक यष्टिप्रहार के समान प्रतीत हुआ। अपनी माता और भाइयो की असहाय अवस्था को याद कर मैं चिल्ला उठा : 'यह गाना बन्द करो! जो लोग अमीरो के घर मे पैदा हुए हैं, और जिनके माता-पिता भूख से नही मर रहे हैं, उनके कानो मे यह गान सुधावर्षण कर सकता है। हाँ! एक समय था, जब कि मैं भी इसी प्रकार सोचा करता था। परन्तु अब, जब कि मैं जीवन की निष्ठुरताओं के सम्मुख खडा हुआ हूँ, यह गाना मेरे कानो में एक भयानक उपहास के समान चोट करता है।' मेरे मित्र को इससे चोट पहुँची। उसे मेरी भयानक आपत्ति का ज्ञान न था। अनेक बार जब मैं देखता था कि घर मे खाने को पर्याप्त भोजन नही है, मैं अपनी माँ से यह बहाना करके कि मुझे एक दोस्त ने निमन्त्रित किया है, भूखा रह जाता था। मेरे धनी मित्र मुझे कभी-कभी अपने घरो पर गाने के लिए आमन्त्रित करते थे, परन्तु उनमे से एक ने भी कभी मेरे दुर्भाग्य के बारे मे कोई कौतूहल व चिन्ता प्रकट नही की। पर मैं अपनी इस दुरवस्था को किसी पर प्रकट न करता था..."

इन दिनो नरेन्द्र प्रतिदिन प्रातःकाल ईश्वर से प्रार्थना किया करता था।

---

१. यह विवरण 'श्री श्रीरामकृष्ण लीला प्रसग' ग्रन्थ के ४२८ व तत्परवर्ती पृष्ठ से उद्धृत किया गया है।

एक दिन उसकी माँ ने, जिसकी भक्ति व श्रद्धा अपनी इस महान् विपत्ति के कारण बुरी तरह विचलित हो गई थी, नरेन्द्र को प्रार्थना करते सुना और उसने उससे कहा : "मूर्ख ! चुप रहो ! तुमने बचपन से लेकर आज तक भगवान् का नाम ले लेकर अपना गला फाड लिया है । परन्तु भगवान् ने तेरे लिए क्या किया है ?"

.यह सुनकर नरेन्द्र का दिल भी भगवान् के प्रति क्रोध से भर गया । वह उस की आर्त प्रार्थनाओ को क्यो नही सुनता ? उसने ससार मे इतना कष्ट क्यो दिया है ? और उस समय पडित विद्यासागर के यह कटु शब्द उसे याद आ गए—

"यदि भगवान् इतने मगलमय व करुणामय है तो आज एक-एक ग्रास अन्न के लिए लाखो आदमी क्यो भूखे मर रहे है ?"[1]

एक प्रचण्ड विद्रोह की आग उसके अन्दर भडक उठी । उसने भगवान् के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी ।

उसने अपने विचारो को कभी किसी से छिपाने की चेष्टा नही की । और अब वह साफ तौर पर भगवान् के विरुद्ध प्रचार करने लगा । वह सिद्ध करने लगा कि या तो भगवान् का अस्तित्व ही नही है, अथवा वह पापी है । एक नास्तिक के रूप में सर्वत्र उसकी कुख्याति फैल गई । और जैसी कि श्रद्धालु व्यक्तियो की सब जगह प्रकृति होती है, वे नरेन्द्र के अविश्वास को अकथनीय बुरी भावनाओं के प्रेरित तथा उसके कार्यों को विद्वेषयुक्त कहकर सर्वत्र उसकी

---

१. पडित विद्यासागर (ईश्वरचन्द्र, १८२०-१८९१) एक समाज-सुधारक थे । वे कलकत्ता के सस्कृत कालेज के डायरेक्टर थे । रामकृष्ण के साथ उनका परिचय था । उनकी विद्या की अपेक्षा, उनके मानव-प्रेम के कारण ही लोग श्रद्धा के साथ उनका नाम स्मरण करते हैं । सन् १८६४ मे दुर्भिक्ष मे एक लाख से ऊपर व्यक्ति काल के ग्रास बने थे, जिसे असहाय की तरह देखकर उनका विश्वास ईश्वर से हट गया था, और उन्होंने अपना समस्त जीवन मानव जाति की सेवा मे लगा दिया था । सन् १८९८ मे कश्मीर यात्रा के समय विवेकानन्द ने विद्यासागर के सम्बन्ध मे अत्यन्त श्रद्धा व सम्मान का प्रदर्शन किया था, उनके विरुद्ध उसने कभी एक शब्द भी नही कहा । भगिनी निवेदिता ने स्वामी विवेकानन्द के साथ अपने आलाप के विवरण मे इसका उल्लेख किया है । (स्वामी विवेकानन्द के साथ कुछ यात्राओ के नोट्स, उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता)

निन्दा करने लगे। इस बेईमानी से विवेकानन्द का हृदय और कठोर हो गया, और वह सबके सामने गर्वपूर्वक यह कहने लगा कि इस घृणित ससार मे जो कोई व्यक्ति उसके समान दुर्भाग्य के शिकार हैं, उन्हे जिस किसी उपाय से भी वे प्राप्त कर सके, मुहूर्त भर के लिए आनन्द प्राप्त करने का अधिकार है। और वह यह भी कहने लगा कि यदि वह स्वय किसी उपाय को आनन्दप्राप्ति के लिए उपयोगी समझेगा तो वह किसी के भय से उसे ग्रहण करने से कभी न चूकेगा। रामकृष्ण के कुछ शिष्य, जिन्होंने उसके इन विचारो पर धर्म के भय से आपत्ति प्रकट की, उन्हे उसने उत्तर दिया कि केवल कायर पुरुष ही भय के कारण, ईश्वर मे विश्वास करते हैं। यह कहकर उसने उन्हे विदा कर दिया। उसी समय उसके मन मे यह सोचकर पीडा होने लगी कि शायद रामकृष्ण भी उसे दोषी समझे। परन्तु उसके गर्व ने पुन विद्रोह किया "इसकी क्या परवाह है। यदि किसी मनुष्य की ख्याति इतनी कमजोर बुनियाद पर प्रतिष्ठित है, तो मुझे उसकी चिन्ता नही। मैं उसे लात मारता हूँ।"

दक्षिणेश्वर आश्रम मे रामकृष्ण को छोडकर सबने उसकी आशा त्याग दी।

किन्तु नरेन्द्र के लिए रामकृष्ण का विश्वास नष्ट नही हुआ।[1] पर वे एक मनोवैज्ञानिक मुहूर्त की प्रतीक्षा मे थे। वे जानते थे कि नरेन्द्र की मुक्ति केवल उन्ही के द्वारा सभव है।

ग्रीष्म ऋतु समाप्त हो गई। नरेन्द्र आजीविका के लिए अपनी कष्टदायक खोज मे लगा रहा। एक दिन सन्ध्या के समय, अनाहार के कारण अवसन्न देह के साथ रोते-रोते वह सडक के किनारे एक घर के सामने बैठ गया। उसके भूलुण्ठित देह मे ज्वरविकार प्रवल हो उठा। अचानक ऐसा प्रतीत होने लगा कि उसकी आत्मा को ढकनेवाले पर्दे फट गए हैं, और एक प्रकाश[2] का उदय हुआ

---

१. परवर्ती समय मे विवेकानन्द ने कहा था, "रामकृष्ण ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनका मुझ पर अटूट विश्वास था। मेरी माता और मेरे भाइयो के दिल मे भी मेरे लिए इतना विश्वास न था। उनके इस अटल विश्वास ने ही मुझे हमेशा के लिए उनसे मिला दिया। केवल वे ही प्रेम के असली अर्थ को समझते थे।"

२ जिस समय जीवनी-शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है और इच्छा-शक्ति के सघर्ष करने के अन्तिम सुरक्षित साधन भी समाप्त हो जाते हैं, उस समय एक यान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा इस दैवीय प्रकाश का उद्घाटन होता है।

है । उसके समस्त अतीत सशय अपने-आप मिट गए । अब वह सचमुच यह कह सकता था . "मैं देखता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं विश्वास करता हूँ, मेरा भ्रम दूर हो गया है ।......"

उसके देह और मन को शान्ति प्राप्त हो गई । उसने घर जाकर सारी रात ध्यान मे व्यतीत कर दी । प्रात.काल के समय उसका मन स्थिर हो गया । उसने निश्चय कर लिया कि अपने पितामह के सदृश वह भी ससार का त्याग कर देगा । कब करेगा, उसकी तिथि भी उसने निश्चित कर ली ।

उसी दिन रामकृष्ण इन सब बातो को बिना जाने ही, अचानक कलकत्ता आ गये और उन्होंने नरेन्द्र से उस रात के लिए अपने साथ दक्षिणेश्वर चलने का आग्रह किया । नरेन्द्र ने भाग निकलने की काफी चेष्टा की, पर सफल न हो सका, और उसे गुरु के साथ चलना पडा । उस रात, नरेन्द्र के साथ एक ही बद कमरे के अन्दर रामकृष्ण भजन गाने लगे, उनके सुन्दर मधुर स्वर को सुनकर नरेन्द्र के आँसू बहने लगे । कारण, नरेन्द्र को मालूम हो गया था कि गुरुदेव ने उसका अभिप्राय समझ लिया है । रामकृष्ण ने उससे कहा :—

"मैं जानता हूँ कि तुम इस ससार मे नही रह सकते । परन्तु, जब तक मैं इस ससार मे हूँ, मेरे लिए तुम भी इसमे रहो ।"

नरेन्द्र घर लौट आया । उसे एक अनुवाद के दफ्तर व एक वकील के कार्यालय मे कुछ काम मिल गया था, परन्तु उसे कोई स्थिर कार्य न मिला था, और इसलिए उसके परिवार का भविष्य एक दिन से अधिक के लिए अनिश्चित था । उसने रामकृष्ण से अपने व अपने परिवार के लिए प्रार्थना करने के लिए कहा । रामकृष्ण ने कहा "वत्स ! मैं यह प्रार्थनाएँ नही कर सकता । तुम अपने-आप वैसा क्यो नही करते ?"

नरेन्द्र माँ के मन्दिर मे गया । वह अपने-आपमें अत्यन्त प्रसन्न व उत्साहित अनुभव करता था । उसके अन्दर प्रेम और विश्वास की धारा बह रही थी । परन्तु जब वह लौटकर आया, और रामकृष्ण ने उससे पूछा कि उसने अपने कष्टों से मुक्ति के लिए प्रार्थना की या नही, तो उसने उत्तर दिया कि वह भूल गया था । रामकृष्ण ने उसे फिर जाने के लिए कहा । वह दुबारा और तिबारा भी जाकर लौट आया । ज्यो ही वह मन्दिर के अन्दर प्रवेश करता था, त्यो ही प्रार्थना करने का लक्ष्य उसकी आँखो के आगे से लुप्त हो जाता था । तीसरी बार उसे निस्सन्देह अपने आने का प्रयोजन स्मरण रहा, परन्तु वह शर्म के मारे कुछ कह न सका । "ये कितने क्षुद्र स्वार्थ हैं ! इनके लिए मैं माँ से प्रार्थना

करूँ ।" इसके स्थान पर उसने प्रार्थना की—"माँ ! मैं जानने और विश्वास करने के अतिरिक्त और कुछ नही चाहता ।"

उस दिन से उसके लिए एक नवजीवन का सूत्रपात्र हो गया। वह जान गया, और उसे विश्वास प्राप्त हो गया । उसके विश्वास का जन्म गेटे के वृद्ध वीणा-वादक[1] के सदृश वेदना के बीच हुआ था, इसलिए वह अश्रुसिक्त रोटी के स्वाद को और अपने उन यत्रणापीडित भाइयो को, जिन्होंने कि उन टुकडो मे हिस्सा बटाया था, कभी न भूल सका । एक गंभीर नाद ने विश्व के सम्मुख उसके विश्वास की घोषणा कर दी :—

"जिस परमात्मा मे मैं विश्वास करता हूँ, वह केवल समस्त आत्माओ की समष्टि है, और सबसे बढकर मैं सब देशो और सब जातियो के पापी भगवान् मे, दरिद्र भगवान् मे और पतित भगवान् में विश्वास करता हूँ । ․․ ․"

गैलीलियन की ही विजय हुई ।[2] बगाल के दयालु ईसा (रामकृष्ण) ने अपने भक्त के दर्प के प्रतिरोध को चूर्ण कर दिया था । भविष्य मे रामकृष्ण को शासन करने के लिए उत्पन्न इस क्षत्रिय सन्तान की अपेक्षा अधिक आज्ञाकारी व अनुगत अन्य कोई सन्तान न मिल सकी । उनका मेल इतना पूर्ण हो गया कि वे एक-दूसरे से सर्वथा अभिन्न प्रतीत होने लगे । इस भावप्रवण उद्वेगशील आत्मा पर, जो कि यह न जानती थी कि थोडा-थोडा देने का क्या अर्थ है, एक नियामक प्रभाव की आवश्यकता थी । रामकृष्ण उसके खतरो को जानते थे । उसकी घोर रवयुक्त तूफानी गति, युक्ति की सारी सीमाओ को एक छलांग मे लाँघ-कर ज्ञान से प्रेम, और ध्यान की पूर्ण उपयोगिता से कर्म की पूर्ण उपयोगिता पर पहुँच गई । वह प्रत्येक वस्तु को एक ही आलिङ्गन मे आबद्ध करने के लिए व्याकुल हो उठी । रामकृष्ण के जीवन के अन्तिम दिनों में हम नरेन्द्र को प्रायः उनसे यह अनुरोध करते हुए देखते है कि वे उसे उस ऊर्ध्वतम अतिचेतन दिव्यप्रकाश तक, उस निर्विकल्प समाधि तक पहुँचा दे जिससे कि पुन. ससार मे नही लौटना पड़ता । परन्तु रामकृष्ण इसके लिए किसी प्रकार भी सहमत न हुए ।

---

१. 'विल्हेम मीस्टर' मे गेटे के सर्वोत्कृष्ट गानो की तरफ निर्देश है । शूबर्ट, ह्यूगो वुल्फ प्रभृति समस्त श्रेष्ठ योरोपियन संगीतज्ञो ने इन गानो को गाया है ।

२. ईसा के विरुद्ध वृथा युद्ध करने के बाद, मृत्यु-शय्या पर सम्राट् जूलियन यह कहकर चिल्लाए थे ।

शिवानन्द ने मुझे बतलाया कि एक दिन कलकत्ता के निकट कोसीपुर के उद्यान मे नरेन्द्र को वास्तव मे उक्त समाधि अवस्था प्राप्त हो गई। उस समय शिवानन्द भी वही मौजूद थे। "उसे अचेतन अवस्था मे पाकर और उसके शरीर को शव की तरह ठडा देखकर हम उद्विग्न होकर गुरु के पास भागे और उनसे सब समाचार कह सुनाया। गुरु ने कोई उत्सुकता न प्रकट की, केवल मन्द-मन्द मुस्कराने लगे, और कहा : 'बहुत अच्छा।' और फिर चुप हो गए। कुछ देर के बाद नरेन्द्र बाह्य चेतना को पाकर गुरु के पास आया। गुरु ने उससे कहा : 'अच्छा। अब तो तुम समझते हो?' यह (उच्चतम उपलब्धि) अब से ताला-चाबी के भीतर रहेगी। तुम्हे माँ का कार्य पूर्ण करना है। कार्य समाप्त हो जाने पर वे खुद ही ताला खोल देगी। नरेन्द्र ने कहा : 'गुरु। मैं समाधि मे अत्यन्त सुखी था। अपने असीम आनन्द मे मैं बाह्य ससार को एकदम भूल गया था। मैं चाहता हूँ कि आप मुझे इसी अवस्था मे रहने दे।' गुरु ने चीत्कार कर कहा . 'कितनी शर्म की बात है! तुम कैसे इन चीजो को चाहते हो? मैं तो सोचता था कि तू एक विराट् पात्र है, जो समस्त जीवन को अपने अन्दर भर कर रखेगा। परन्तु तू साधारण आदमी की तरह वैयक्तिक आनन्द मे मस्त रहना चाहता है?...जा, तू देखेगा कि माँ के आशीर्वाद से तेरे लिए यह उपलब्धि इतनी स्वाभाविक हो जायेगी कि तू अपनी साधारण अवस्था मे भी समस्त जीवो के बीच उसी एक भगवान् को देखेगा। तू संसार मे महान् कार्य करेगा, तू मनुष्यो मे आध्यात्मिक चेतना लाएगा, और दीन व दु खियो के कष्टो को दूर करेगा।"[1]

विवेकानन्द के जीवन का क्या प्रयोजन है, रामकृष्ण ने उसे जान लिया था, और विवेकानन्द की इच्छा न होते हुए भी उन्होंने उसे उसी कार्य मे लगाया था।

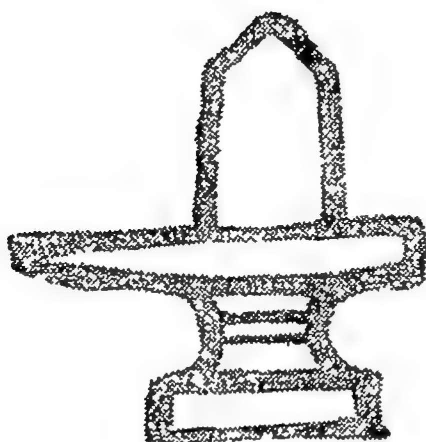
उन्होंने कहा : साधारण आत्माएँ ससार को शिक्षा देने का दायित्व अपने ऊपर लेने से डरती हैं। एक क्षुद्र तिनका अपने-आप तैर सकता है, परन्तु यदि कोई पक्षी उसके ऊपर बैठ जाता है, तो वह तत्काल डूब जाता है। परन्तु नरेन्द्र भिन्न प्रकार की वस्तु है। वह एक महान् वृक्ष के तने के सदृश है, जो गगा के वक्ष पर मनुष्यो और पशुओं को अपने ऊपर लादकर पार ले जाता है।[2] उन्होंने

---

१. ७ दिसम्बर, सन् १९२७ का पत्र।

२. श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, द्वितीय खण्ड, पृ० ४२।

उस महापुरुष (विराट्काय दानव) के माथे पर सेण्ट क्रिस्टोफर[1]—मनुष्यवाहक का चिह्न अंकित हुआ देखा था।



१ सेण्ट क्रिस्टोफर के सम्बन्ध मे प्रचलित एक ईसाई पौराणिक कथा की तरफ निर्देश है। (क्रिस्टोफर का अर्थ है, ईसा को ले जाने वाला, जो कि एक दानव था) वह अपने कन्धों पर मनुष्यो को नदी के पार ले जाया करता था। और एक दिन बालक ईसा उसके पास आया। ('जीन क्रिस्टोफर' उपन्यास का अन्तिम पृष्ठ देखिए)।

११ | सांध्य संगीत

इस प्रकार रामकृष्ण सन् १८८१ से दक्षिणेश्वर मे वास करते थे, जहाँ हर समय शिष्यगण उन्हे घेरे रहते थे। यह शिष्य पिता के समान उन्हे चाहते थे। और सुमधुर कलकल ध्वनि से गगा उन्हे लोरियाँ देती थी। वल खाती हुई और उत्तर की तरफ वहती हुई, नदी मे मध्याह्न के समय ज्वार की लहरे उसके दोनो कूलो को आप्लावित कर देती थी उस नदी का अविछिन्न अविराम सगीत इस सुन्दर साहचर्य की अलक्षित अन्तर्धारा थी। प्रात. और सायकाल के समय देवी-देवताओ की दिनचर्या[1] को लक्ष्य करके जो घण्टे वजते थे, शङ्खध्वनि होती थी, वशी व मृदग की सुरीली तान उठती थी, खडताल वजते थे व मन्दिर

---

१ श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत पुस्तक के प्रत्येक कथा प्रसग मे परिपार्श्व व आबो-हवा का वर्णन है।

प्रभात होने से पूर्व ही मृदु घण्टा-ध्वनि के साथ प्रातः कृत्य की घोषणा होती थी। दीपावली जल उठती थी। नाट्यमन्दिर मे वशी, मृदग व कर-ताल के साथ स्तोत्र पाठ होता था। पूर्व दिशा मे आकाश के रक्तिम होने से पहले ही उद्यान से देवता के अर्घ्य के लिए पत्र-पुष्प चुने जाते थे। जो सब शिष्य रात्रि मे ठाकुर के पास रहते थे, वे उनकी शय्या के समीप बैठ-कर ध्यान करते थे। रामकृष्ण अर्धनग्न अवस्था मे ही उठकर इधर-उधर टहलते हुए मधुर स्वर मे गान गाते थे। और माँ के साथ कितनी ही देर तक प्रेमपूर्वक वाते करते थे। इसके अनन्तर समस्त वाद्ययन्त्र एक साथ वजते थे। शिष्यगण स्नानादि से निवृत्त होकर वरामदे मे खडे हुए रामकृष्ण के समीप आ जाते थे और गगा की तरफ मुँह करके उनमे कथोपकथन प्रारम्भ हो जाता था।

मध्याह्न मे काली, विष्णु और वारह शिव के मन्दिरो मे घण्टा ध्वनि के साथ पूजा की समाप्ति की घोषणा की जाती थी। आकाश ने सूर्य तपने

मे आरती गान होता था, वह सब जाह्नवी के कलरव के साथ मिल जाते थे। वायु के झोंको के साथ पवित्र उद्यान से धूपगन्ध के समान मस्त करने वाली सुगन्ध उडकर आती थी। चन्दोवे व झालरो से सुसज्जित अर्धवृत्ताकार बरामदे के खम्भो के बीच से सनातन (Eternity) की मूर्ति रूप नदी में से गुजरते हुए रग-बिरंगे जहाज तितलियो के झुण्ड के समान दिखाई देते थे।

परन्तु मन्दिर का प्रागण एक विभिन्न प्रकार की मानव-नदी की अविराम लहरो से स्पन्दित रहता था। यह नदी, उन तीर्थयात्री, पुजारी, पण्डित तथा सब तरह के धार्मिक व कौतूहलपूर्ण मनुष्यो की नदी थी, जो कि भारत के विभिन्न भागो से व समीपवर्ती नगरी से उस आश्चर्यजनक मनुष्य को देखने व प्रश्नो द्वारा परेशान करने के लिए आते थे, जो कि अभी तक अपने-आपको अत्यन्त साधारण आदमी समझता था। रामकृष्ण अक्लान्त धैर्य के साथ मधुर ग्राम्य भाषा मे उनके सब प्रश्नो का उत्तर देते थे। उनकी बोली मे एक घनिष्ठ सरल सौन्दर्य था। साथ ही उसमे गम्भीर वास्तविकता के साथ आत्मीयता का भी पूर्ण समावेश था। उनकी दृष्टि के आगे कोई भी दृश्य या कोई भी व्यक्ति अलक्षित नही रह सकता था। वह बालक के समान क्रीडा कर सकते थे, और एक सन्त के समान विचार कर सकते थे। यह सम्पूर्ण हास्यमय, स्नेहमय, अन्तर्भेदी स्वतः स्फूर्ति ही उनकी सम्मोहन शक्ति थी। इसके सम्मुख कोई भी मानवीय वस्तु अपरिचित न रह सकती थी। वास्तव में वह सन्त हमारे पाश्चात्य ईसाई सन्तो से सर्वथा भिन्न थे। उन्होंने दु:ख का सन्धान किया था, दु ख को अपने अन्दर ग्रहण किया था, किन्तु दुःख उनके अन्दर जाकर विलुप्त हो गया था। उनके अन्दर कुछ भी विषादमय, कठोर व विरूप वस्तु पैदा नही हो सकती थी। वे मनुष्यो के एक महान् शुद्धिकर्ता थे। वे मनुष्य की आत्मा को उसके स्वेदसिक्त आवरण से मुक्त करके, उसे नहला-धुलाकर निष्कलक बना देते थे। क्षमा व स्नेहमय मृदु

लगता था। दक्षिण बयार बहने लगती थी, नदी मे ज्वार की लहरे उठने लगती थी। भोजन के बाद गुरु कुछ देर तक विश्राम करते थे। उसके बाद फिर वार्तालाप प्रारम्भ हो जाता था।

रात्रि के समय मन्दिर मे रोशनी करने वाला आकर मन्दिर की बत्तियाँ जला देता था। एक लैम्प रामकृष्ण के कक्ष मे, जहाँ बैठकर वे ध्यान करते थे, वहाँ भी जला दिया जाता था। शख और घण्टो की ध्वनि से सान्ध्य कृत्य की घोषणा होती थी। पूर्ण चन्द्रमा के आलोक मे वार्त्तालाप जारी रहता था।

हास्य के वल से ही उन्होंने गिरीश के सदृश पापी मनुष्य को सन्त वनाया था। दक्षिणेश्वर की गुलाव और रजनीगन्धा की सुवास से आमोदित सुन्दर उद्यान की आवोहवा मे वे अपनी प्रशान्त व अन्तर्भेदी दृष्टि से पाप के लज्जायुक्त रुग्ण विचार को कभी प्रविष्ट न होने देते थे। वे कहते थे ·

"कोई-कोई ईसाई व ब्रह्मसमाजी पापबोध मे ही धर्म का सार देखते हैं। उनके विचार से वही व्यक्ति सवसे वडे धर्मात्मा हैं जो कि इस प्रकार प्रार्थना करते हैं कि "हे प्रभु मैं एक पापी हूँ।[1] मेरे पापो को क्षमा कर दो। " वे यह भूल जाते हैं कि पापवोध आध्यात्मिक उन्नति की प्रथम परन्तु सवसे निचली सीढी है। वे अभ्यास की शक्ति को नही देखते। तुम यदि चिरकाल तक यही कहते रहोगे कि 'मैं पापी हूँ' तो तुम हमेशा के लिए पापी ही बने रहोगे। इसके स्थान पर तुम्हे कहना चाहिए 'मैं वद्ध नही हूँ। मैं वद्ध नही हूँ।' मुझे कौन वांध सकता है ? मैं उस भगवान् का पुत्र हूँ, जो कि राजाओ का महाराजा है। " अपनी इच्छा-शक्ति का उपयोग करो, और तुम स्वतन्त्र हो जाओगे। वह मूर्ख आदमी जो निरन्तर यह कहता है कि 'मैं एक गुलाम हूँ' अन्त मे वास्तव मे ही गुलाम हो जाता है। इसी प्रकार वह अभागा मनुष्य जो वरावर यह कहता रहता है कि 'मैं एक पापी हूँ' वह वास्तव मे ही पापी हो जाता है। परन्तु वह मनुष्य मुक्त है, जो यह कहता है कि "मैं ससार के वन्धन से मुक्त हूँ। मैं स्वतन्त्र हूँ। क्या भगवान् हमारा पिता नही है ?..." वन्धन मन का ही है। परन्तु स्वतन्त्रता भी मन की है. "[2]

---

१ यदि वे सत्रहवी शताब्दी के फ्रैंकोयस दी क्लग्नी (१६३७-१६९४) की रचनाओ को, जिन्हें ऐवे ब्रेमण्ड ने पुनरुज्जीवित किया था—जानते होते तो वे क्या कहते ? फ्रैंकोयस दी क्लग्नी पाप की अवस्था मे ही आनन्दवोध करते थे और पापवोध को पूर्ण रूप से विकसित करना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। उन्होंने पाप की खोज पर तीन पुस्तके लिखी हैं—यद्यपि वे सर्वथा रहस्यपूर्ण व निर्दोष भावना में ही लिखी गई हैं। वे पुस्तके निम्न हैं :—

(१) एक पापी द्वारा पापियो का भक्तिभाव, (२) एक पापी द्वारा पापियो की हस्त-पुस्तक, (३) एक पापी द्वारा पापियो की प्रार्थना के वारे मे। (हेनरी ब्रेमण्ड रचित 'ला मैटाफिजिक्स दी सेण्ट्स') ग्रन्थ से तुलना कीजिए।

२ श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, प्रथम भाग, देखिए प्रथम खण्ड, पृ० २६३, १७८।

वे अपने चारो तरफ आनन्द और मुक्ति की वायु प्रवाहित होने देते थे। जहाँ उष्ण आकाश के भार से दबी हुई विषण्ण आत्माओ की मुरझाई हुई पत्तियो के स्थान पर नई हरी पत्तियाँ उगने लगती थी। वे निराशतम को भी इन शब्दो से आश्वासन देते थे : "भय क्या है ? धैर्य रखो। वर्षा अवश्य होगी और तुम पुन हरे-भरे व तरोताजा हो जाओगे।"

यह मुक्त आत्माओ का आश्रय स्थल था। जो मुक्त थे—या जो मुक्त होंगे—कारण, भारत मे काल की कोई बाधा नही है। रविवार का समागम बहुत कुछ छोटे-मोटे उत्सव व सकीर्तन के रूप मे होता था। अन्य साधारण दिनो मे शिष्यो के साथ उनका वार्तालाप कभी मतवाद सम्बन्धी शिक्षा का रूप न लेता था। मतवाद का वहाँ कोई मूल्य न था। वहाँ मूल्यवान् वस्तु केवल वह अभ्यास व अनुशीलन था, जो कि प्रत्येक अवस्था मे प्रत्येक आत्मा के जीवन की सार-वस्तु को बाहर लाने के उद्देश्य से किया जाता था, जब कि वह आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाए रखते थे। अन्तर्मुखी ध्यान, बुद्धि का स्वतन्त्र प्रयोग, सक्षिप्त भावावेश (Ecstaries), समृद्ध नीतिगल्प, हास्यमय कथाएँ, और यहाँ तक कि तीक्ष्ण परिहासमय दृष्टि से विश्व के प्रहसन का अवलोकन, ये सभी उसके उत्तम साधन थे।

गुरु अपनी छोटी-सी शय्या पर बैठते थे, और शिष्यो के मन की बाते सुनते थे। वे उनकी छोटी मोटी सब चिन्ताओ व घरेलू बातो मे हिस्सा लेते थे, वे निरीह योगानन्द को स्नेहपूर्वक अकुश लगाते थे, दुर्दान्त व चचल विवेकानन्द को काबू मे रखते थे और निरजनानन्द के अन्धविश्वासपूर्ण भूतो का परिहास करते थे। वे घरबार छोडकर आए हुए इन अनाडी अश्वशावको को एक-दूसरे के विरुद्ध दौडाने मे रस लेते थे। और फिर जब उनके बीच उत्तेजित तर्क का झझावात गडबड मचा देता था—तो वे कोई ज्ञान गर्भित मजाकिया चुटकुला छोड देते थे, जिससे उन्हे मार्ग-बोध होता था और वे पुन. अपने गन्तव्य स्थल पर आ जाते थे। जाहिरा तौर पर लगाम का उपयोग न करते हुए भी वे उस कला को जानते थे जिससे कि बहुत तेज चलनेवालो तथा अत्यन्त मन्दगतिवालो को स्वर्णीय मध्यम मार्ग पर लाया जाता है, जिससे सुस्त आत्माओ को चुस्त

रामकृष्ण ने बार-बार यह महामन्त्र उच्चारण किया जिसे कि मैं प्रत्येक विश्वासी के हृदय पर अकित कर देना चाहता हूँ :—"जहाँ लज्जा, घृणा और भय है, वहाँ भगवान् कभी प्रकट नही होते।" (श्री श्रीरामकृष्ण उपदेशावलि, खड १, पृ० ३१६)

वनाया जाता है और अति-उत्साहियो को कावू किया जाता है। रामकृष्ण जिस प्रकार अपने सेण्ट जोन[1] प्रेमानन्द (बावूराम) के मुख पर—जिसे कि वे नित्य-सिद्ध[2] अर्थात् जन्म के पूर्व से ही पूर्ण तथा शुद्ध मानते थे—और जिसे किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता न थी, अपनी स्नेहस्निग्ध दृष्टि रखते थे, उसी प्रकार जव वे अतिकृच्छ्र शुद्धाचारवादियो के सम्मुख आते तो उन पर व्यग कसने से न चूकते थे।

"वाह्याचार की पवित्रता पर अत्यधिक आग्रह भी एक प्रकार की भयानक वीमारी है। इस रोग के मरीज व्यक्तियो को भगवान् व मनुष्य की सेवा के लिए समय नही मिलता।"

वे नवदीक्षितो को राजयोग की निरर्थक व खतरनाक साधनाओ से दूर रखते थे।[3] प्रति पद पर भगवान् को देखने के लिए केवल चक्षु व हृदय को उन्मुख रखने की आवश्यकता है। फिर जीवन और स्वास्थ्य को खतरे मे डालने से क्या फायदा है ?

"अर्जुन श्रीकृष्ण को परब्रह्म के रूप मे देखना चाहते थे। ········कृष्ण ने उनसे कहा : 'अच्छा इधर आओ। देखो मै कैसा लगता हूँ ?' वे उन्हे एक विशेष

---

१ सेण्ट जोन, ईसा का अन्यतम प्रचारक शिष्य व जीवनी रचयिता।
—अनुवादक

२ नरेन्द्र, राखाल और भवनाथ भी इसी श्रेणी के निर्वाचित शिष्य थे। (श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, प्रथम भाग, पृ० २३८ द्रष्टव्य)। यह ध्यान देने योग्य है कि उसकी आत्मगत विशेषताओ के साथ इस निर्वाचन का कोई सम्वन्ध नही है। वावूलाल एक पूर्व निर्दिष्ट ज्ञानी थे, वे भक्त न थे।

३. शारदानन्द रचित ग्रन्थ देखिए. रामकृष्ण ने अपने शिष्यो को कहा :—"ये सव कठिन अभ्यास कठोर कलियुग के लिए नही हैं, जिसमे कि मनुष्य अत्यन्त दुर्वल व अल्पायु होते हैं। उन्हें इतना अधिक खतरा उठाने का समय नही है। और इसकी आवश्यकता भी नही है। इन सव साधनाओ का केवल मात्र लक्ष्य मन को एकाग्र करना है। और जो मनुष्य शुद्ध भक्ति-भाव से ध्यान करते हैं, वे उसे वडी सुगमता से प्राप्त कर लेते है। भगवान् की कृपा से सिद्धि का पथ सहज हो गया है। आवश्यकता केवल इस वात की है कि जो स्नेह हम अपने आस-पास रहने वाले व्यक्तियो पर वर्पण करते हैं, उस स्नेह शक्ति को हम भगवान् की तरफ लगाएँ" (एक सक्षिप्त स्वतन्त्र अनुवाद)।

स्थान पर ले जाकर वोले · 'क्या देखते हो ?' अर्जुन ने कहा : 'एक वडा वृक्ष है जिस पर गोल-गोल फल लगे हुए हैं।' श्रीकृष्ण ने कहा : 'पास आकर देखो, ये फल नही हैं, ये असख्य श्रीकृष्ण हैं।' ·· "[1]

और तीर्थयात्रा का क्या कोई प्रयोजन है ?

"मनुष्यो की पवित्रता से ही स्थानो की पवित्रता होती है, अन्यथा कोई स्थान मनुष्य को किस तरह पवित्र वना सकता है ?"

भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं। वह हमारे अन्दर भी मौजूद हैं। यह विश्व और जीवन उसका ही स्वप्न है।

परन्तु कामारपुकुर का यह क्षुद्रकाय, ग्राम्य, अशिक्षित मनुष्य, जिसमे मार्था और मेरी[2] की दोनो प्रकृतियाँ मिश्रित हुई थी, जव अपनी उँगलियो द्वारा इस सनातन विषय पर नीतिगल्पो[3] की चित्रकारी का निर्माण करता था तो वह इसके साथ ही साथ दैनदनिक पारिवारिक जीवन व अन्य क्षुद्र व्यावहारिक कार्यों के प्रति भी अपने शिष्यो का ध्यान आकर्पित करना न भूलता था। वह आलस्य, अपवित्रता, अव्यवस्था को वरदाश्त न करता था। और इस वारे मे वह उन्च

---

१ श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, द्वितीय भाग, पृ० १६।

२ सेण्ट ल्यूक रचित 'ईसा की जीवनी' के दशम अध्याय मे वर्णित मार्था और मेरी।

३ अनेक सुन्दर दृष्टान्तो मे से यहाँ एक उद्धृत करता हूँ :—

"एक लकडहारा सोते हुए स्वप्न देख रहा था। उसके एक मित्र ने आकर उसे जगा दिया। लकडहारे ने कहा : "ओह ! तुमने मुझे क्यो जगा दिया ? मैं तो एक राजा वन गया था। मेरे सात वच्चे थे, जो सव वीरता और पाण्डित्य मे पूर्ण थे। मैं राजसिंहासन पर वैठकर राज-कार्य करता था। कैसा सुन्दर ससार था ! आह, तुमने मेरा वह सुख-स्वप्न क्यो भग कर दिया ?"

मित्र ने उत्तर दिया : "मैंने क्या वुरा किया है ? यह तो केवल सपना ही था।"

लकडहारे ने कहा · "तुम नही समझते, स्वप्न मे राजा होना भी उतना ही सत्य है जितना कि लकडहारा होना। यदि लकडहारा होना सत्य है तो स्वप्न मे राजा होना भी सत्य है।" (श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, द्वितीय भाग, पृ० २३५)।

मध्यश्रेणी की सन्तानों को भी शिक्षा दे सकता था। वह अपने घर और वगीचे को स्वय साफ करके इसका दृष्टान्त उपस्थित करता था।

उसकी आँखो से कोई वात छिपी न रहती थी। वह कल्पना करता था, देखता था, कार्य करता था, और उसकी प्रसन्न वुद्धि उसके शिशु-सुलभ हास्य को अक्षुण्ण वनाए रखती थी। वह संसारी व मिथ्या-अत्युत्साहियो की नकल कर इस प्रकार अपना मनोरजन करता था :

"ठाकुर ने एक दिन एक कीर्तनी की नकल कर अपने शिष्यो का खूब मनोरजन किया। कीर्तनी अपने दल वल के साथ गोष्ठी मे घुस आई। उसने कीमती पोशक पहनी हुई थी, और एक चमकीले रग का रूमाल उसके हाथ मे था। यदि कोई श्रद्धेय मान्य व्यक्ति आता तो गाना गाते-गाते ही वह उसकी अभ्यर्थना करती, और उससे कहती 'आइए विराजिए।' वीच-वीच मे वह अपनी भुजा पर से साडी को हटा देती, ताकि उसको शोभित करने वाले आभूषण सबको दिखाई दे सकें। ठाकुर की नकल को देखकर शिष्यगण हो-हो करके फूट-फूटकर हँसने लगे। पल्टू तो जमीन पर लोट-पोट हो गया। ठाकुर ने उसकी तरफ मुसकराते हुए कहा : 'तू कैसा लडका है पल्टू ! घर जाकर बाप से यह मत कहना, वरना जो थोडा वहुत वह मेरा आदर करता है, वह भी खत्म हो जावेगा। वह तो एकदम अग्रेज साहव वहादुर हो गया है। "

रामकृष्ण ने और भी कई प्रकार के मनुष्यो के वर्णन किये है :—

रामकृष्ण ने कहा :—"कुछ इस तरह के आदमी हैं कि जो दैनिक पूजा के समय जितना शोरगुल करते है, उतना और किसी समय नही करते। और वोलने से मना करने पर वे इशारो से व वन्द होठो से ही मुँह वनाकर फिस-फिस करते हैं : 'शू ! शू ! मुझे यह दो ! मुझे वह दो चट ! चट ! ' कोई अपनी माला जपता है, परन्तु ऐसा करते हुए वह मछली वेचने वाले को देखता है, और जव माला के मनके उसकी उँगलियो के नीचे फिर रहे होते हैं, मछुआरा उसे मछली दिखलाता है ..। एक स्त्री गगा पर स्नान के लिए गई। उसे उस समय परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए था, परन्तु वह इस तरह गप्पे हाँक रही थी : 'वे तुम्हारे लडके को कौन-कौन सा जेवर देंगे ?···अमुक-अमुक आदमी वीमार हैं अमुक-अमुक आदमी उसकी भावी पत्नी को देखने गए हैं ' और क्या तुम्हरा ख्याल है कि वे काफी दहेज देंगे ?. .हरीश मुझे प्यार करता है, वह एक क्षण भी मेरे विना नही रह सकता। मैं वहुत दिनो से नही आ सकी, अमुक-अमुक की लड़कियो की सगाई हो चुकी है, और मैं वहुत व्यस्त थी।'. ...देखो तो !

वह गगा-स्नान को आई थी, परन्तु उसका उसे कुछ भी ध्यान नहीं है, और इधर-उधर की वातो मे मशगूल है। ..''

इस ममय उनकी दृष्टि एक श्रोता पर पडी और वे एकदम समाधिस्थ हो गए .[1]

जब उन्हे पुन. चैतन्य लाभ हुआ, तो वे पुन. पूर्व आलोचना का छिन्न सूत्र पकडकर आगे उपदेश करने लगे अथवा नीलवर्णा माँ या श्यामवर्ण कृष्ण की स्तुति मे कोई भजन गाने लगे।[2]

''इस विपिन मे वशी वज रही है। मैं वहाँ विना जाये नही रह सकता। मेरे प्यारे श्याम पथ मे खडे मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। ओ। मेरे मित्रो, क्या तुम मेरे साथ न आओगे। . . ओ ! मेरे प्रियतम। ... तुम्हारे लिए श्याम एक काल्पनिक वस्तु है, एक निरर्थक शब्द है.. ..परन्तु मेरे लिए वह मेरा हृदय है, मेरी आत्मा है, मेरा जीवन है। ......''

''ओ। मेरी आत्मा ! अन्तस्तल में निमग्न हो जा। निमग्न हो जा। सौन्दर्य के सागर मे डूब जा। .....जाओ। जाओ ! और समुद्र की गहराई से भी गभीरतर क्षेत्रो की खोज करो। तुम्हे रत्न,—प्रेम रत्न—(ईश्वरीय प्रेम) प्राप्त होगा। तेरे हृदय मे ही प्रेम के भगवान् का वृन्दावन है। जाओ और खोज करो। जाओ और खोज करो। तुम्हे वह अवश्य मिलेगा। तव ज्ञान का दीपक अविच्छिन्न रूप से तुम्हारे हृदय मे प्रदीप्त होगा। वह कौन व्यक्ति है, जो पृथ्वी पर—पृथ्वी पर—स्थूल पृथ्वी पर नाव को चला रहा है ? · ''

''शिव की सगिनी ओ माँ। तू क्रीडा के आनन्द मे मग्न है ! आनन्द की मदिरा से मस्त है। तेरे पैर काँप रहे हैं, परन्तु वे कभी अपना सतुलन नही खोते। तेरा पति परब्रह्म शिव निश्चेष्ट हो तेरे पार्श्व मे पडा है। तू उसे अपने आलिगन मे लेकर अपनी सुध-बुध खो देती है। तेरे पैरो के नीचे यह पृथ्वी डगमग करती है। तेरी आँखो मे, तेरे पति की आँखो मे मस्ती का नशा छाया हुआ है। ··वास्तव मे यह ससार एक आनन्द की वस्तु है। ··ओ। मेरी श्यामा माँ।·· ''

रामकृष्ण के गानो मे भी माँ को पागल वना देने वाली प्रेम सुधा मिश्रित थी।

---

१ श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत, द्वितीय भाग, पृ० २८५—२८६।

२. इन रगो में रामकृष्ण एक प्रतीक का सन्धान पाते थे। माँ का गाढ नील-वर्ण उनके मन मे आकाश की गहराइयो को जाग्रत कर देता था।

विवेकानन्द ने एक दफे कहा था : "उनका एक दृष्टिपात ही समस्त जीवन को वदल सकता था।"

उसने यह वात अपने अनुभव के आधार पर कही थी। इस नरेन्द्र ने एक समय रामकृष्ण के विरुद्ध अपने दार्शनिक सन्देहो को घोरतर विद्रोह के साथ उपस्थित किया था, परन्तु अन्त मे उसने यह अनुभव किया कि रामकृष्ण की अनिर्वाण अग्नि के स्पर्श से वह विगलित हो गया है। और उसने अपनी पराजय स्वीकार की। रामकृष्ण कहते थे कि "किसी जीवित विश्वास को एक स्थूलरूप मे दिया व ग्रहण किया जा सकता है, और इस दान व ग्रहण के समान सत्य वस्तु दुनिया मे और कोई नही है।" विवेकानन्द ने उनकी इस वाणी को सत्य सिद्ध किया था। रामकृष्ण का विश्वास इतना कोमल परन्तु इतना सुदृढ था कि अपने विश्वास के विरुद्ध इन सव नवयुवको का कठिन प्रतिवाद पाकर भी वे केवल मुस्करा देते थे। उन्हे पूर्ण निश्चय था कि उनका यह अविश्वास प्रभातकालीन कोहरे के सदृश मध्याह्नकालीन सूर्य के आविर्भाव के साथ-ही-साथ छिन्न भिन्न हो जाएगा। जव कालीप्रसाद निरन्तर अस्वीकार द्वारा रामकृष्ण पर आक्रमण करने लगा तो उन्होंने कहा :

"वत्स ! तुम भगवान् पर विश्वास करते हो ?"

'नही।"

"क्या तुम धर्म मे विश्वास करते हो ?"

"नही ! मैं न वेदो मे विश्वास करता हूँ, न शास्त्रो मे। मैं किसी भी आध्यात्मिक वस्तु मे विश्वास नही करता।"

गुरु ने स्नेहपूर्वक उत्तर दिया :

"वत्स ! यदि तुम किसी अन्य गुरु के सम्मुख ऐसा कहते, तो तुम्हारी क्या दशा होती ? परन्तु जाओ शान्त हो ! मैं जानता हूँ कि इस प्रकार की परीक्षा मे से तुमसे पहले और भी गुजरे हैं। नरेन्द्र की ही तरफ देखो ! वह विश्वास करता है। तुम्हारे सन्देह भी अवश्य दूर हो जायँगे। तुम विश्वास करोगे।"

और वही कालीप्रसाद मे अभेदानन्द नाम से उनके उपदेशो का प्रचारक हुआ।

वहुत से विश्वविद्यालय के शिक्षाप्राप्त, सन्देहवादी व अनीश्वरवादी व्यक्ति इस क्षुद्र से मनुष्य के सपर्क मे आकर, जो कि साधारण सी वातो को अपनी ग्राम्य भाषा मे कहता था, व जिसका अन्तर्वर्ती प्रकाश मनुष्य की आत्मा के अन्दर तक घुस जाता था, इसी प्रकार प्रभावित हुए थे। उसके निकट जो दर्शकगण आते थे, उन्हे अपने मुख से कुछ कहने की आवश्यकता न होती थी।

वे कहा करते थे : "नेत्र आत्मा के झरोखे हैं।" वे प्रथम दृष्टि मे ही आँखे देखकर सब कुछ जान लेते थे। जब कभी किसी जनसमुदाय के अन्दर कोई लज्जाशील व्यक्ति अपने आपको उनसे छिपाने की चेष्टा करता था, तो वे सीधे उसके पास जाकर उसके सन्देह, उसकी वेदना और उसके गुप्त घाव पर अँगुली रख देते थे। वे कभी व्याख्यान न देते थे। वहाँ न कोई आत्मा की खोज थी, न उदासी थी। उनका केवल एक शब्द, एक मुस्कान, उनके हाथ का एक स्पर्श ही वर्णनातीत शान्ति व चिरवाछित आनन्द प्रदान कर देता था। ऐसा सुना जाता है कि एक नवयुवक, जिस पर कि उनकी दृष्टि कुछ देर के लिए रुक गई थी, एक वर्ष से भी अधिक समय तक समाधिस्थ अवस्था मे रहा, जिसमे कि वह "प्रभु ! हे प्रभु ! मेरे प्यारे ! मेरे प्यारे प्रभु !" इन शब्दो के अतिरिक्त और कुछ न बोलता था।

रामकृष्ण सभी बातो के लिए क्षमा कर देते थे। कारण, वे अनन्त करुणा मे विश्वास करते थे। जब कोई ऐसे व्यक्ति, जिनके भाग्य मे इस जीवन मे ईश्वर की प्राप्ति नही लिखी होती, उनसे ईश्वर प्राप्ति के लिए सहायता माँगते थे, तो वे कम-से-कम उन्हे उस दिव्यानन्द का पूर्वास्वाद अवश्य दे देते थे।

उनके निकट कोई शब्द केवल शब्द मात्र न था, वह एक कार्य, एक वास्तविकता थी।

वे कहते :—

"भाई को प्रेम करने की बात मत कहो ! उसे अनुभव करो मतवाद व धर्म को लेकर वाद-विवाद मत करो। सब धर्म एक ही हैं। सारी नदियाँ समुद्र की तरफ जाती हैं। तुम भी उसी तरफ बहो, और दूसरे को भी बहने दो ! प्रत्येक महाप्रवाह भूमि के ढाल के अनुसार—जाति, समय और स्वभाव के अनुसार—अपने पृथक् मार्ग का निर्माण कर लेता है। परन्तु सारे प्रवाह ही जलप्रवाह हैं। ' बढे चलो समुद्र की तरफ बहे चलो।

रामकृष्ण की आनन्दमय प्रवाहधारा, सब आत्माओ के लिए सुलभ थी। वही शक्ति थी, वही ढलान था, वही जलधारा थी, और अन्य नदी-नाले उस महानदी की तरफ खिचे चले आते थे। वह स्वय जाह्नवी रूप थे।

१२ | नदी का समुद्र में पुनः प्रवेश

रामकृष्ण क्रमशः समुद्र के निकट पहुँच रहे थे अन्त समीप आ रहा था। उनका दुर्बल देह प्राय: प्रतिदिन समाधि की अग्नि मे दग्ध होता जा रहा था, और क्षुधित जनता के प्रति निरन्तर आत्मदान द्वारा क्षीण हो चुका था। कभी-कभी वे विरक्त होकर क्रोधी बालक के समान माँ से इस प्रकार दिन-रात उनका भक्षण करनेवाले जनसमुदाय की शिकायत करने लगते थे। अपनी विनोदमयी शैली मे वे माँ से कहते थे[1] :

"माँ, तुम इन सब मनुष्यो को यहाँ क्यो लाती हो ? यह तो अपने से पाँच गुना पानी मिले हुए दूध के समान हैं। मेरी आखे इनका पानी सुखाने के लिए आग मे फूंक मारते-मारते नष्ट हो गई हैं। मेरा स्वास्थ्य खत्म हो गया है। यह मेरी ताकत से बाहर है। यदि तुम यह करना चाहती हो, तो अपने-आप करो। (अपने शरीर की ओर निर्देश करते हुए) यह तो फूटा ढोल है, यदि तुम इसे दिन-रात बजाए जाओगी तो यह कितने दिन ठहर सकता है ?"[2]

तथापि उन्होंने किसी व्यक्ति को निराश नही किया। वे कहते थे—

"यदि किसी एक व्यक्ति की सहायता के लिए मुझे बार-बार जन्म धारण करना पडे, और चाहे वह कुत्ते की योनि मे ही क्यो न हो, तो भी मुझे पुन. पुन. जन्म लेने दो।"

और पुन. "मैं केवल एक व्यक्ति की सहाता के लिए भी ऐसे बीसो हजार शरीर त्याग कर सकता हूँ। एक व्यक्ति की मदद कर सकना भी कितना गौरवास्पद है।"[3] वे अपनी समाधियो के लिए भी प्राय: अपना तिरस्कार किया

---

१ मुझे यह पूर्ण निश्चय है कि पिकार्डी के निवासी, आदि मध्ययुग के कुछ श्रेष्ठ धर्मविश्वासी भी कभी-कभी अवश्य ऐसा ही कहते होंगे।

२ श्री श्रीरामकृष्ण लीला प्रसग, पृ० ६६४।

३. विवेकानन्द रचित : 'My Master' ग्रन्थ।

करते थे, क्योकि उनमे वह कीमती समय, जो दूसरो के उपयोग मे आ सकता था, नष्ट होता था ·

"माँ ! मुझे इस इस आनन्द के उपभोग से मुक्त कर दो । मुझे अपनी स्वाभाविक स्थिति मे रहने दो, ताकि मैं जगत् के लिए और अधिक उपयोगी हो सकूँ ।"

अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे, जब उनके शिष्य, उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हे भक्तो की भीड से बचाने का प्रयत्न करते थे, तब वे कहते थे—

"आज कोई मेरी सहायता नही लेता, यह क्या कम कष्ट है ?"[1] उनके घनिष्ठ मित्र, ब्रह्मसमाज के विख्यात नेता केशवचन्द्र सेन का देहावसान उनसे पूर्व हो चुका था। सन् १८८४ मे उनकी मृत्यु हुई थी । उनकी मृत्यु से कुछ समय पूर्व आर्द्र नेत्रो से रामकृष्ण ने कहा था : "माली गुलाब के पौधे को उखाडकर दूसरी जगह लगा रहा है । क्योकि उससे सुन्दर-सुन्दर फूलो की बहार पैदा होगी ।"

पुनः उन्होंने कहा : "मेरा अर्धांश मर चुका है ।"

परन्तु उनका अपर अर्धांश, यदि वह कथन सुसगत हो, दीन-दु·खी जनसाधारण थे । पण्डितो के लिए जितने सहज प्राप्य थे, जनसाधारण के लिए भी वह यदि उनसे अधिक नही, तो उतने ही सुलभ थे। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे वे इन दीन-दु खी धर्मानुरक्त जनसाधारण को अपने प्रिय शिष्यो के समान ही प्यार करते थे। गोपाल की माँ भी इनमे से एक थी, जिसकी सीधी-सादी कहानी फ्रासीस्कन पौराणिक कथाओ मे स्थान पाने के योग्य है :

"साठ वर्ष की वृद्धा, बालविधवा गोपाल की माँ ने अपना जीवन ईश्वर के चरणो मे अर्पण कर दिया था । निरन्तर तीस वर्ष तक अतृप्त मातृत्व की क्षुधा के फलस्वरूप उसने बालक कृष्ण, गोपाल को अपने पोष्यपुत्र के रूप मे स्वीकार कर लिया था । और अन्त मे हालत यहाँ तक पहुँची कि वह उसके पीछे एकदम पागल हो गई । परन्तु रामकृष्ण के साथ गोपाल की माँ के प्रथम साक्षात्कार मे ही रामकृष्ण की भगवत्पूर्ण दृष्टि के निक्षेप-मात्र से कृष्ण गोपाल बालरूप मे पैदा हो गए । ठाकुर की स्नेहमय करुणा ने जो कि अपने आश्रय मे आने वालो की गुप्त इच्छाओ व कष्टो को उनकी अपनी ही इच्छा व कष्ट बना देती थी, सन्तानहीन माता के अतृप्त स्वप्न को मूर्तरूप देकर उसकी गोद को बाल-भगवान् से भर दिया। उसके बाद से बालक गोपाल ने भी अपनी माता को

---

१. धनगोपाल मुखोपाध्याय रचित ग्रन्थ ।

कभी नही छोडा। तब से गोपाल की माँ ने प्रार्थना करना छोड दिया, उसे प्रार्थना की आवश्यकता ही न रही, कारण वह निरन्तर भगवान् के अविच्छिन्न सान्निध्य मे ही रहने लगी। उसने अपनी माला नदी मे फेंक दी, और दिन-रात बालक के साथ बातो मे मग्न रहने लगी। दो मास तक यही अवस्था रही, उसके बाद धीरे-धीरे उसमे शिथिलता आने लगी। अब उसे केवल ध्यान के समय ही बालगोपाल के दर्शन होने लगे। परन्तु वृद्धा माता का हृदय आनन्द से परिपूर्ण था और रामकृष्ण स्नेहपूर्वक उसकी इस अवस्था को लक्ष्य करते थे। लेकिन उनकी विनोदप्रियता ने एक दिन वृद्धा माता से अपनी कथा नरेन्द्र को कहने के लिए आग्रह किया। नरेन्द्र अभिमानी, व अपनी तर्कमय विचारबुद्धि पर गर्व करने वाला व्यक्ति था, वह ऐसे दिव्यदर्शनो को मूर्खतापूर्ण व अस्वस्थ दृष्टिभ्रम कहकर उनका उपहास किया करता था। वृद्धा, शान्तभाव से पुत्र के साथ अपने वार्तालाप को रोककर और नरेन्द्र को ही निर्णायक मानकर उसे सम्बोधन कर कहने लगी—

"बेटा! मैं एक मूर्ख स्त्री हूँ। मैं कुछ भी ठीक तरह नही समझ सकती, तुम एक शिक्षित व्यक्ति हो! तुम्ही बताओ कि क्या यह ठीक है?"

नरेन्द्र अत्यन्त प्रभावित हुआ और कहने लगा:

"हाँ! माता! यह बिल्कुल ठीक है।"

सन् १८८४ मे रामकृष्ण का स्वास्थ्य एकदम भयानक रूप से खराब हो गया। समाधि की अवस्था मे उनका बाँया हाथ टूट गया और उसकी यन्त्रणा असह्य हो उठी। उनके अन्दर एक महान् परिवर्तन हो गया। उन्होंने अपने दुर्बल देह और भ्रमणशील आत्मा को दो भागो मे विभक्त कर दिया। उन्होंने 'मैं' कहना छोड दिया। उनके लिए 'मेरा' व 'मुझे' का कोई अस्तित्व नही रहा। वह अपने आपको 'यह' कहकर सम्बोधन करने लगे। रुग्ण अवस्था मे रामकृष्ण पहले की अपेक्षा बहुत अधिक तीव्ररूप मे "लीला" क्रीडा ' भगवान् जो मनुष्यो के अन्दर अपनी क्रीडा कर रहा है।" यह देखने लगे। '"उन्होंने अपनी वास्तविक सत्ता को दृढतापूर्वक पकड किया और मौन आश्चर्य मे निमग्न हो गए, उनके आनन्द का पारावार न था, मानो उन्हे अचानक ही किसी आशातीत प्रियजन के दर्शन हो गए थे।' 'जब शिव ने अपने असली स्वरूप को देखा तो वह चिल्लाकर कहने लगा 'मेरा यही रूप है! मेरा यही रूप है!' और आनन्द मे विभोर होकर नाचने लगा।"

अगले वर्ष अप्रैल[1] के महीने मे उनका गला सूज गया। निरन्तर वोलना तथा भयानक समाधियो का अतिश्रम जिनसे कि गले की तरफ रक्त का प्रवाह तीव्र हो गया था, यह भी निश्चितरूप से उसके कारण थे।[2] डाक्टरो ने उन्हें समाधि व वोलने से मना किया, परन्तु उन्होंने उनकी सलाह पर कोई ध्यान नही

---

१ वहुत समवत· जून मे—प्रकाशक

२ परन्तु इसमे इससे भी कुछ अधिक कारण था। कुछ प्रसिद्ध रहस्यवादी ईसाइयो की तरह वे भी दूसरो की वीमारी अपने ऊपर लेकर उन्हे स्वस्थ कर देते थे। एक दिव्य-दर्शन मे रामकृष्ण ने देखा कि उनका सम्पूर्ण शरीर फोडो से—दूसरो के पापो से—मरा हुआ है। "वे दूसरो के कर्मों को अपने ऊपर ले लेते थे।" और उनकी यह अन्तिम व्याधि उसी का परिणाम थी। वह मानवता के पापो के वोझ को अपने ऊपर ढो रहे थे।

अपने शरीर मे दूसरो की व्याधि को ग्रहण करने तथा पवित्रता की एक विशेष मात्रा तक पहुँच जाने पर उन्हे रोगमुक्त करने का विचार भारतवासियो के लिए वहुत प्राचीन है। इस सम्वन्ध में स्वामी अशोकानन्द के पूछने पर उन्होंने मुझे कई धार्मिक पुस्तको से (महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ८४, एव शान्ति पर्व, अध्याय २८१) तथा महात्मा वुद्ध की वाणी से तथा पन्द्रहवी शताब्दी मे श्री चैतन्य के जीवन से इस सम्वन्व मे अनेक उल्लेख योग्य दृष्टान्त दिए हैं। सव आध्यात्मिक साधको मे यह शक्ति नही होती। धर्मशास्त्रो के अनुसार यह शक्ति केवल अवतारो व उनके सेवक चुनी हुई आत्माओ, तक ही सीमित होती है। साधक और साधु-सन्तो के ईश्वरोपलब्धि कर लेने पर भी उन्हे यह शक्ति प्राप्त नही होती, यद्यपि आजकल अन्धविश्वास के वशीभूत होकर जन-साधारण सव साधु-सन्तो मे इस शक्ति की विद्यमानता पर विश्वास करते हैं, और अपनी दैहिक व मानसिक व्याधियो को उनके ऊपर डालकर रोगमुक्त होने की आशा से उनके चरणो मे आते हैं। ईसा के साथ भी ऐसा ही हुआ था। भारतवर्ष मे जन-साधारण का अव भी ऐसा ही विश्वास है। तथा-कथित गुरुवाद इसी का एक स्वाभाविक परिणाम है। जव कोई आध्यात्मिक साधक किसी व्यक्ति को शिष्य रूप मे ग्रहण करता है, तो वह न केवल उसे आध्यात्मिक शिक्षा ही प्रदान करता है, अपितु वह अपने शिष्य के कर्मफल मे जो कुछ भी उसके मार्ग मे वाधक होता हैं—अर्थात् उसके सव पापो को भी, अपने ऊपर ले लेता है। इस प्रकार गुरु को अपने शिष्य के कर्मों का फल भुगतना पडता

दिया। वैष्णवो के एक महोत्सव मे उन्होंने इस प्रकार योगदान किया कि वे चकनाचूर हो गए और फलतः उनकी बीमारी और अधिक बढ गई। यहाँ तक कि उनके लिए भोजन ग्रहण करना भी असभव हो गया, तथापि उन्होंने आगन्तुक अतिथियो के साथ साक्षात्कार वन्द नही किया और उनके साथ दिन-रात उसी तरह वार्तालाप करते रहे। एक दिन उनके गले से रक्त का बहुत मात्रा मे स्राव हुआ। डाक्टरो ने देखकर कैन्सर वतलाया। उनके प्रमुख शिष्यो ने उनसे कलकत्ता के प्रसिद्ध डाक्टर महेन्द्रपाल सरकार का इलाज कराने के लिए अनुरोध

है, कारण विना भोग के कर्मफल को कोई विनष्ट नही कर सकता, उसे केवल स्थानान्तरित किया जा सकता है। आधुनिक भारतवर्ष के श्रेष्ठतम मनीषियो मे भी दूसरे के द्वारा पाप मुक्ति की यह धारणा कहाँ तक बद्धमूल है, यह दिखाने के लिए अशोकानन्द ने लिखा है : "हमारे लिए यह केवल कल्पना मात्र नही है। हमने इसके प्रत्यक्ष उदाहरण देखे हैं। रामकृष्ण के व्यक्तिगत शिष्यो ने भी गुरु रूप मे अथवा केवल साधारण स्पर्श द्वारा दूसरो के कष्टो को अपने ऊपर लिया है। और इस प्रकार उन्हे जो यन्त्रणा भुगतनी पडी है, उसके बारे मे उन्होंने प्राय. जिक्र किया है।"

उदाहरण के तौर पर, सेण्ट लिड्वाइन, जिन्होंने दूसरो की दैहिक पीडा अपने ऊपर ली थी, और सेण्ट मार्गुराइट-मेरी ने वैतरणी मे वेदना-कातर आत्माओ की यत्रणा अपने ऊपर ली थी। सीना के सेण्ट कैथराइन और मेरी डी वैलीस ने दूसरो को नरक मे पतित होने से वचाने के लिए उनकी नरक यन्त्रणा को अपने ऊपर लेने की प्रार्थना की थी। इसी प्रकार सेण्ट वीन्सैण्ट डी० पाल एक नास्तिक के हृदय मे विश्वास उत्पन्न करने के लिए सात वर्ष तक स्वय धर्मविश्वास से वञ्चित रहे थे।

किसी एजेण्ट द्वारा इस प्रकार के त्याग की भावना, विशुद्ध ईसाई कैथोलिक मतवाद के अनुसार, जो कि मानवता को ईसा का रहस्यमय शरीर मानता है, सर्वथा अनुकूल है। ईसा ने स्वय ही इसका उदाहरण पेश किया है। ऋषि ईसाइया ने पहले ही मसीहा (त्राणकर्ता) के बारे मे भविष्यत् वाणी कर दी थी। (तरेपन, ४५) उसने कहा था—"वह हमारे दुःखो और कष्टो का वहनकर्ता है। . . .वही हमारे अपराधो के लिए आहत हुआ है। . . .हमारे शान्ति नष्ट करने के अपराध का दण्ड उसे अपनी शान्ति का विनाश कर भुगतना पडा है, और उससे कोडो से हम स्वस्थ हुए हैं।" क्रास के वलिदान को कैथोलिक मतवादी हमेशा एक सम्पूर्ण व सार्वभौम प्रायश्चित

किया। सन् १८८५ के सितम्बर मास मे एक छोटा-सा घर किराए पर लिया गया, उनकी धर्मपत्नी ने भी उसके एक कोने मे स्वामी की देखभाल के लिए अपना आसन लगा लिया। रात्रि के समय अन्तरग शिष्य उनकी देखभाल करते थे। उनमे से अधिकतर शिष्यो की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। वे अपनी सम्पत्ति बन्धक रखकर, उधार लेकर व घर की वस्तुएँ गिरवी रखकर ठाकुर की चिकित्सा कराने लगे। इससे उनका पारस्परिक सपर्क घनिष्ठतर हो गया। डाक्टर सरकार बुद्धिवादी थे। वे रामकृष्ण के धार्मिक विचारो से सहमत न थे और इस बात को वे छिपाते न थे। परन्तु अपने रोगी के सम्बन्ध मे उनका परिचय जितना ही अधिक बढता गया, उसके प्रति उनकी श्रद्धा भी उसी अनुपात मे बढती गयी और अन्त मे वे बिना कुछ लिये ही उनकी चिकित्सा करने लगे। वे दिन मे तीन बार रोगी को देखने के लिए आते थे और कई कई घण्टे तक उनके पास बैठे रहते थे।[1] (इस प्रसग मे यह अवश्य कहा जा सकता है कि रोगी के स्वास्थ्य की दृष्टि से शायद यह बेहतर उपाय न था।) डाक्टर सरकार ने रामकृष्ण से कहा :—

"आपकी ऐकान्तिक सत्यनिष्ठा के कारण ही मैं आपसे इतना प्रेम करता हूँ। आप जिस वस्तु को सत्य समझकर विश्वास करते हैं, एक क्षण के लिए भी उससे विच्युत नही होते। . . यह मत समझिए कि मैं आपकी खुशामद कर रहा हूँ, यदि मेरे पिता भी गलत मार्ग पर हो तो मुझे उन्हे वैसा कहने मे कोई सकोच न होगा।"

मानते आए हैं। इस प्रकार प्राचीन भारत व पैगम्बरो व ईसा की जूडिया मे एक ही समान विचारधारा है, जो कि आत्मा की सार्वभौम प्रेरणा से उत्पन्न व मानव प्रकृति की अनन्त गभीरता से सम्बद्ध है। (प्रभु के भोज का अनुष्ठान करते समय ईसा के शब्दो से तुलना कीजिए—"यह मेरा रक्त है .. जो कि अनेको को पाप से मुक्त करने के लिए बहाया गया है। सेण्ट मैथ्यू, छब्बीस, २८।)

१ वह कई समाधियो के समय भी उपस्थित थे, और एक चिकित्सक की दृष्टि से उनका अध्ययन करते थे। इस सम्बन्ध मे डाक्टर सरकार का जो सब 'नोट' लिख गए हैं, वे योरोपीय विज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। समाधि अवस्था मे स्टैथस्कोप द्वारा छाती की परीक्षा व आँखो की परीक्षा से यह जाना गया है कि उस अवस्था मे मृत्यु के सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

परन्तु उनके शिष्य जिस धार्मिक भक्ति-भावना से उनकी पूजा करते थे, उस की डाक्टर सरकार ने स्पष्ट शब्दो मे निन्दा की है :—

"यह कहना कि निराकार भगवान् ने मनुष्य के रूप मे अवतार धारण किया है, समस्त धर्मों का ही विनाश है।"

रामकृष्ण मृदु हास्य के साथ चुप रहे। परन्तु उनके शिष्यो ने इस सब आलोचना मे आग्रहपूर्वक योग दिया, जिससे उनकी पारस्परिक श्रद्धा और अधिक बढ गई और अपने गुरु के प्रति, जो कि शारीरिक यन्त्रणा द्वारा और भी उद्दीप्त होते जा रहे थे, उनका विश्वास पहले से भी दृढतर हो गया। उन्होंने इस बात को समझने की पूरी कोशिश की कि उनके गुरु को ऐसी कठिन परीक्षा मे से क्यो गुजरना पड रहा है, और इस बारे मे उनमे दो विभिन्न दल हो गए। पाप से उद्धार प्राप्त गिरीशचन्द्र के नेतृत्व मे एक श्रद्धालु दल ने घोषणा की कि ठाकुर ने स्वेच्छापूर्वक यह रोग अपने ऊपर लिया है, जिससे कि उनके सन्देश का प्रचार करनेवाले शिष्यो मे घनिष्ठ एकता की स्थापना हो सके। दूसरी तरफ युक्तिवादी दल ने, जिसका नेता नरेन्द्र था, यह अभिमत प्रकट किया कि गुरु का शरीर भी अन्य मनुष्यो के शरीर की भाँति प्रकृति के नियमो के अधीन है। परन्तु दोनो ही दलो के अनुयायी इस मुमूर्ष व्यक्ति के अन्दर एक दिव्य सत्ता की उपस्थिति को स्वीकार करते थे, और वार्षिक कालीपूजा के दिन जब कि रामकृष्ण ने उन्हे बिना किसी प्रकार की पूर्वसूचना दिए समाधि मे सारा दिन व्यतीत किया, तो उन्होंने आश्चर्यपूर्वक इस बात का अनुभव किया कि जगन्माता उनके अन्दर वास कर रही है।[1] इस विश्वास से उनमे जिस आनन्दातिरेक का उदय हुआ,

---

१ इस भगवत्-दीप्त मनुष्य के दर्शन के लिए अब भी मनुष्यो की भीड लगी रहती थी। सन् १८८५ की ३१ अक्तूबर को उत्तरी भारत से प्रभुदयाल मिश्र नामक एक ईसाई उनके दर्शन के लिए आया। रामकृष्ण के साथ उसकी मुलाकात हुई। यह मुलाकात इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि जाहिरा तौर पर विरुद्ध-मतावलम्बी मनुष्यो की स्वीकारोक्तियाँ भी जब इस भारतीय आत्मा के बीच से छनती थी तो किस प्रकार उसकी समन्वय-प्रवण आत्मा उन्हें अपने अनुकूल वातावरण से आच्छन्न कर देती थी। इस भारतीय ईसाई को यह बात समझ मे आ गई थी कि एक ही समय मे ईसा और रामकृष्ण दोनो मे विश्वास करना सभव है। उनके निम्नलिखित पारस्परिक सवाद के समय अन्य व्यक्ति भी उपस्थित थे :

वह खतरे से खाली न था, और विकृत भावप्रवणता की उत्पत्ति ही सबसे मुख्य खतरा थी। वे उच्च हास्य व क्रन्दन एव गान के साथ दिव्य दर्शन व समाधि लाभ करने या उसका दिखावा करने लगे। उस समय नरेन्द्र ने पहली दफे अपनी इच्छा-शक्ति व तर्क के सामर्थ्य का प्रदर्शन किया। उसने घृणा के साथ उनका तिरस्कार करते हुए उन्हे कहा :—"गुरु ने वीरतापूर्ण तपोमय जीवन और ज्ञान प्राप्ति के लिए प्राणपण सघर्ष का मूल्य देकर समाधि-शक्ति को प्राप्त किया है, और तुम्हारे उत्तेजित भावावेश यदि मिथ्या नही, तो रुग्ण कल्पनाओ की वाष्प-राशि के अतिरिक्त और कुछ नही है। रुग्ण व्यक्तियो को अपने स्वास्थ्य के लिए और अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है। उन्हें अधिक मात्रा मे आहार करने और नारीसुलभ हास्यास्पद हिस्टीरिया के से दौरो के विरुद्ध सग्राम करने की जरूरत है। सावधान हो जाओ। जो लोग दिखावटी भावावेश के धर्म को प्रोत्साहन देते हैं, उनमे से अस्सी फीसदी बदमाश और पद्रह फीसदी पागल हो जाते हैं।" उसके शब्दो ने रामबाण औषध का चमत्कार दिखाया। वे लज्जित हुए और उनमे से अधिकाश ने नम्रतापूर्वक यह स्वीकार किया कि उनकी समाधि केवल दिखावटी थी। नरेन्द्र का कार्य यही समाप्त नही हुआ। उसने उन सब नवयुवको को सगठित किया और उन्हे कठोर सयम का जीवन व्यतीत करने के लिए बाधिक किया। कर्मक्षेत्र मे उसने उन्हे किसी एक निश्चित लक्ष्य को लेकर कर्म करने की प्रेरणा की। इस प्रकार इस सिंहशावक ने रामकृष्ण मिशन के भावी सम्राट् के रूप मे अपने-आपको प्रकट करना प्रारम्भ किया, यद्यपि अभी

ईसाई—"समस्त प्राणियो के मध्य भगवान् ही अपनी ज्योति विकीर्ण कर रहे हैं!"

रामकृष्ण—"भगवान् एक है। परन्तु उसे हजारो नामो से पुकारा जाता है।

ईसाई—"ईसा न केवल मेरी का पुत्र है, वह स्वय परमात्मा है। (और फिर उसने शिष्यगण की तरफ मुखातिब होकर रामकृष्ण की तरफ सकेत किया) और यह मनुष्य जिसे कि आप अपने सम्मुख देखते हैं, यह भी बीच-बीच मे भगवान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किन्तु उस भगवान् को आप पहचानते नही हैं।"

मुलाकात के बाद रामकृष्ण ने उससे कहा कि भगवान् को पाने की उस की इच्छा पूर्ण होगी। एव उस ईसाई ने रामकृष्ण के चरणो मे अपने-आप को अर्पण कर दिया।

तक वह स्वय अपनी कठिनाइयो व सग्रामो से मुक्त न हो पाया था। उसके निकट यह दिन निराशापूर्ण सकट के दिन थे, उसे अपनी प्रकृति की परस्पर-विरोधी शक्तियो के बीच अन्तिम चुनाव करना था—इसलिए यह दिन उसके लिए हल चलाने, बीज बोने, व अपनी आत्मा को भावी फसल के लिए तैयार करने के दिन थे।

रामकृष्ण की अवस्था दिन-प्रतिदिन विगडती गई। डाक्टर सरकार ने उन्हे कलकत्ते से गाँव मे ले जाने का परामर्श दिया। सन् १८८५ के दिसम्बर के मध्य मे उन्हें नगर के समीप कोसीपुर के एक सुरम्य उद्यान मे ले जाया गया और अपने मर्त्यजीवन के शेष अन्तिम आठ मास उन्होंने वही पर व्यतीत किए। उनके बारह चुने हुए अन्तरग शिष्य अन्त समय तक उनके साथ रहे।[1] नरेन्द्र उनके समस्त कार्यों व उपासना आदि धार्मिक कृत्यो की देखभाल करता था। उन्होंने गुरु से प्रार्थना की कि वे भी उनके साथ अपने स्वास्थ्य लाभ की प्रार्थना मे सम्मिलित हो जाएँ। इसी समय उनके मत से सहमत एक पण्डित रामकृष्ण के दर्शनो के लिए आये, फलतः रामकृष्ण के शिष्यो ने समय पाकर अपनी प्रार्थना को पुनः दोहराया।

पडित ने रामकृष्ण से कहा :—

"धर्मशास्त्र कहते हैं कि आप जैसे महात्मा अपनी इच्छा-शक्ति से ही अपने-आपको रोगमुक्त कर सकते हैं।"

रामकृष्ण ने उत्तर दिया :

"मैंने अपना मन हमेशा के लिए भगवान् को अर्पण कर दिया है। क्या तुम चाहते हो कि मैं उसे फिर वापस माँगूँ ?"

उनके शिष्यो ने अपने स्वास्थ्य लाभ के लिए इच्छा न करने पर रामकृष्ण का तिरस्कार किया। रामकृष्ण ने कहा :—

"क्या तुम सोचते हो कि मैं जान-बूझकर कष्ट भोग रहा हूँ ? मैं चाहता हूँ कि मैं अच्छा हो जाऊँ, परन्तु यह सब माँ की इच्छा पर निर्भर है।"

"तो उससे प्रार्थना कीजिए।"

"तुम्हारे लिए यह कह देना ही बहुत सहज है। परन्तु मैं तो अपने मुँह से

---

१ नरेन्द्र, राखाल, बाबूराम, निरजन, योगीन, लाटू, तारक, दोनो गोपाल काली, शशि और शरत्। रामकृष्ण कहते थे कि उनकी बीमारी ने उनके शिष्यो को दो दलो ('अन्तरग शिष्य' व 'बहिरग शिष्य') मे विभक्त कर दिया है।

कुछ नही कह सकता ।"

नरेन्द्र ने कहा :—

"परन्तु हमारे लिए ।"

गुरु ने मधुर स्वर मे कहा, "वहुत अच्छा । मैं यत्न करके देखूंगा कि मैं क्या कर सकता हूँ ।"

शिष्यगण उन्हे कुछ घण्टो के लिए अकेला छोडकर चले गए । जव वे वापस आये तो गुरु ने कहा .—

"मैंने माँ से कहा था : 'माँ मैं तकलीफ के कारण कुछ नही खा सकता । ऐसा कर दो कि मैं कुछ खा सकूँ ।' उसने तुम सवकी तरफ निर्देश करके मुझे उत्तर दिया : 'क्यो ! क्या तू इन सव मुखो से नही खा सकता । मैं लज्जित हो गया, और कुछ न कह सका ।"

कुछ दिन वाद उन्होंने कहा [1] : "मेरी शिक्षा प्रायः समाप्त हो चुकी है । लोगो को सिखाने के लायक अव मेरे पास कुछ नही रहा है । कारण, मैं समस्त विश्व मे भगवान् को व्याप्त देखता हूँ : तो मैं किसे शिक्षा दे सकता हूँ ?"

१ जनवरी सन् १८८६ को वे कुछ स्वस्थ प्रतीत हुए और उन्होंने कुछ दूर तक उद्यान मे भ्रमण भी किया । वहाँ उन्होंने अपने शिष्यो को आशीर्वाद दिया ।[2] शिष्यो के ऊपर उनके आशीर्वाद का प्रभाव भिन्न-भिन्न रूप मे प्रकट हुआ । कुछ मे नीरव समाधि के रूप मे एवं अन्यो पर सरस आनन्दोच्छ्‌वास के रूप मे । परन्तु इस विषय मे सव एकमत थे कि इस आशीर्वाद को उन्होंने एक वैद्युतिक धक्के के समान, एक शक्ति के प्रवेश के रूप में ग्रहण किया है, जिससे कि प्रत्येक ने अपने आदर्श को नि सन्दिग्ध रूप मे उपलव्ध कर लिया है । (एक धार्मिक गुरु के रूप मे रामकृष्ण की यह असाधारण विशेषता थी कि वे किसी सुनिर्दिष्ट विश्वास का दान न करते थे, अपितु विश्वास के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान किया करते थे । यदि मैं ऐसा कह सकूं, तो वे एक वृहत् शक्तिशाली आध्यात्मिक डायनमो का कार्य करते थे) । वाग मे ठाकुर के अपने शिष्यो को आशीर्वाद देने पर उन शिष्यो ने आनन्दातिरेक के वशवर्ती हो अन्य व्यक्तियो को भी, जो कि घर के अन्दर कार्य कर रहे थे, उस आशीर्वाद का आनन्दोपभोग करने के

---

१. महेन्द्रनाथ गुप्त के मतानुसार यह घटना २३ दिसम्वर, सन् १८८५ को घटित हुई थी । उन्होंने श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत के द्वितीय भाग, पृ० ३५४ पर यह घटना लिपिवद्ध की है ।

२ प्रत्येक ने यथायोग्य आशीर्वाद प्राप्त किया, ऐसा सुना जाता है ।

लिए वाहर वुला लिया। इस प्रसग मे एक ऐसी घटना घटी जो कि ईसा की जीवन-लीला मे स्थान पाने योग्य है :

ठाकुर की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर विनम्र लाटू और शरत् ब्राह्मण उनके कमरे की सफाई व विस्तरे को ठीक-ठाक कर रहे थे। उन्होंने नीचे से पुकार सुनी और सारे दृश्य को ऊपर से देखा, परन्तु अपने आनन्द के हिस्से को छोडकर अपने स्नेहमय सेवा के कार्य को जारी रखा।

अकेला नरेन्द्र ही असन्तुष्ट रहा। उसके पिता की मृत्यु, सासारिक चिन्ताओ और उसके हृदय की ज्वाला ने उसे खोखला वना दिया था। उसने अन्य सवको परिपूर्णता लाभ करते देखा, और अपने-आपको परित्यक्त-सा अनुभव करने लगा उसकी वेदना को सान्त्वना प्रदान करने लायक कोई आशाजनक किरण दिखाई न देती थी। उसने रामकृष्ण से विनती की कि वे कुछ दिनो के लिए उसे समाविस्थ करके उसके कष्टो का निवारण कर दे। परन्तु गुरु ने कठोरतापूर्वक उसकी भर्त्सना की। (वे जिनसे सर्वापेक्षा कम आशा करते थे, उनके लिए ही सवसे अधिक स्नेहभाव रखते थे) और इन "तुच्छ विचारो" के लिए उसे डाँटा। उन्होंने कहा कि उसे अपने परिवार के पोषण के लिए कुछ प्रवन्ध करना चाहिए, तव उसके कष्ट दूर हो जाएँगे और उसे सव कुछ प्राप्त हो जायगा। नरेन्द्र एक पथभ्रष्ट मेमने के समान रुदन करने लगा, और मलिन व अपरिष्कृत वेश मे इधर-उधर भटकने लगा। वह यन्त्रणाकातर होकर आर्त्तनाद करने लगा। एक अनधिगम्य को प्राप्त करने की तीव्र वासना से उसका देह और मन जलने लगा और उसकी आत्मा को कही शान्ति न मिल सकी। रामकृष्ण दूर से ही उसकी इस उद्भ्रान्त गतिविधि को सस्नेह करुणापूर्वक लक्ष्य करते रहे। वे अच्छी तरह जानते थे कि दिव्य शिकार को वशीभूत करने से पूर्व उसकी गन्ध पाना आवश्यक है। उन्होने अनुभव किया कि नरेन्द्र की अवस्था मे उद्वेगजनक कोई लक्षण नही है, कारण अपने अविश्वास के सम्वन्ध मे कितनी ही शेखी वघारने पर भी वह असीम व अनन्त की प्राप्ति के लिए व्याकुल है। उसने मनुष्यो के वीच देवताओ का वर लाभ किया है—इस वात को रामकृष्ण जानते थे। रामकृष्ण ने अन्य शिष्यो की उपस्थित मे स्नेहपूर्वक नरेन्द्र का मुख चूम लिया। वे उसमे भक्ति के —प्रेम के द्वारा ज्ञान प्राप्ति के—समस्त चिह्नो को प्रत्यक्ष देखते थे। भक्तगण ज्ञानियो के सदृश (आत्मज्ञान द्वारा मुक्ति चाहनेवाले) मुक्ति की कामना नही करते। उन्हें मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए पुनः पुनः जन्म धारण करना पडता है। कारण वे मनुष्य-जाति के प्रेम व सेवा के लिए ही वनाए गए हैं। जव तक वासना का एक कण भी विद्यमान है, उन्हे पुनर्जन्म धारण करना होगा।

जब मनुष्य-जाति के हृदय से वासनाओ का समूल नाश हो जाएगा, तभी वे अत मे मुक्त हो सकेंगे। परन्तु भक्तगण स्वय कभी उसकी इच्छा नही करते। और इसीलिए वह स्नेहमय गुरु जिसके हृदय मे प्राणिमात्र के प्रति स्नेह की धारा बहती थी, और जो उन्हे कभी भूल न सकता था, हमेशा भक्तो के प्रति विशेष आदर-भाव रखता था। और नरेन्द्र उन भक्तो मे सर्वश्रेष्ठ था।[1]

---

१ "ज्ञानी माया का त्याग करता है। माया एक आवरण के सदृश है (जिसे वह दूर फेंक देता है)। देखो, जब मैं दीपक के सामने रूमाल कर देता हूँ तो तुम उसके प्रकाश को नही देख सकते।" तब गुरु ने अपने व शिष्यों के बीच रूमाल की आड करते हुए कहा—"अब तुम मेरा चेहरा नही देख सकते।"

"भक्त माया का त्याग नही करता। वह महामाया की पूजा करता है। वह अपने-आपको उसके चरणो में अर्पण कर देता है और प्रार्थना करता है, 'माँ। मेरे मार्ग से हट जाओ। तुम्हारे मार्ग से हट जाने पर ही ब्रह्म तक पहुँच सकता हूँ।"

"ज्ञानी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनो अवस्थाओ से इनकार करता है। किन्तु भक्त इन सभी अवस्थाओ को स्वीकार करता है।"

इसलिए स्वाभाविक रूप से रामकृष्ण उन्ही मनुष्यो को अधिक पसन्द करते थे, उन्ही से अधिक स्नेह करते थे, जो प्रत्येक वस्तु को यहाँ तक कि माया को भी, स्वीकार करते थे, जो हर चीज मानते व उसमे प्यार करते थे, जो किसी भी वस्तु को अस्वीकार न करते थे। कारण, पाप और माया भी स्वय भगवान् की ही है।

"प्रारम्भ से ही यह कहना ठीक नही है कि 'मैं निराकार ब्रह्म को देखता हूँ।' मनुष्य स्त्री, पशु, पुष्प, वृक्ष आदि प्रत्येक वस्तु—जो भी मैं देखता हूँ—सभी परमात्मा है।"

आवरण के साथ माया की जो तुलना की है, उसे अन्य स्थान पर राम और सीता की सुन्दर शिक्षाप्रद कहानी द्वारा भी प्रकट किया है।

"राम, लक्ष्मण और सीता वन मे भ्रमण कर रहे थे। आगे-आगे राम, बीच में सीता और सबसे पीछे लक्ष्मण थे। सीता दोनो भाइयो के बीच मे थीं, इसलिए लक्ष्मण राम को न देख सकते थे। परन्तु सीता यह जानकर कि राम के अदर्शन से लक्ष्मण को कितनी व्यथा पहुँच रही है,

रामकृष्ण ने इस बात को कभी नही छुपाया कि वे नरेन्द्र को अपना उत्तराधिकारी समझते हैं। उन्होंने एक दिन उससे कहा :—"मैं इन तरुण युवको को तुम्हारे सुपुर्द करता हूँ। तुम इनकी आध्यात्मिकता को उन्नत करने में लग जाओ।"

और उन्हे आश्रम-जीवन के योग्य बनाने के लिए रामकृष्ण ने अपने शिष्यो को जाति का कोई ख्याल न करते हुए सबके द्वार से भिक्षा माँगने का आदेश दिया। मार्च मास के अन्त के लगभग उन्होंने उन्हे सन्यासी का वेश, गेरुवे वस्त्र धारण कराए तथा एक प्रकार की आश्रम-जीवन की दीक्षा दी।

अभिमानी नरेन्द्र ने त्याग का दृष्टान्त पेश किया। परन्तु वह अपने आध्यात्मिक अहकार को बडी कठिनाई के साथ त्याग सका। शैतान यदि उसे समग्र पृथ्वी का साम्राज्य देकर भी (जैसा कि उसने ईसा को देना चाहा था) बदले मे उससे उसकी आत्मा पर अधिकार चाहता, तो वह उसे दूर फेक देता। एक दिन नरेन्द्र ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति की परीक्षा करने के लिए, अपने साथी कालीप्रसाद से कहा कि जब मैं ध्यान-मग्न अवस्था मे हूँ, तब वह उसका स्पर्श करे। काली ने वैसा ही किया और वह भी तत्काल उसी अवस्था को प्राप्त हो गया। रामकृष्ण ने जब यह समाचार सुना, तो नरेन्द्र को तुच्छ से उद्देश्य के लिए अपना बीज जमीन मे फेकने के लिए बुरी तरह फटकारा और विचारो को इस प्रकार दूसरे के अन्दर सक्रमित करने का पूर्णरूप से निषेध किया। आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता के विरुद्ध कोई भी प्रयास एक अभिशाप है। तुम्हे दूसरो की सहायता करनी चाहिये, परन्तु अपने विचारो को दूसरो के ऊपर आरोपित नही करना चाहिये।

कुछ समय के अनन्तर ध्यान करते समय नरेन्द्र ने अनुभव किया कि उसके मस्तिष्क के पश्चाद्वर्ती प्रदेश मे एक ज्योति चमक रही है। अकस्मात् उसकी चेतना लुप्त हो गई और वह परब्रह्म मे लीन हो गया। वह उस भयानक निर्विकल्प समाधि की गहराई मे डूब गया, जिसे कि वह इतने दिन से पाना चाहता था, परन्तु रामकृष्ण ने उसे देने से इनकार कर दिया था। दीर्घकाल के बाद जब उसे पुन: चैतन्यलाभ हुआ, तो उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि उसके कोई देह नही है, वह केवल एक मुखमण्डल मात्र है, और वह चिल्ला उठा, "मेरा

करुणा व स्नेहवश मार्ग मे चलते हुए बीच-बीच मे कभी-कभी रास्ते के एक तरफ हट जाती थी, जिससे कि लक्ष्मण रामचन्द्र को देख सके।"

शरीर कहाँ है ?" उसके साथी अन्य शिष्य डर गए और गुरु के पास भागे गए, परन्तु रामकृष्ण ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया :

"अच्छा है ! उसे कुछ देर तक इसी हालत मे रहने दो ! उसने मुझे बहुत दिनो तक परेशान किया है ।"

जब नरेन्द्र पूर्णरूप से पुन: पृथ्वी पर आ गया, तब वह एक अनिर्वचनीय शान्ति मे स्नान कर चुका था । वह गुरु के समीप गया । रामकृष्ण ने उससे कहा :—

"अब तो माँ ने तुझे सब कुछ दिखा दिया है । परन्तु जो कुछ देखा है, वह ताले के अन्दर बन्द रहेगा, और उसकी चाभी मेरे पास रहेगी । जब तुम माँ का कार्य समाप्त कर लोगे तो तुम्हे यह खजाना फिर मिल जाएगा ।"

और उन्होंने इसके बाद उसे अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिए कुछ दिन तक क्या करना चाहिए, इस बारे मे कुछ आवश्यक परामर्श दिए ।

रामकृष्ण का अन्त समय जितना ही निकट आता जाता था, वह उतने ही निर्लिप्त होते जाते थे और अपने शिष्यो की वेदना के ऊपर अपनी शान्ति के स्वर्ग को बिछा रहे थे । 'कथामृत' जो कि एक प्रकार से उनकी मृत्यु-शय्या के पास ही लिखी गई थी, उसमे रात्रि के समय शिष्यो की भाराक्रान्त निस्तब्धता के बीच, इस प्रवहमान आत्मा की मर्मर-ध्वनि का ही सगीत लिपिबद्ध है, जब कि उद्यान मे चन्द्रमा की चाँदनी मे उष्ण दक्षिण समीर वृक्षो की शाखा-प्रशाखाओ को धीरे-धीरे मर्मरित करता था । उनके मित्र व स्नेही जब उनके वियोग[1] के

---

१ नरेन्द्र की आवेशमय अनुभूतिशील आत्मा के लिए कष्ट के इस नियम के विरुद्ध विद्रोह से विरत रहना सहज कार्य न था । (हीरानन्द के साथ २२ अप्रैल की तिथि मे उनका कथोपकथन देखिए) ।

"इस जगत् की परिकल्पना शैतानी से पूर्ण है । मैं इससे कही बेहतर ससार की रचना कर सकता हूँ । यह विश्वास ही हमारी एकमात्र सान्त्वना है कि मैं ही सब कुछ कर सकता हूँ ।"

हीरानन्द ने विनीत स्वर मे उत्तर दिया :—

"करने की अपेक्षा कहना बहुत सरल है ।" और भक्तिपूर्ण स्वर से पुन. पुनः कहा : "प्रभु तुम्ही सब कुछ हो । मैं नही, तुम्ही हो ।"

किन्तु अभिमानी व जोशीले नरेन्द्र ने तत्काल उत्तर दिया :—

"तुम ही मैं हूँ, और मैं ही तुम हो । मैं के अतिरिक्त और कुछ नही है ।"

विचार मात्र से ही व्याकुल थे और किसी प्रकार सान्त्वना न पाते थे, तब उन्होंने उन्हे अस्फुट स्वर मे कहा :—

"राधा ने कृष्ण को कहा : 'ऐ मेरे प्यारे ! तुम मेरे मन मे ही वास करो, और मनुष्य के रूप मे पुनः मत आओ !' परन्तु थोडी ही देर बाद वह अपने प्रियतम के मानवीय रूप के दर्शन के लिए व्याकुल हो उठी । परन्तु भगवान् की इच्छा पूर्ण होनी थी, और कृष्ण चिरकाल तक मानवीय रूप मे प्रकट न हुए उसके वाद प्रभु आये और मनुष्य के रूप मे अवतरित हुए । और तव वे अपने शिष्यो[1] के साथ दिव्य माँ की गोद मे वापस आ गए ।"

राखाल चीत्कार कर उठा : "तो जव तक हम नही जाते, तव तक आप भी न जावे ।"

रामकृष्ण मुस्कराए और मृदु स्वर मे कहने लगे :—

"वउलो[2] का एक दल अकस्मात् एक घर मे घुस गया । वे भगवान् का नाम ले-लेकर आनन्दविभोर होकर नाचने लगे । और फिर उन्होंने जिस प्रकार अकस्मात् ही घर मे प्रवेश किया था, उसी प्रकार अकस्मात् ही घर छोडकर वाहर चले गए । परन्तु घर के स्वामियो को यह भी पता न लग सका कि वे कौन थे ।"

यह कहकर उन्होंने एक विषादपूर्ण आह भरी ।

"कभी-कभी मैं भगवान् से यह प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे पुनः इस पृथ्वी पर न भेजे ।" परन्तु उन्होंने अपना कथन जारी रखा :—

"वह (भगवान्) उन भक्तो के प्रेम के वशीभूत होकर, जो कि भगवान् को प्यार करते हैं, वार-वार मानवीय शरीर का चोला धारण करते हैं ।"

यह कहकर वे एक अवर्णनीय स्नेह के साथ नरेन्द्र की तरफ ताकने लगे ।

६ अप्रैल को रात्रि के समय गर्मी के कारण पखे को इधर-उधर हिलाते हुए उसकी तरफ देखकर रामकृष्ण कहने लगे :—

रामकृष्ण नीरव हास्य के साथ सारी चर्चा सुन रहे थे । उन्होंने नरेन्द्र की तरफ इशारा करके कहा :—

"यह एक नगी तलवार हाथ मे लेकर ससार मे घूम रहा है ।"

१ हिन्दुओ का विश्वास है कि प्रत्येक अवतार के साथ चुनी हुई आत्माओ का एक दल, शिष्य रूप मे उसके साथ आता है ।

२ भगवत् उन्मत्त हिन्दुओ का एक सम्प्रदाय है, जिन्होंने ससार त्याग कर दिया है ।

"ठीक इसी तरह जैसे कि मैं अपने सम्मुख अपने हाथ मे इस पखे को देख रहा हूँ, उसी प्रकार मैंने परमात्मा को भी देखा है···और मैं देखता हूँ··।" उन्होने बहुत ही क्षीण स्वर मे कहा, और अपना हाथ नरेन्द्र के हाथ पर रखते हुए पूछने लगे : "मैंने क्या कहा है ?"

नरेन्द्र ने कहा, "मुझे कुछ साफ नही सुनाई दिया।"

तब रामकृष्ण ने सकेत से कहा कि वह, (परमात्मा) और उनकी अपनी सत्ता अभिन्न है।"

"हाँ" नरेन्द्र ने कहा, "मैं वह हूँ।"

ठाकुर बोले, "तथापि परमानन्द के उपभोग के लिए—केवल एक रेखा बीच मे दखल दिये हुए है।"

शिष्य ने कहा : "परन्तु महापुरुष अपनी मुक्ति के बाद भी ससार मे रहते हैं। वे मानव-जाति की मुक्ति के लिए अपने 'अहम्' व उसकी यन्त्रणा को कायम रखते हैं।"

कुछ देर तक पूर्ण निस्तब्धता के बाद ठाकुर ने फिर कहा—"घर की छत[1] मनुष्य को दिखलाई देती है, परन्तु उस तक पहुँचना बहुत कठिन है। परन्तु जो उस पर पहुँच जाता है, वह नीचे रस्सा लटकाकर दूसरो को भी अपने पास ऊपर खीच सकता है।"

यह उन दिनो मे से एक दिन था जब कि उन्होंने एक 'परमसत्ता मे ही सबके अस्तित्व की पूर्णतया उपलब्धि की थी, जब कि उन्होंने देखा कि बलिपशु, यूप-काष्ठ व जल्लाद—यह तीनो एक ही वस्तु हैं। और यह देखकर वे दुर्बलकण्ठ

---

१ छत की उपमा रामकृष्ण ने अनेक बार प्रयोग की है :—

"अवतारी पुरुष समाधि मे हमेशा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसके साथ ही वे ऊपर से नर वेश मे धरा पर अवतीर्ण हो सकते है। ताकि वे पिता व माता के रूप से भगवान् को प्यार कर सके। जब वे 'नेति' 'नेति' कहते हैं तो वे सीढी के एक-एक कदम को पीछे छोडते जाते हैं, ताकि वे छत पर पहुँच जाएँ। और फिर छत पर पहुँचकर वे कहते हैं 'इति' (वह यह है)। परन्तु शीघ्र ही उन्हे यह मालूम होता है कि जिस इंट व चूने से छत का निर्माण हुआ है, सीढी के कदम भी उसी के बने हुए हैं। तब वे सीढी के द्वारा कभी ऊपर छत पर व कभी नीचे जमीन पर चढ-उतर सकते हैं। परब्रह्म ही वह छत है, और यह लीलाजगत ही सीढी है। (श्री श्रीराम-कृष्ण कथामृत, प्रथम भाग, पृ० ३२४)।

से चिल्ला उठे : "हे भगवान् यह क्या दृश्य है ?" यह कहकर वे भावाविष्ट होकर मूर्छित हो गये, परन्तु जब उन्हे चैतन्य लाभ हुआ तो फिर कहने लगे, "मैं स्वस्थ हूँ; मैं कभी भी इतना स्वस्थ नही था।"[1]

जो लोग यह जानते हैं कि गले के फोडे की बीमारी (कैंसर) जिससे कि उनकी मृत्यु हुई, कितनी भयानक होती है, वे उनकी उस कभी न मिटनेवाली करुणा व स्नेहार्द्र हँसी को, जो उनके मुख पर हर समय खेलती रहती थी, देखकर आश्चर्यित हो जाते थे। भारतीय भक्तो के इस ईसा के सूली पर चढकर मृत्यु को वरण करने के गौरव से वचित होने पर भी, उसकी यन्त्रणा सूली की यन्त्रणा से कम न थी।[2] तथापि उन्होंने कहा :—"देह ही केवल कष्ट पाता है। जब मन भगवान् के साथ संयुक्त हो जाता है, तो उसे कष्ट का अनुभव नही हो सकता।" और पुन. "देह और उसकी यन्त्रणा को परस्पर एक-दूसरे मे व्यस्त रहने दो। मेरे मन, तुम आनन्द मे मग्न रहो। अब मैं और मेरी दिव्य माँ चिरकाल के लिए एक हो गए है।"[3]

मृत्यु से तीन-चार दिन पूर्व उन्होंने नरेन्द्र को अपने समीप बुलाकर, उसके साथ एकान्त मे रहने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने स्नेहमय दृष्टि से उसकी तरफ देखा और समाधिस्थ हो गए। इसने नरेन्द्र को भी अपने प्रभाव से आच्छन्न कर लिया। जब वह उसके प्रभाव से मुक्त हुआ, उसने रामकृष्ण को अश्रुमोचन करते हुए देखा। गुरु ने उससे कहा—"आज मैंने तुम्हे अपना सब कुछ दे दिया

---

१ शिष्य रामकृष्णानन्द जो कि उनकी सेवा मे थे, उसने कहा है : "उनकी प्रफुल्लता कभी विनष्ट न होती थी। वे हमेशा यही कहते थे कि वे स्वस्थ एव प्रसन्न हैं।" (रामकृष्णानन्द के अप्रकाशित सस्मरणो से)।

२ स्वामी अशोकानन्द ने मुझे लिखा है कि रामकृष्ण की मृत्यु के तत्काल उपरान्त उनका जो फोटोग्राफ लिया गया था, उसकी एक कापी मद्रास के मठ मे है। उस समय ठाकुर का देह रोग के आक्रमण से इतना विकृत व विनष्ट हो गया था कि उसका पुन मुद्रण नही किया गया। वह दृश्य एकदम भयानक व असह्य था।

३. रामकृष्ण के इस तथ्य को स्वीकार करने मे सर्वथा अनिच्छुक होने पर भी, अपनी मृत्यु से दो दिन पूर्व नरेन्द्र को अप्रकट इच्छा के उत्तर मे उन्होंने कहा था —

"वह जो राम था, जो कृष्ण था, वही आज रामकृष्ण के रूप मे इस शरीर मे अवतीर्ण हुआ है।"

है। और अब मैं सर्वस्वहीन एक गरीब फकीर मात्र हूँ। इस शक्ति मे तुम ससार का महान् कल्याण कर सकते हो। और जब तक तुम वह सम्पादन न कर लोगे,

---

परन्तु उन्होंने साथ ही कहा :—

"परन्तु तुम्हारे वेदान्तिक अर्थ मे नही" (अर्थात् परब्रह्म के साथ 'अहम्' का ऐक्य है, इस अर्थ मे नही, अपितु अवतार अर्थ मे)।

मैं अवतारो मे हिन्दुओ के विश्वास के सम्बन्ध मे कोई आलोचना नही करना चाहता। विश्वासो की आलोचना नही की जा सकती। और यह विश्वास भी ईसाइयो के भगवत्-मनुष्य (God-man) के विश्वास के सदृश ही एक विश्वास है। तथापि मैं पाश्चात्य देशीय पाठको के मन से इस भावना को दूर कर देना चाहता हूँ कि रामकृष्ण जैसे उन सीधे-सादे व्यक्तियो मे, जो कि यह विश्वास करते थे कि उनके अन्दर भगवान् का अस्तित्व है, किसी प्रकार के राक्षसी गर्व की भी गन्ध थी। अन्य अवसरो पर जैसे कि एक बार सन् १८८४ मे जब कि उनके एक भक्त ने उनसे कहा था कि : "जब मैं आपको देखता हूँ तो मैं भगवान् को देखता हूँ।" उन्होंने उसकी इस प्रकार भर्त्सना की थी - "कभी ऐसा मत कहो। लहर गगा का एक अश मात्र है, गगा लहर का अश नही है।" (श्री श्रीरामकृष्ण कथा-मृत, द्वितीय भाग, पृ० १८१) "समुद्र के मुकाबिल मे लहरो का तो स्थान है, ब्रह्म के मुकाबिले मे अवतारो का भी वही स्थान है।" (श्री श्रीराम-कृष्णेर उपदेशावल्नि)। रामकृष्ण यह सोचते थे कि उनके अन्दर भगवान का वास है, और भगवान् उनके नश्वर शरीर के आवरण के अन्दर छिपकर क्रीडा कर रहे हैं। "ईश्वरीय अवतार को समझना आसान नही है।—यह असीम व सान्त के ऊपर असीम व अनन्त की क्रीडा मात्र है।" (पूर्वो-ल्लिखित पुस्तक, पृ० ३६६)। अधिकाश मनुष्यो मे, "और तो क्या, साधु सन्तो मे भी" यह दिव्य अतिथि (Divine visitor) फूलो मे मधु के समान "अपने आपको आशिक रूप मे प्रकट करता है। तुम फूल को चूसकर थोडा सा मधु का स्वाद ले सकते हो—परन्तु अवतार में सब मधु ही मधु है।" (पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ, पृ० ३६७)। समस्त वस्तु एक ही हैं, कारण "अवतार सर्वदा एक ही होता है, परन्तु वह कभी यहाँ और कभी वहाँ, भिन्न चेहरो व नामो मे प्रकट होता रहता है, जैसे कृष्ण व ईसा इत्यादि।" (पूर्वोल्लिखित पुस्तक, पृ० ३५७)। ईसा का नाम हमे एक और नैतिक पहलू का स्मरण कराता है, जो कि हमेशा अवतार का एक अश है।

तव तक तुम न लौटोगे ।''[1]

उसी क्षण से उनकी सारी शक्तियाँ नरेन्द्र के अन्दर सक्रान्त हो गईं। गुरु और शिष्य एक हो गए।

१५ अगस्त सन् १८८६ इतवार का दिन।...अन्तिम दिन।

उस दिन अपराह्न समय मे भी उनके अन्दर आश्चर्यजनक शक्ति थी। क्षत-पीडित कण्ठ के होते हुए भी उन्होंने शिष्यो के साथ लगभग दो घण्टे तक वार्तालाप किया[2]। रात्रि के समागम मे उनकी सज्ञा लुप्त हो गई। शिष्यो ने समझा कि वे मर गए हैं, परन्तु अर्धरात्रि के लगभग वे पुनः सचेत हो गए। शिष्य रामकृष्णानद के देह के सहारे रखे पाँच-छः तकियो का सहारा लिये वे अन्तिम क्षण तक नरेन्द्र के साथ आलाप करते रहे और क्षीणस्वर मे उसे अपना अन्तिम उपदेश दिया। इसके अनन्तर उन्होने अस्फुट स्वर मे तीन वार अपनी दिव्य माँ का सर्वप्रिय 'काली' नाम उच्चारण किया और लेट गए अन्तिम समाधि प्रारम्भ हो गई। वे मध्याह्न से आध घण्टा पूर्व तक, जव कि उनका देहावसान हुआ, उसी अवस्था मे रहे।[3] उनके अपने शब्दो मे ''वे एक कमरे से दूसरे कमरे मे

'फूल', 'मधु' और 'आनन्द' इन शब्दो से हमे विभ्रान्त न होना चाहिए। भगवान् जव अवतार लेते हैं, तव हमेशा ही दिव्य वलिदान का तत्त्व विद्यमान रहता है, जैसा कि ईसा के वारे मे था। (पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० ३५८)।

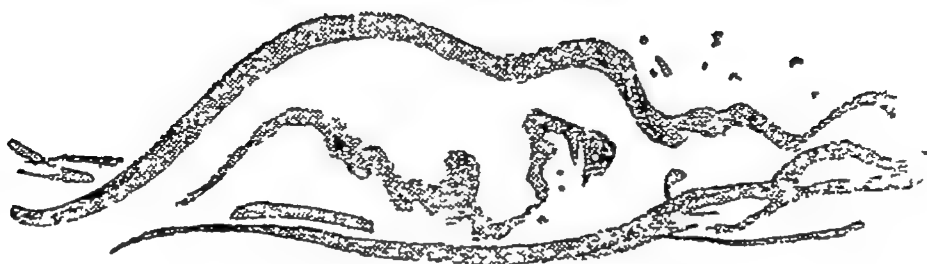
१. ''परम ब्रह्म को'' यह अभिप्रेत है।

२. योग के विषय मे।

३. सरकार की साक्षी के अनुसार। रामकृष्णानन्द के अप्रकाशित सस्मरण देखिए :

''उस अन्तिम रात्रि मे रामकृष्ण अन्त तक हमसे वाते करते रहे।. .वे पाँच-छः तकियो के सहारे वैठे हुए थे, जिन्हे मैंने अपने शरीर से थामा हुआ था और साथ ही मैं उन्हे पखा भी कर रहा था नरेन्द्र उनके पैरो को दवा रहा था, और रामकृष्ण उसे उसके भावी कर्त्तव्यो का उपदेश दे रहे थे। उन्होंने वार-वार कहा : 'इन वालको की हिफाजत रखो।' .इसके वाद वे लेट गए। एक वजे के लगभग वे अचानक एक पार्श्व पर लेट गए और उन के गले से घडघड स्वर होने लगा।...नरेन्द्र ने यह देखकर उनके पैर गद्दे पर रख दिए और फौरन सीढियो से उतरकर नीचे चला गया—वह इस दृश्य को सहन न कर सकता था। एक डाक्टर जो उनकी नब्ज की परीक्षा कर रहा था, उसने देखा कि नाडी गति वन्द हो गई है। .हम

प्रविष्ट हो गए।" और उनके शिष्यो ने चीत्कार किया :—
"जय। ठाकुर की जय।"[1]



सबने यही समझा कि यह केवल समाधि है।" (श्री रामकृष्ण जीवनी, पृ० ५६५,६) "अचानक एक बजकर दो मिनट गुजरने पर गुरु के शरीर मे एक कम्पन हुआ जिससे उनके रोम खडे हो गए। ..गुरु समाधि मे लीन हो गए। यह परम समाधि थी, क्योकि इसके बाद उन्हे सज्ञालाभ नही हुआ। इस प्रकार १६ अगस्त १८८६ को श्री रामकृष्ण इस ससार से विदा हो गए।

१. उस दिन जब उनके शिष्य उनके शव का दाह करने के लिए उसे श्मशान भूमि मे ले जा रहे थे तब वे उच्च स्वर से बोल रहे थे : "जय। भगवन् रामकृष्ण की जय।"

उपसंहार

वे मनुष्य शरीर मे अब नही रहे थे। उनकी आत्मा मानवता के समष्टि जीवन की शिरा-उपशिराओ मे प्रवाहित होने के लिए यात्रा करने के लिए चल पडी थी।

अविलम्ब ही शिष्यगण सघवद्ध हो गए। गुरु को उनके अन्तिम महीनो मे देखने के वाद युवक शिष्यो के लिए पुनः संसार मे जाना असम्भव हो गया। उनके पास आर्थिक साधनो का अभाव था। परन्तु वलराम वोस, जिसे सामयिक रूप से रामकृष्ण के अवशेष सौंपे गए थे, सुरेन्द्रनाथ मित्र, महेन्द्रनाथ गुप्त और नाटककार व अभिनेता गिरीशचन्द्र इन चारो शिष्यो ने अन्य शिष्यो को एक आश्रम निर्माण करने के लिए प्रोत्साहन व सहायता प्रदान की। सुरेन्द्रनाथ मित्र ने गगा के तट पर वारानगर मे एक अर्धभग्न घर को किराये पर लेने के लिए रुपया दिया। यही शिष्यो का प्रथम मठ व आश्रम था। एक दर्जन व उससे कुछ अधिक शिष्यो ने सन्यासियो के नाम ग्रहण कर आश्रम मे प्रवेश किया, जिससे उनके प्रकृत नाम जनसाधारण के निकट अज्ञात रह गए। नरेन को, जो कि विवेकानन्द[1] के नाम से प्रसिद्ध था व हमेशा रहेगा, सर्वसम्मति से उन्होंने अपना नेता चुना। वह उन सवसे अधिक उत्साही, सवसे अधिक शक्तिशाली, और सवसे अधिक वुद्धिमान था—और गुरु ने स्वय उसे इस पद के लिए चुना था। अन्यान्य सकल शिष्य स्मृति और शोक के नशे मे अभिभूत होकर अपने-आपको एकान्त मे ही रखने के लिए प्रलुब्ध हो गए। किन्तु महान् शिष्य विवेकानन्द ने, जो कि इस प्रलोभन के मोह तथा उससे आने वाले खतरे को उनकी अपेक्षा अच्छी तरह जानता था, अपने-आपको उनकी शिक्षा व मार्ग-प्रदर्शन मे लगा दिया। वह इन तपस्वी सन्यासियो के वीच एक आग के तूफान के समान था। उसने उन्हे शोक व समाधि की तन्द्रा से जाग्रत किया, वाह्य जगत् के

---

१ उसने कई वर्ष वाद यह नाम ग्रहण किया था। दूसरे खण्ड मे मैं इस की जन्मकथा का वर्णन करूँगा।

विचारो को सीखने के लिए बाध्य किया; अपनी विराट् बुद्धि की अमृत वर्षा से अप्लावित किया, और ज्ञानवृक्ष की समस्त शाखाओ—तुलनात्मक धर्मशास्त्र, विज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र आदि के फलो का आस्वाद कराया। वह चाहता था कि वे सार्वभौम दृष्टिकोण को ग्रहण करे, इसलिए वह पवित्र अग्निशिखा को एक क्षण के लिए भी विराम न देकर निरन्तर उन्हे लाभप्रद विवाद व आलोचनाओ मे लगाये रखता था।

सन् १८८६ के बडे दिन (क्रिस्मस के दिनो मे) भगवत्-मानवो के जन्म का विधवत् सस्कार हुआ। यह एक बडी रोचक कथा है, कारण, इसमे पाश्चात्यो के ,'वो दिऊ''[1] ओर भारत की वाणी का रात्रि मे एक अपूर्वसम्भावित मिलन है।

वे सब अन्तपुर मे शिष्य बाबूराम की माता के घर पर एकत्रित हुए।

"रात काफी जा चुकी थी। सारे सन्यासीगण अग्नि के चारो तरफ बैठ गए। वे बडी-बडी लकडियाँ लेकर आए थे, जो उन्होंने धूनी मे जला रखी थी। शीघ्र ही एक सुदीप्त अग्निशिखा आकाश की तरफ उठने लगी, जो चारो तरफ दूर तक फैले हुए अन्धकार के विपरीत अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होने लगी। सिरो के ऊपर भारतीय रात्रि का आकाश चन्दोवे के रूप मे दूर तक फैला हुआ था, और दूर-दूर तक चारो तरफ एक अवर्णनीय ग्राम्य शान्ति विराज रही थी। बहुत देर तक सब ध्यान मे मग्न रहे। उसके बाद उनके नेता (विवेकानन्द) ने ईसा[2] की कहानी से उस शान्ति को भग किया। बिल्कुल प्रारम्भ से, जन्म के विस्मयकारक रहस्य से उसने कथा प्रारम्भ की। परित्राता ईसा के आविर्भाव की कथा सुनकर कुमारी मेरी को जो आनन्द प्राप्त हुआ था, सन्यासियो ने भी उसमे हिस्सा लिया। ... ईसा के शैशव के दिनो मे वे उसके साथ रहे। मिस्र मे भी वे ईसा के साथ गये। ईसा के साथ वे यहूदी पण्डितो द्वारा चारो तरफ से घिरे हुए उस मन्दिर मे गये, जहाँ कि ईसा उन पण्डितो के प्रश्नो का उत्तर दे रहा था। इसके बाद जब उसने अपने प्रथम शिष्यो का संग्रह किया, तब भी वे ईसा के साथ ही बने रहे और उन्होंने उसका उसी प्रकार भक्तिपूर्वक सम्मान

---

१ इसका सब्दार्थ है "सुन्दर भगवान्"। फ्रास के जनसाधारण अमीन्स के गोथिक गिर्जे के तोरण पर अवस्थित ईसा की प्रस्तर-मूर्ति को इस नाम से पुकारते हैं।

२. विवेकानन्द ईसा को अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। रामकृष्ण ने भी ईसा को ईश्वर का अवतार माना था।

किया जिस प्रकार कि वे अपने गुरु का करते थे।[1] ईसा और रामकृष्ण के बीच, विचार और कार्यों तथा शिष्यो के साथ उनके सम्बन्ध मे जो अत्यधिक समानता थी, उसने सन्यासी-गण के मन मे रामकृष्ण के साथ दिव्य आनन्द के उन प्राचीन दिनो की स्मृति को जागृत कर दिया। परित्राता ईसा के शब्द उनके कानो को चिरपरिचित प्रतीत होने लगे।"

ईसा के वेदनावहन और क्रौस-विन्धन की कहानी ने उन्हे ध्यान-समुद्र मे मग्न कर दिया। नरेन्द्र की उदात्त भाषा ने उन्हे प्रचारक शिष्यो की उस मडली मे पहुँचा दिया—जहाँ पाल ईसा की जीवन लीला का वर्णन कर रहे थे। पेण्टेकोस्ट उत्सव की अग्निशिखा उनकी आत्माओ को वगाल के एक प्रशान्तल ग्राम्याञ्चल मे उत्तप्त करने लगी, और ईसा और रामकृष्ण, दोनो के मिश्रित नामो की ध्वनि नैश वायु मे स्पन्दित होने लगी।

उसके वाद विवेकानन्द ने सन्यासियो को सम्बोधन करके कहा कि वे भी एक-एक करके ईसा मे परिणत होने की चेष्टा करे, ससार के त्राण के लिए कार्य करे, ईसा के समान सर्वस्व त्याग करे और इस प्रकार भगवान् की प्राप्ति करे। धूनी की वह्निशिखा के सम्मुख खडे होकर प्रत्येक सन्यासी ने भगवान और अपने साथियो को साक्षी करके, हमेशा के लिये सन्यासव्रत ग्रहण करने की शपथ ली। लपलपाती वह्निशिखा से उनके मुखमण्डल उद्दीप्त हो रहे थे। प्रज्वलित काष्ठ-खण्डो से होने वाली चड-चड ध्वनि ही केवलमात्र उनके विचार की शान्ति को वीच वीच मे भग कर देती थी·

शपथ-ग्रहण का यह समस्त अनुष्ठान समाप्त होने पर ही सन्यासियो को यह ध्यान आया कि यह रात्रि ईसा के शुभ जन्म का पूर्वदिन[2] (क्रिस्मस ईव) है। अव तक उन्हे इस वात का कोई ध्यान ही न था।

इस प्रकार भगवान् के एक नव जन्मदिन की घोषणा करके यह सभा उस दिन एक गम्भीर अर्थमय सुन्दर रूपक मे परिणत हो गई।

किन्तु योरोपवासियो को इस कहानी को पढकर विभ्रान्त न होना चाहिए।

---

१ इनमे से शशिभूषण (रामकृष्णानन्द) और शरच्चन्द्र (शारदानन्द) इन दोनो के सम्बन्ध मे रामकृष्ण कहा करते थे कि वे पूर्वजन्म मे ईशा के भक्त थे।

२. स्वामी विवेकानन्द की जीवनी, द्वितीय खण्ड, देखिए।

यह 'जोर्डान'[1] मे प्रत्यावर्तन नही है। अपितु यह जोर्डान और जाह्नवी का शुभ सगम है। यह दोनो महानदियाँ परस्पर सम्मिलित होकर अपने विस्तृततर वक्ष के साथ वही चली जा रही हैं।

प्रारम्भ से ही इस नवीन संघ मे एक अभूतपूर्व विशेषता थी। इस सघ मे न केवल प्राच्य और प्रतीच्य की विश्वास शक्ति मिश्रित थी, न केवल विज्ञान के विश्वकौशिक ज्ञान के साथ धर्ममूलक ध्यान और विचार का सम्मिश्रण था, अपितु इसमे गम्भीर चिन्तन के आदर्श के साथ मानवसेवा का आदर्श भी सम्मिलित था। प्रारम्भ से ही रामकृष्ण के आध्यात्मिक शिष्यो को आश्रम की चहार-दीवारी मे ही वन्द रहने की इजाजत न थी। एक-एक करके वे भिक्षुओ के समान विश्व मे पर्यटन करने के लिए वाहर चले गए। केवल एक रामकृष्णानन्द (शशिभूषण) जिन्हे रामकृष्ण के अवशेषो की रक्षा का दायित्व सौंपा गया था, आश्रम को छोडकर कही बाहर नही गए। वाहर घूमनेवाले सन्यासी वीच-बीच मे विश्राम के लिए आश्रम मे आ जाते थे। गुरु के जीवन के अन्तिम दिनो मे मार्था का सेवा का विनीत आदर्श ग्रहण किया गया था। रुग्ण गुरुदेव की सेवा द्वारा, अथवा जिनकी आत्मा भगवान् मे लिप्त है और जो भगवान् के निकट प्रार्थना करते हैं, उनके शरीर की सेवा द्वारा उन्होंने इसका क्रियात्मक रूप मे अभ्यास किया। यह सेवा ही उनके गुरु का 'भगवत्प्राप्ति' का अपना मार्ग था। और यदि वृद्ध टाल्स्टाय जीवित होते, तो वह भी इसे ही श्रेस्ठतर मार्ग वतलाते।

परन्तु प्रत्येक को अपना-अपना हिस्सा अदा करना था। कारण, प्रत्येक अपने भिन्न स्वभाव के अनुसार अज्ञातरूप मे रामकृष्ण के वहुमुखी व्यक्तित्व के एक-एक रूप या एक-एक अश का प्रतिनिधित्व करता था। जब वे सव एकत्रित हो जाते थे, तो रामकृष्ण को समग्र रूप मे पाया जाता था।

उनके शक्तिशाली प्रवक्ता विवेकानन्द को, उन सवकी तरफ से विश्व मे अपने उस गुरु की वाणी का प्रचार करना था, जिसे वह भारतवर्ष की समस्त, आध्यात्मिक शक्तियो का जीवित समन्वय कहता था.—

"मुझे एक ऐसे महापुरुष के चरणो मे वैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है—जिसका जीवन उसकी समस्त शिक्षाओ व उपदेशो की अपेक्षाकृत हजारो गुणा अधिक उपनिषदो की वाणी की एक उत्कृष्ट जीवित व्याख्या है, जो वास्तव मे

---

१ जोर्डान—हिन्दुओ के निकट गगा के समान ईसाइयो के लिए यह एक अत्यन्त पवित्र नदी है। (अनुवादक)

मानवरूप मे उपनिषदो की एक जीवित आत्मा है ''जो भारत के विभिन्न विचारो का समन्वय है...भारत-भूमि हमेशा विचारको और ऋषियो से समृद्ध रही है. . शकर के पास एक महान् मस्तिष्क था और चैतन्य के पास एक विशाल हृदय था, और अब वह समय आ गया था जब मस्तिष्क और हृदय इन दोनो के एक समन्वित मूर्तरूप की आवश्यकता थी '' ''एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी, जिसके अन्दर एक ही शरीर मे शकर के चमत्कारिक मस्तिष्क और चैतन्य के आश्चर्यजनक रूप से उदार व विशाल हृदय का समावेश हो, जो प्रत्येक सम्प्रदाय मे एक ही आत्मा, एक ही परमात्मा को कार्य करते हुए देखता हो : जो प्रत्येक वस्तु के अन्दर भगवान् को देखता हो, जिसका हृदय इस ससार मे भारतवर्ष व उसके बाहर, सब जगह समस्त दीन दु.खियो, दुर्बलो पददलितो और पीडितो के लिए आर्त्तनाद करता हो, और इसके साथ ही जिसकी विशाल तीव्र बुद्धि परस्पर विरोधी विभिन्न सम्प्रदायो के बीच सगति स्थापित करनेवाले उदार विचारो की कल्पना करती हो ..और उनमे सगति स्थापित करके मस्तिष्क और हृदय के एक सार्वभौम धर्म को जन्म देने वाली हो, ऐसे मनुष्य ने जन्म लिया था। ..समय उसके अनुकूल था, यह आवश्यक था कि ऐसे मनुष्य का जन्म हो, और वह आया था, और सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि उसका कर्मक्षेत्र एक ऐसी नगरी के निकट था, जो पाश्चात्य विचारो से पूर्ण थी, जो नगरी पश्चिमीय विचारो के पीछे पागल हो उठी थी, और जिस नगरी ने भारत के अन्य सब नगरो की अपेक्षा कही अधिक आचार-विचारो को अपनाया था। ऐसे स्थान मे, बिना किसी किताबी विद्या के ज्ञान के वह रहता था, इस महान् मनीषी को अपना नाम तक भी लिखना न आता था, परन्तु हमारे विश्वविद्यालयो के बडे-बडे प्रतिभाशाली स्नातक उसकी बुद्धि की विराट् शक्ति[1] को देखकर दग रह

---

१ वर्तमान भारत के (पुस्तक लिखते समय, सन् १६२८) अन्यतम श्रेष्ठ दार्शनिक और धार्मिक विद्वान् श्री अरविन्द घोष ने रामकृष्ण की प्रतिभा के प्रति एक सुन्दर श्रद्धाजलि अर्पित की है। उसमे रामकृष्ण की बहुमुखी आध्यात्मिक शक्ति, और उस समस्त शक्ति को परिचालित करने मे समर्थ एक असाधारण आत्मा का वर्णन है :—

"हम रामकृष्ण के निकटवर्ती जीवन मे विराट् आध्यात्मिक शक्ति का एक असाधारण दृष्टात देखते हैं। उन्होंने इतनी जल्दी ब्रह्मत्व की प्राप्ति कर ली थी कि मानो बल-प्रयोग द्वारा उन्होंने स्वर्ग के राज्य को छीन लिया था। और उसके बाद उन्होंने एक-एक करके विभिन्न यौगिक क्रियाओ को

जाते थे .वह अपने समय का महान् ऋषि था, जिसकी शिक्षाएँ वर्तमान समय के लिए सबसे अधिक लाभदायक हैं।...यदि मैं आपको एक भी सत्य बात कहता हूँ तो वह उसकी, और केवल उसकी है। और यदि मैंने आपसे कोई भ्रान्तिपूर्ण या गलत बाते कही हैं. . ..तो वे सब मेरी अपनी हैं, उनका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है।"[1]

इस प्रकार आधुनिक भारत के महान् धार्मिक नेताओ मे सर्वापेक्षा बुद्धिमान्, सर्वापेक्षा शक्तिशाली, और सर्वापेक्षा अभिमानी नेता ने अपने-आपको इस सरल साधारण मनुष्य के चरणो मे नत किया था। वह बंगाल के इस मसीहा का प्रचारदूत सेण्ट पाल था। वही उसके आश्रम और उसके सिद्धान्त का सस्थापक था। उसने समस्त ससार का पर्यटन किया था। वह एक ऐसी जलप्रणाली

अविश्वसनीय शीघ्रता के साथ वश करके उनमे से सारवस्तु को ग्रहण कर लिया था। अन्त॰ उत्पन्न आध्यात्मिका के विभिन्न अनुभवो मे विस्तार द्वारा और अन्त. अनुभूतिजन्य ज्ञान की स्वाभाविक क्रीडा द्वारा वे हमेशा प्रेम के द्वारा भगवत् उपलब्धि व प्राप्ति के सारभूत परिणाम पर ही पहुँचते थे। ऐसा दृष्टात व्यापक रूप मे नही मिल सकता। इसका उद्देश्य भी विशेष व सामयिक था। दीर्घकाल से परस्पर सघर्षरत सम्प्रदायो व दलो मे विभक्त ससार को ऐसे परम सत्य की आवश्यकता थी, जिसे पाने के लिए मानव समाज प्राणपण से चेष्टा कर रहा था। 'समस्त सम्प्रदाय एक ही पूर्ण सत्य के अश व अग हैं और समस्त साधनाओ का लक्ष्य अपने-अपने भिन्न पथ द्वारा उसी एक परम अनुभव को प्राप्त करना है' यही वह परम सत्य है। इस सत्य को किसी एक महात्मा के निर्णायक महान् अनुभव द्वारा दृष्टात रूप मे उपस्थित करने की आवश्यकता थी। ब्रह्म को जानना, तद्रूप होना व उसे धारण करना ही एक आवश्यक वस्तु है, अन्य सब वस्तुएँ इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं।" अन्य समस्त आवश्यक नाम व रूप आदि जिन्हे ईश्वरीय इच्छा हमारे लिए चुनती हैं, इसी मे समाविष्ट हो जाते हैं। ("योग समन्वय" आर्य, पाण्डिचेरी, न० ५, दिसम्बर १९१४)। रामकृष्ण के व्यक्तित्व व जीवन के वास्तविक महत्त्व को भारतवर्ष के एक आधुनिक अध्यात्मवेत्ता गुरु ने इस प्रकार अनुभव किया है।

१ कलकत्ता और मद्रास मे व्याख्यान : "वेदान्त के विभिन्न स्तर और भारत के ऋपिगण"

थी, जिसके द्वारा योरोपीय विचारधारा भारत मे और भारतीय विचारधारा योरोप व अमेरिका मे आती-जाती थी और इस प्रकार वैज्ञानिक तर्क के साथ वैदान्तिक विश्वास को एव भूतकाल के साथ भविष्य को मिलाती थी।

